जड़ी बूटियां और मानव
रामेश बेदी

प्रस्तुत पुस्तक भारत सरकार की 'प्रकाशकों के सहयोग से हिन्दी में लोकप्रिय पुस्तकों के प्रकाशन की योजना' के अन्तर्गत प्रकाशित की गई है। इसके प्रथम संस्करण की 3000 प्रतियों में से भारत सरकार ने 1000 प्रतियां खरीदी हैं। इसके लेखक रामेश बेदी हैं।

© लेखक

मूल्य : अड़तीस रुपये / प्रथम संस्करण : 1985 / आवरण : सुभाष मदान / प्रकाशक : जगतराम एण्ड सन्ज़, IX/221, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली-31 / मुद्रक : चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क, शाहदरा, दिल्ली-32

JARRI BOOTIYAN AUR MANAV (Hindi)
by Ramesh Bedi
Price : 38.00

प्रस्तावना

हिंदी में ज्ञान-विज्ञान का विविध साहित्य उपलब्ध करने के लिए केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय पुस्तक-प्रकाशन की अनेक योजनाओं पर कार्य कर रहा है। इनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से हिंदी में लोकप्रिय पुस्तकों के प्रकाशन की है। सन् 1961 से कार्यान्वित की जा रही इस योजना का मुख्य उद्देश्य जनसाधारण में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार करना और साथ ही हिंदीतर भाषाओं के भी साहित्य की लोकप्रिय पुस्तकों को हिंदी में सुलभ करना है ताकि ज्ञान-विज्ञान की जानकारी पाठकों को सुबोध शैली में मिल सके। इसके अंतर्गत प्रकाशित होने वाली पुस्तकों को अधिक से अधिक पाठकों तक पहुंचाने के विचार से इनका मूल्य कम रखा जाता है। इस योजना के अधीन प्रकाशित पुस्तकों में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत सरकार द्वारा निर्मित शब्दावली का प्रयोग किया जाता है ताकि हिंदी के विकास में ऐसी पुस्तकें उपयोगी सिद्ध हों। इन पुस्तकों में विचार लेखक के अपने होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'जड़ी-बूटियां और मानव' के लेखक श्री रामेश वेदी है। इसमें लेखक ने विभिन्न जड़ी-बूटियां की उत्पत्ति, उपयोगिता, गुण, प्राप्ति स्थान आदि के बारे में विस्तार से वर्णन किया है। जड़ी-बूटियां प्राचीन काल से ही चिकित्सा में औषधि के रूप में काम लाई जाती रही है। पुस्तक की भाषा सरल है और विषय के अनुकूल है।

आशा है हिंदी-जगत में पुस्तक का समुचित स्वागत होगा।

हमारे देश की सामुदायिक वानिकी योजनाएं तभी सफल हो सकती हैं जब देश की जल संग्रह क्षमता का संरक्षण किया जाय। उद्योग तथा विकास कार्यों के दौरान प्रकृति की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था मे खलल नही होने देना चाहिए और वनों के रूप में फैले हुए जल संग्राहक क्षेत्रों पर इसके असर का गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस शताब्दी के शुरू मे कश्मीर की डल झील का क्षेत्रफल पच्चीस वर्ग किलोमीटर था। 1984 मे यह 11.5 वर्ग किलोमीटर से कम रह गया। ऐसा इसलिए हुआ कि आस-पडौस के पहाडो पर से जंगल काट लिये गये। नंगे ढलानों से रेत-पत्थरों के निक्षेप के बहाव मे वृद्धि हो गई। झील के पानी का स्थान पहाड़ों के मलबे ने ले लिया। दूसरा कारण मानवीय निवास के लिए तेजी से नई भूमि प्राप्त करना था। झील के पड़ौस मे व्यापारिक चहल-पहल बढ जाने से ज़मीन के दाम आसमान को छूने लगे। नई आबादियां बसाने के लिए ज़मीन के और प्लोट हासिल करने की भूख अनधिकृत कब्जा करने वालों को झील के उथले किनारों को मलबे द्वारा पाटने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। वनो, वन्य जीवों और सम्पूर्ण पर्यावरण के संरक्षकों की चेतावनियों को अनसुना कर दिया गया तो पचास बरस के भीतर ताज़े पानी की यह खूबसूरत झील कन्क्रीट का जंगल बन जायगी।

वृक्षों और वनो को निर्दयतापूर्वक नष्ट करने के परिणामस्वरूप भूमिगत जल का स्तर और अधिक नीचे जा रहा है। महाराष्ट्र मे देखा गया है कि पच्चीस साल पहले सिंचाई के लिए जो कुएं साढे सात मीटर गहरे खोदे जाते थे वे अब साढ़े बाईस मीटर गहरे खोदने पड़ते है। इसी अवधि मे, ट्यूबवेल लगाने के लिए जहां तीस मीटर गहरा बोर करना पड़ता था अब नब्बे मीटर करना पड़ता है।

ईंधन का सब से सस्ता साधन लकड़ी माना जाता है। देहात मे रहने वाला सामान्य उपभोक्ता साल भर मे एक टन लकड़ी जला देता है जिसे जंगल को काटकर लाया जाता है। वनीकरण की योजनाओं में हमे ईंधन के रूप मे इस्तेमाल होनेवाले पेड़ लगाने को भी उच्च प्राथमिकता देनी होगी। देश की बेकार पड़ी भूमि के आधे हिस्से मे भी, जो लगभग नौ करोड़ हेक्टेयर है, ईंधन देने वाले पेड़ लगाने की व्यवस्था की जाय तो इन से प्रति हेक्टेयर मे दस घन मीटर वार्षिक उत्पादन हो सकता है जिसका मूल्य लगभग बीस हजार करोड़ रुपये होगा। भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे वृक्षारोपण तथा वनीकरण का विशेष महत्त्व है। इस की उपेक्षा करके जंगलों को अन्धाधुन्ध काटते रहने से अपार क्षति हो रही है। इसे बचाने के लिए ध्यान दिया जाय तो अनुमान है कि कम-से-कम दस हज़ार खरब रुपये की राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षा की जा सकती है और करोड़ों लोगों के लिए रोजगार जुटाया जा सकता है।

मानव जाति की प्रगति और चहुंमुखी विकास के साथ पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या जुड़ी हुई है; इसलिए इसे रोकना तो सम्भव नहीं है पर नियन्त्रित करना सम्भव

है जिससे मनुष्य के इस धरती पर रहने में कठिनाई न हो।

पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के लिए वृक्षों का विशेष महत्त्व है, खासकर शहरी इलाकों में। व्यस्त सड़कों पर यातायात के शोर को पेड़ लगाकर कम किया जा सकता है। शोर कम करने के अन्य तरीकों की अपेक्षा पेड़ लगाना अधिक लाभदायक है और कम खर्चीला है। यह देखा गया है कि एक पंक्ति में रोपे गये पेड़ों की अपेक्षा झुर-मुटों मे लघु-वनों के रूप में घने रोपे गये पेड़ शोर को कम करने मे अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

बड़े शहरों मे वाहनों से उठने वाली धूल और धुआं पर्यावरण को बेहद प्रदूषित कर देते है। घने एवं बड़े पत्तों वाले, और वे पेड़ जिन की खूब शाखाएं फूटती है तथा जो अपने विस्तृत शाखा वितान से बड़ी छतरी बना देते है, पर्यावरण की धूल और धुए को अपने ऊपर रोक लेते है। वे प्रकृति का बड़ा वरदान हैं।

वृक्ष प्रकृति के सब से बढिया प्रदूषण रोधक, प्रदूषण निवारक और जल धारण करने के साधन है। मानव की जल-पिपासा को बुझाने के लिए जंगल सब से सस्ते साधन हैं।

'पचास के दशक से मैं हिमालय मे तथा भारत के अनेक भागों मे जड़ी-बूटियों की तलाश मे घूमता रहा हूं। मैंने अनुभव किया है कि हमारे देहाती भाई और आदिवासी जंगल की जड़ी-बूटियां खूब प्रयोग करते है। फ़ार्मेसी उद्योग में हर साल करोड़ों रुपये की जड़ी-बूटियां खप जाती हैं। जंगलों से बड़े पैमाने पर इन की निकासी हो रही है। निसर्ग मे इनकी बहुत कमी हो गई है। शिवालक के जगलों मे, तराई-भाभर में और हिमालय मे वृक्षों की परिसीमा की ऊंचाई तक फैले गूजर उपयोगी वृक्षों को काटकर बहुत क्षति पहुंचा रहे है। उन की भैसो के भारी-भरकम खुरों के नीचे कोमल जड़ी-बूटिया कुचली जाती है। गढ़वाल-हिमालय के जिन शिखरों पर एक आदमी दिन-भर में जहां पांच किलोग्राम जड़ी खोद लेता था वहां उसे मुश्किल से एक किलोग्राम मिलती है।

अपने देश में जड़ी-बूटियों की भारी खपत है। इन से बनाई करोड़ों रुपये की दवाइयाँ हर साल विदेशों को भेजी जा रही है। फार्मेसी उद्योग की निरन्तर बढती हुई माग को पूरा करने के लिए इनकी खेती करनी होगी।

वनों के सरक्षण और संवर्द्धन की योजनाओं मे आदिवासियों और गांव वालों को भागीदार बनाना जरूरी है। वानिकी संवर्द्धन की योजनाओं में गांवों के आसपास पच्चीस-तीस किलोमीटर के घेरे मे वे वृक्ष, झाड़ियां और घासें लगानी चाहिए जो गांव वालों के पशुओं के लिए चारा, मनुष्य के लिए फल, ईन्धन, इमारती लकड़ी, खाद, और मनुष्यों तथा पशुओं के इलाज में काम आने वाली जड़ी-बूटियां दे सकें।

सामुदायिक वन-कृषि अपनाने के लिए देहाती भाइयो को सरकार की ओर से जानकारी दी जाने लगी है। कम मूल्यों पर पेड़ों की पौध देकर उन्हे अधिक पेड़ उगाने

के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। मैं चाहूंगा कि सामुदायिक वन-कृषि अपनाने की योजना में दवा-दारू में काम आने वाले हरड़, बहेड़ा, आंवला, नीम, बकायन, तुवरक, बिल्व, आदि वृक्षों को भी शामिल करना चाहिए जिससे देहाती भाइयों को इनकी औषधोपयोगी उपजें ताजी, शुद्ध और सस्ती मिलती रहें। इस पुस्तक में मैंने इन पेड़-पौधों की कृषि करने के बारे में व्यावहारिक जानकारी दी है।

आजादी के बाद हमारे मनीषियों ने वनामहोत्सव का उपयोगी कार्यक्रम शुरू किया था। उस कार्यक्रम में अब भी धूमधाम से पेड़ रोपे जा रहे हैं। एक सप्ताह की लीडरी चहल-पहल के बाद नये रोपे गये पौधों की तरफ कोई ताकता नहीं। वे असमय काल-कवलित हो जाते है। उन में से चौथाई पौधे भी पूरे पेड़ बन जाएं तो ग़नीमत है। समुचित देखभाल के अभाव में वे सूख जाते है, उन्हें पशु चर जाते हैं, सिर्फ़ कुतूहल के लिए बच्चे भी नन्हे पौधों को उखाड फेंकते है।

पर्यावरण का सन्तुलन बिगाड़कर जाने या अनजाने उसे प्रदूषित होने से बचाने के लिए जन साधारण में जागृति पैदा करनी चाहिए।

—रामेश बेदी

क्रम

वरुण को उसने कहा—'पूज्यवर ! इस पेय को पीजिए।' दोनों ने ही मांस खाते हुए उसका पान किया। इस प्रकार सुर और वरुण ने इस पेय की खोज की; इसलिए इस नशीले पेय को सुरा और वारुणी कहने लगे।[1]

पाणिनी के एक सूत्र[2] में और कात्यायन के एक वार्तिक[3] में हरड़ का नाम हरीतकी आया है।

उत्पत्ति सम्बन्धी गाथाएँ : अधिक उपयोगी वनस्पतियों का महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में कुछ गाथाएँ मिलती हैं जिनमें उनका सम्बन्ध देवों के साथ दिखाया जाता है। नावनीतकम् के लेखक ने लिखा है कि जब इन्द्र देवता अमृत पी रहे थे तो भूमि पर उसकी एक बूंद गिर पड़ी। उससे ओषधियों में श्रेष्ठ हरड उत्पन्न हो गई।[4] भाव मिश्र ने इन्हीं अमृत बिन्दुओं से सात प्रकार की दिव्य गुणों वाली हरड़ों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।[5] एक दूसरी कथा में बताया गया है कि सुधर्मा की सभा में अमृत पान करते हुए विष्णु भगवान् से गिरी सात बूंदों में से हर्षदायक सात प्रकार की हरड़ें पैदा हुई थीं।

यूरोपियन चिकित्सा में : यूरोपियन चिकित्सा में हरड़ का ज्ञान देर से है परन्तु इसका अधिक प्रयोग नहीं होता रहा। ईसाई युग के प्रारम्भिक भाग में ग्रीक इसको जानते थे। प्रारम्भिक अरब लेखकों से सम्भवतः ग्रीकों को हरड़ का ज्ञान हुआ था। एरिस्टोटल (340 ईस्वी पूर्व), डिओस्कोराइड्स (60 ईस्वी पश्चात्) और प्लीनी (70 ईस्वी पश्चात्) ने हरड़ों का जिक्र किया है।

लिश्खोटन (Linschoten), जो सोलहवीं शताब्दी के अन्त में भारत आया था, पाँच प्रकार की हरड़ों का वर्णन करता है। इससे पूर्व हरड़ सम्बन्धी ज्ञान गार्सिया द ओर्ता (Garcia d' Orta) ने दिया है। इसका टीकाकार डॉक्टर पैलुडेनस लिखता है कि पाँच प्रकार की सब हरड़ें उस समय भारत से आती थीं। ये सूखी हुई, अचार या मुरब्बे की शक्ल में अथवा खाण्ड में सुरक्षित की हुई होती थीं। लिश्खोटन लिखता है कि हरड़ें जितनी बड़ी हों उतनी अच्छी होती हैं। काला रंग लिए हुए और कुछ लाल-से रंग की, भारी और पानी में डूब जाने वाली हरड़ें कफ को निकालती हैं, बुद्धि को कुशाग्र करती हैं। शहद और खाण्ड में सुरक्षित रखी हुई हरड़ें शक्ति-जनक और विरेचक होती हैं। इनके खाने से श्वयथु अच्छी हो जाती है और वृद्ध-अवस्था में इनका प्रयोग हितकर है, इनके सेवन से भूख बढ़ती है और पाचन क्रिया में मदद मिलती है।

---

1 कुम्भ जातक 512
2 हरीतक्यादिभ्यश्च। 4.3. 167
3 हरीतक्यादिषु व्यक्तिः। 1.2. 52 सूत्र पर वार्तिक।
4 नावनीतकम्।
5 भावप्रकाश, हरीतक्यादिवर्ग; 5

अमिदा के ईटियस के एक नुस्खे का जेडोअरी के नीचे उल्लेख मिलता है। पूर्व में पैदा होने वाले अन्य अनेक द्रव्यों के साथ इसमें हरड भी सम्मिलित है।

पेगोलोट्टी (1343) ने अच्छी सुरक्षित हरड़ों की विशेषता बताई है। 'ये बडी और काली होनी चाहिएं। ऊपर का छिलका दांतों को नरम मालूम होना चाहिए। ये जितनी बड़ी तथा काली होंगी और दांतों में नरम लगेंगी उतनी ही अच्छी होती हैं। ''कुछ लोग कहते हैं कि भारत में इन्हें कच्ची अवस्था में ही चाशनी मे पका लिया जाता है जैसे कि हम कच्चे अखरोटो को करते है। इस प्रकार पकाई हरड़ों के अन्दर गुठली नही रहने दी जाती। मालूम नही वस्तुत. ऐसा किया भी जाता है कि नही, क्योंकि हमारे पास बिना गुठली वाली हरड़ें नहीं आतीं और अक्सर अत्यन्त कठोर गुठलियो वाली आती है। इन्हे मिट्टी के भूरे चिकने बर्तन मे चाशनी के अन्दर रखना चाहिए। यह चाशनी कैशिया फ़िस्चुला (अमलतास नही) और शहद या खाड से बनाई जाती थी। ये सदा चाशनी के अन्दर डूबी रहनी चाहिएं, इससे ये सुरक्षित रहती हैं, इन्हें सूखा प्रयोग करना ठीक नहीं।' पेगोलोट्टी (1343) ने इसकी अलग्जेण्डरिया मे बिक्री लिखी है।

संस्कृत के नाम[1] : संस्कृत के निघण्टु ग्रन्थों में मिलने वाले हरड़ के नाम निम्नलिखित हैं :

राज निघण्टु	धन्वन्तरि	भाव प्रकाश	कैयदेव
1 हरीतकी	1 हरीतकी	1 हरीतकी	1 हरीतकी
2 हेमवती	2 हेमवती	2 हेमवती	2 हेमवती
3 जया	3 जया		3 जया
4 अभया	4 अभया	3 अभया	4 अभया
5 शिवा	5 शिवा	4 शिवा	5 शिवा
6 अव्यथा	6 अव्यथा	5 अव्यथा	6 अव्यथा
7 चेतनिका	7 चेतकी		7 चेतकी
8 रोहिणी	8 रोहिणी	6 रोहिणी	
9 पथ्या	9 पथ्या	7 पथ्या	8 पथ्या
10 प्रपथ्या	10 प्रपथ्या		9 प्रपथ्या
11 पूतना	11 पूतना	8 पूतना	10 पूतना
12 अमृता	12 अमृता	9 अमृता	11 अमृता

1. राजनिघण्टु, आम्रादि वर्ग; 214-15
धन्वतरि निघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग।
भावप्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 6-7
कैयदेव निघण्टु, औषधि वर्ग; 206-207

			12 जीवनीया
13 जीवन्तिका			
14 सिधम्बरा			
15 जीवन्ती		10 जीवन्ती	
16 प्राणदा	13 प्राणदा		13 प्राणदा
17 जीव्या			
18 कायस्था		11 कायस्था	14 कायस्था
19 श्रेयसी		12 श्रेयसी	15 श्रेयसी
20 देवी			
21 दिव्या			
22 विजया	14 विजया	13 विजया	16 विजया
	15 नन्दिनी		
	16 वयस्था	14 वयस्था	17 वयस्था
			18 अमोघा
			19 प्रमथा

संस्कृत नामों का अर्थ[1] : **उत्पत्ति-बोधक नाम** : हरीतकी (हरस्य भवने जाता, भगवान् शिव के घर—हिमालय में उत्पन्न होती है); गिरिजा (पर्वत पर उत्पन्न होने वाली); हिमजा (हिमालय पर उगने वाली); शक्रसृष्टा (इन्द्र से पैदा की गई, अमृतपान करते हुए इन्द्र से अमृत के बिन्दु ज़मीन पर गिरे, उनसे सात प्रकार की हरड़ उत्पन्न हुई); सुधोद्भवा, अमृता, सुधा (अमृत से उत्पन्न)।

परिचय-ज्ञापक नाम : हरीतकी (हरि पीतवर्णम् इता प्राप्ता, रंग में हरे से पीले रंग की होने से)।

गुण-प्रकाशक संज्ञा : हरीतकी (सर्वरोगान् हरते, सब रोगों को दूर करने वाली); अभया (अभयं सर्व रोगेभ्यो भवत्याशुश्च शाश्वतम्, इसके नियमित सेवन से रोग का भय कभी नहीं रहता); विजया (विजयते व्याधीन् समग्रान्, सब रोगों को जीतने वाली); अव्यथा (व्यथा—रोग दूर करने वाली); प्रमथा (रोग को मथ कर अर्थात् समूल नष्ट कर देने वाली); अमोघा (अव्यर्थ गुणकारक औषधि); कायस्था (शरीर बनाये रखने वाली); वयस्था (आयु स्थिर करने वाली); पथ्या (पथ्यत्वात् सर्वधातूनाम्, शरीर की सब धातुओं के लिए पथ्य का काम करती है, उनके लिए हितकर है); प्रपथ्या (बहुत अधिक हितकारक); सुधा, अमृता (अमृत तुल्य, अमरता देने वाली); देवी, दिव्या (दिव्य गुण युक्त); प्राणदा (जीवन देने वाली); जीव्या, जीवन्ती, जीवनीया,

---

1. धन्वन्तरि निघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग।
   राजनिघण्टु, आम्रादि वर्ग; 228
   अष्टांग संग्रह, उत्तर तन्त्र, अध्याय 49

जीवनिका (जिलाने वाली); पूतना (पवित्र करने वाली); शिवा (कल्याणकारी); श्रेयसी (श्रेष्ठ); चेतकी (चेतना, ज्ञान देने वाली, स्मृतिवर्द्धक); बल्या (बलदायक); जीवप्रिया (प्राणियों की प्रिय); नन्दिनी (आनन्द देने वाली); भिषक्प्रिया (चिकित्सक की प्रिय, चिकित्सक की भरोसा करने योग्य औषध); पाचनी (पाचक); रोहिणी (व्रणादियों को रोहण करने वाली अथवा रोहति आरोहित अन्य गुणान्, योगवाही)।

अन्य भाषाओं में नाम :

हिन्दी	हरड़।
बंगला	हरीतकी, हर्तकी।
गुजराती	हरडे, हर्र, हिमाजा।
मराठी	हरीतकी, हर्तकी, हिराडा, हिरडे।
पंजाबी	हर्र, हर्रा।
सिन्धी	इमावी।
कश्मीरी	ज़सरद हलेला।
बिहारी	हर्र।
उड़िया	करेड़ा, हरिड़ा।
गढवाली	हलड़ुंण।
कर्णाटकी	कारेकायि, अणिलेकायि, हर्डे कायिमर।
तैलङ्गी	करक्काय।
तमिल	कट्टमरं, कट्टक्काय्, अंकणं।
नेपाली	हेरड़ो।
मलयालम्	कट्टक्का।
ब्रह्मी	पाडा।
उर्दू	हलद।
तुर्की	अणिलेमर।
अरबी	अहलीज, एहलीलज।
फ़ारसी	हलेले।
मलयी	कटुकामरम्, बुआह कट्टका।
सिंहली	अरलु।
अंग्रेजी	दि माइरोबेलन ट्री (the myrobalan tree)
जर्मन	रिस्पिगेर माइरोबैलेनेन्बॉम (Rispiger myro-balanenbaum)।
फ्रेंच	बदमीर चेबुले (Badamier chebule)

औद्‌भिदीय टेर्मिनालिआ चेबुला रेट्ज़ (*Terminalia chebula* Retz.)।

लेटिन भाषा में टेर्मिनालिआ का अर्थ है—'सिरों पर लगने वाला'। शाखि-काओं के सिरों पर पत्ते समूह में लगते हैं। मलाया के देशीय लोगों में प्रचलित नाम के आधार पर चिबुला नाम रखा गया है। थेविनोट (1665) के अनुसार अंग्रेज़ी नाम चिबुलिक माइरोबेलन और बोटेनिकल नाम टेर्मिनालिआ चेबुला रेट्ज़ में चेबुला या चिबुलक शब्द पर्शियन के काबुली से बने हैं। इसका पर्शियन नाम हलिलेह्-ए-काबुली है। पर्शियन नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह काबुल की उपज रही होगी। परन्तु ऐसी बात है नहीं। पर्शिया में यह काबुल के रास्ते से आती होगी, इसलिए पर्शियन लोगों ने इसे यह नाम दे दिया होगा। गार्सिया कहता है कि उसके अरब लोग इन हरड़ों को केबुलगि कहते थे। इब्न बैथर इन्हें हलीलज कहता है। बहुत-से प्रामाणिक लेखकों को इसने उद्‌धृत किया है जो हलीलज को ही काबुली कहते थे। यह कोम्ब्रेटासी (Combretacae) नैसर्गिक वर्ग का वृक्ष है।

प्राप्ति स्थान : भारत और ब्रह्मा में सर्वत्र, विशेष कर पर्णपाती जंगलों में और कभी-कभी अधिक आर्द्र-मिश्रित जंगलों में भी मिलता है। उत्तर भारत में बहुतायत से होता है। पंजाब में यह वृक्ष छोटा सामान्यतया 1.20-1.50 मीटर घेरे के तने वाला होता है। अधिक दक्षिण में और अनुकूल अवस्थाओं में यह चौबीस से तीस मीटर तक बड़ा आकार प्राप्त कर लेता है। सीधे नियमित आकृति वाले तने का घेरा 2.40 से 3.60 मीटर हो जाता है। पंजाब तथा पश्चिमी पाकिस्तान में निम्न हिमालय और शिवालक मार्गों में सतलुज से पूर्व की ओर 1,524 मीटर तक पहुँच गया है। कांगड़ा जिले में विस्तृत रूप में मिलता है। कांगड़ा घाटी में कमजोर चट्टानी ज़मीन पर लगभग 1,067 मीटर पर बिखरा हुआ, अकेला या चीड़ के साथ मिला हुआ मिलता है। यहाँ वृक्ष की वृद्धि इतनी अच्छी नहीं होती।

पालामऊ, हज़ारीबाग, बंगाल में थोड़ा-बहुत सब जगह मिल जाता है। असम में बहुतायत से मिलता है। पूर्वी बंगाल, बिहार, अवध, मध्यप्रदेश और दक्षिण भारत में यह वृक्ष आमतौर से पाया जाता है।

यह विभिन्न प्रकार की ज़मीनों में, चिकनी और रेतीली ज़मीन में भी मिलता है। मध्यप्रदेश में खुले जंगलों या ग्राम्य भूमियों में, चट्टानों में आमतौर पर मिलता है। दूसरे किस्म की ज़मीन में भी होता है।

बम्बई में उच्च जंगलों में सामान्य रूप से मिलता है। महाराष्ट्र तथा गुजरात में मुख्यतया थाना, नासिक, नागर, खंडेश, पूना, बेलगाम, सतारा और सूरत जिलों में पाया जाता है। महाबलेश्वर की उच्चस्थली के अन्दर 1,372 मीटर पर उन जंगलों का मुख्य अंश है जिनमें छोटे वृक्ष उगते हैं। नर्मदा के दक्षिण में आमतौर पर अधिक मिलता है, आकार में भी बड़ा होता है। सतपुड़ा के उच्च स्थलों पर 610 मीटर की

ऊँचाई तक बहुतायत से मिलता है। गोदावरी के मार्गों मे उगता है।

हिमालय मे उच्च तल पर चट्टानों वाले और शुष्क स्थानों में तथा दक्षिण भारत के पहाड़ों मे यह बहुत छोटा वृक्ष होता है। परन्तु बड़े वृक्षों से सम्पन्न घाटियों और जगलों मे यह भी बड़ा हो जाता है और गहरे रग की लकड़ी देता है। बाह्य हिमालय में नीलगिरी और दक्षिण भारतीय पर्वत-श्रेणियों में, त्रावनकोर प्रदेश में, जहा कि वर्षा कम होती है, 1,829 मीटर तक मिल जाता है।

तमिलनाडु मे सर्वत्र जगलों में होता है। प्रायः शुष्क स्थानों पर पाया जाता है। कोयम्बटूर में बड़े आकार का होता है। गजाम और गुमसूर मे काफ़ी होता है।

ब्रह्मा, लंका और मलय प्रायद्वीप में मिलता है। लंका मे नीचे प्रदेश मे शुष्क जिलों में होता है। सिंगापुर की जलवायु के लिए यह अनुकूल नही है। वहा के वानस्पतिक उद्यान (बोटेनिकल गार्डन) में इसको उगाने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता नही मिली। जावा में उगाया जा सकता है। बुटन्ज़र्ग (Butenzorg) मे किसी तरह हो सकता है और मलय प्रायद्वीप में कुछ भाग ऐसे हैं जो निस्सन्देह इसके लिए अनुपयुक्त नही हैं।

जंगल से निकासी : निम्नलिखित फ़ोरेस्ट डिविज़नों के संरक्षित जंगलों से हरड़ पर्याप्त परिमाण मे निकलती है :

मध्य प्रदेश और बरार में बालाघाट, उत्तर तथा दक्षिण मण्डला, दक्षिण तथा उत्तर रामपुर, छिंदवाड़ा, मेलघाट, बैतूल, जबलपुर और अमरावती। तमिलनाडु में अपर गोदावरी, विजगापट्टम, मदुरा, विल्लोर, तिन्नावेल्ली, उत्तर तथा दक्षिण कुड्डापह, उत्तर कोयम्बटूर, कुरनूल, नीलगिरी और सलेम। महाराष्ट्र तथा गुजरात मे बेलगांव, पूना, सतारा, पूर्व थाना, पश्चिम कनारा, पूर्व तथा पश्चिम नासिक और कोलाबा। बिहार में सिंहभूम और संथाल परगना। उड़ीसा मे परलाकीमेडी।

रियासतों के विलय से पूर्व निजू जंगलों, गांवों और फालतू पड़ी भूमियो से हरड़ की निकासी सबसे अधिक थी। सरकारी सरक्षित जगलों से जितनी हरड़ें निकलती थी उससे इनका परिमाण चार या पांच गुना अधिक था। सरकारी जंगलों के अतिरिक्त दूसरे जंगलों पर नियन्त्रण न होने से निकलने वाले परिमाण की संख्याएं उपलब्ध नही होती। ऊपर जिन वन-विभागों (फ़ोरेस्ट डिविज़नो) का नाम गिनाया गया है उनके साथ लगते हुए स्थानों में जैसे कोल्हापुर, मैसूर तथा हैदराबाद रियासतों में और असल मे सारे दक्कन तथा कोंकण में और उड़ीसा की बहुत-सी रियासतों मे पैदावार बहुत अधिक थी। पंजाब अर्थात् रावी से पूर्व की ओर निम्न हिमालय, विशेष कर कांगड़ा जिला तथा शिवालक पर्वतों से निकलने वाली हरड़ें इन्ही प्रदेशों में खप जाती है। बगाल और आसाम बहुत अधिक हरड़ें पैदा नही करते और न ही भारत का शुष्क उत्तर-पश्चिम क्षेत्र।

संग्रह कौन करे ? : सामान्यतया हरड़ के जंगल या बगीचे ठेकेदार को नीलाम कर दिए जाते हैं। गांव वाले हरड़ें इकट्ठा करके उसके पास लाते हैं और वह चर्मकारों को या निर्यात करने वालों को बेच देता है। ठेकेदारों के द्वारा संग्रह करना संतोषजनक न समझ कर जंगल विभाग द्वारा इकट्ठा कराने के परीक्षणों को बम्बई में सफल समझा गया। उसके बाद 1931-32 में फिर तमिलनाडु और मध्यप्रदेश में भी ठेकेदारों द्वारा कार्य संतोषजनक न होने से जंगल विभाग ने स्वयं हरड़ें इकट्ठा करवाई। अनुभव ने बताया कि सरकारी विभाग द्वारा संग्रह कराने में श्रमिकों को जो महंगी मजदूरी देनी पड़ती है वह वारा नही खाती। ठेकेदार को तो गांव वाले अपने फ़ुर्सत के समय में इकट्ठा करके दे जाते हैं, इसलिए वह सस्ता पड़ता है।

सुखाने और संग्रह करने का तरीक़ा : ज़मीन पर से घास आदि को निकाल कर गोबर या चिकनी मिट्टी से लेप करके अच्छा फ़र्श-सा बना लिया जाता है। डिपो में फल पहुंचते ही इस तरह तैयार की हुई भूमि पर फैला दिये जाते हैं। हरड़ें बिछाने में यह सावधानी रखी जाती है कि वे एक दूसरे के ऊपर ढेरी की शक्ल में न पड़ें परन्तु साथ-साथ फैलाने से जो तह बने उस तह में एक ही हरड हो। अच्छी धूप में पूर्णतया सूखने देने के लिए इन्हें हर दूसरे या तीसरे दिन पलट दिया जाता है। मुख्यतया यही प्रक्रिया है जिसके ऊपर हरड का अन्तिम व्यापारिक मूल्य निर्भर करता है। इसलिए इसमें बहुत अधिक सतर्क रहना पड़ता है। ऋतु साफ हो तो मिट्टी के फर्श पर हरडों को सूखने में बीस दिन का समय लग जाता है। चट्टानी भूमि हो या पक्का फ़र्श हो तो इससे प्रायः आधा समय लग जाता है, क्योंकि सूर्यास्त के बाद भी चट्टानें काफ़ी देर तक गरम रहती हैं और वे हरड से नमी को उड़ाती रहती हैं। साथ ही जब ओस पड़ती है तो मिट्टी वाले फ़र्श की अपेक्षा चट्टानी ज़मीन पर से अधिक शीघ्रता से उड़ जाती है। बारिश की तेज बौछारें हरड के मूल्यवान् गुणों को नष्ट कर देती हैं। उनसे बचने के लिए ठेकेदार एक-दो अस्थायी छती हुई बैरकें-सी बना लेता है जिनमें बारिश की सम्भावना होने पर हरड़ें जल्दी से बिछा दी जाती हैं। पूरा पक जाने पर फल अपने असल आकार के आधे से ज़रा-सा बड़ा रहता है। सूखने की प्रक्रिया में इस पर रेखाएं पड़ जाती हैं। गूदे की बाहरी तह इतनी कठोर हो जाती है कि चाकू उस पर काम नहीं करता। हरडों की जिस छोटी-सी प्रतिशतकता में रेखाएँ नहीं पड़तीं उनमें देखा गया है कि छिलके के नीचे फल का लगभग सारा गूदा काले चूर्ण के रूप में परिवर्तित हो गया होता है जिसका स्याही बनाने में बहुत उपयोग होता है। ऐसे फलों को भोगा हरड़ें कहते हैं और ये रंगने तथा चर्मकर्म के लिए निरुपयोगी समझी जाती हैं। रेखाओं वाली हरड़ें तब बोरों में भरी जा कर यूरोप भेज दी जाती हैं कुछ हरड़ें भारत में बेचने के लिए रख ली जाती हैं।[1]

---

1 ट्रूपर, 1907

तमिलनाडु में सामान्यतया शाखाएँ हिला कर फल झाड़ लिए जाते हैं और जमीन पर से चुन लिए जाते हैं। वृक्षों के ऊपर से उनका संग्रह बहुत ही कम किया जाता है।[1]

बहुत पहले से ही (वाट, 1896, पृष्ठ 11) यह देखा गया था कि शाखाओं से फलों को तोड़ते हुए बड़ी-बड़ी टहनियाँ तोड़ ली जाती हैं। इस प्रथा को रोकना चाहिए क्योंकि इससे वृक्ष को हानि पहुंचती है। इस तरह इकट्ठा किये गये फल भी सम्भवतः घटिया क़िस्म के होते हैं। हलके रंग के होने से ये बढ़िया होंगे इस कल्पना के कारण यद्यपि इनका मूल्य तो अधिक मिलता है परन्तु इस बात का निश्चित निर्णय करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। फिर भी बाज़ार में फ़सल के अधिक-से-अधिक दाम प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि फल को संग्रह करने और सुखाने में बहुत अधिक सावधानी रखी जाय। पूरण सिंह (1918) ने दिखाया है कि ठीक तरह स्टोर की जाने पर हरड़ें ख़राब नहीं होती अर्थात् इन्हें सूखे और कीड़ों से रहित स्थान पर रखना चाहिए। यह बात केवल स्वस्थ और कीड़े से न खाये हुए फलों पर ही लागू होती है।

संचय का समय : पूरण सिंह की खोजों के अनुसार टैनीन के परिमाण की दृष्टि से संचय करने के समय का महत्त्व है। नवम्बर, दिसम्बर या जनवरी के सचयों के समय का अब तक कोई ब्योरा नहीं मिलता।

सर्वोत्तम हरड़ें जनवरी में इकट्ठी की जाती है। भारत में सर्वत्र, इसके बाद का संचय इतना अच्छा नहीं रहता और इससे पहले का बहुत खराब। स्पष्ट है कि अक्टूबर से मार्च तक सचय करने की आजकल की प्रथा अच्छी नहीं है। अब तक जितनी भी खोजें हुई है उनमें हमें इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता जिससे यह जाना जा सके कि संचय की दृष्टि से पकने की कौन-सी अवस्था सर्वोत्तम रहती है। टैनीन के परिमाण के अतिरिक्त भी किसी बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए यह नहीं कहा जा सकता।

बाज़ार के लिए तैयार करना : ग्रेड बनाना : विदेशों की मण्डियों को भेजने के लिए और भारत में भी चमड़े के कुछ कारखानों को देने के लिए व्यापारी हरड़ों के ग्रेड बना लेते हैं। इसके लिए सामान्यतया व्यापारी ऐसा करता है कि अच्छी दीखने वाली हरड़ों को अलग करके उन्हें पहले ग्रेड में रख लेता है और शेष को दूसरे ग्रेड में। जिस स्थान से हरड़ें निर्यात होती हैं उस स्थान के नाम के आधार पर मण्डियों में हरड़ों का नाम पड़ गया। जैसे 'ज-1'=जबलपुरी पहले ग्रेड की हरड़ें। पांच मुख्य किस्में ये हैं :

---

1 चौधरी एण्ड नायडू; 1929, पृष्ठ 10

विमली · विमलीपटम, तमिलनाडु से निर्यात की जाती हैं।
जबलपुरी : जबलपुर, मध्यप्रदेश से निर्यात की जाती हैं।
राजपुरी : कोल्हापुर से निर्यात की जाती हैं।
विंगोरली : बम्बई के जगलों से निर्यात की जाती हैं।
मद्रासी : तमिलनाडु के जगलो से निर्यात की जाती हैं।

ब-1, ज-1, र-1 तथा कुटी हुई हरड़ों के स्टैण्डर्ड नमूनों को डायरेक्टर ऑफ इण्डस्ट्रीज (बम्बई) रख लेता है। ज-1 और कुटी हुई हरड़ों के नमूनों को डायरेक्टर-जेनरल ऑफ़ कमर्शियल इण्टेलिजेन्स एण्ड स्टैटिस्टिक्स, कलकत्ता रखता है।

कभी-कभी बिना ग्रेड बनाये ही जगल की औसत पैदावार चुन कर बोरियों मे भर ली जाती है और उस पर 'F A Q' (fair average quality) निशान लगा दिया जाता है।

टैनीन के परिमाण और रग, दोनो दृष्टियों से सलेम की हरड़ें भारत मे सबसे अच्छी हरड़ें हैं परन्तु ये सब-की-सब वही खप जाती हैं, निर्यात नही होती।

केवल आखों से हरड़ों की सामान्य आकृति को देख कर ही अब तक उसके ग्रेड बनाने की पद्धति प्रचलित है। परन्तु रिपोर्ट प्राप्त हुई है कि इस प्रकार से स्टैण्डर्ड निश्चित करना पर्याप्त नही होता। इग्लैंड की खालों और चमड़ा कमाने के सामान पर विचार करने वाली विशेष कमेटी (1922) ने और न्यूयोर्क मे भारतीय सरकार के व्यापार कमिश्नर (1941) ने इस सम्बन्ध मे चेतावनियां दी हैं। इंग्लैंड की कमेटी ने सलाह दी थी कि टैनीन को इकाई मान कर और रग के आधार पर मूल्याकन करना चाहिए। परन्तु क्योंकि चर्मकार हरड़ को विभिन्न तरीकों से बरतते हैं और चर्मकर्म के बहुत-से पहलुओं में टैनीन-परिमाण तथा रग के तो केवल दो ही पहलू है, इसलिए यह समस्या इतनी आसानी से हल नही हो जाती। एम. वी. एडवर्ड्स की सम्मति मे आकार, रग, भार और मोटाई के आधार पर व्यापार में ग्रेड बनाना चाहिए। विस्तृत विश्लेपण के अलावा टैनीन का परिमाण जानने का और कोई तरीका नही है। मण्डी से हरड़ें ख़रीदते हुए यह सदा सम्भव भी नही होता। इसलिए टैनीन के परिमाण का आकार या आकृति अथवा और किस पहलू से सम्बन्ध है यह निश्चय कर लिया जाना चाहिए।

इस समय तक हरडो का प्रतिनिधि द्रव्य कोई नही है इसलिए बाजार मे इसकी खपत निश्चित है। परन्तु शिकायतें सूचित करती है कि चर्मकार सन्तुष्ट नही हैं। विशेषत: सयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त रिपोर्ट मे कहा गया है कि उस देश के चर्मकार हरड़ का स्थान लेने वाले दूसरे द्रव्यों (जैसे विनिजुएला से चेस्टनट, दिवीदिवी) और सिन्थेटिक चीज़ों को तलाश करने लगे हैं। इन प्रतिनिधियों मे से यदि कोई एक भी क्रियात्मक हल बन गया तो इसमें ज़रा भी सन्देह नही कि हरड़ का निर्यात व्यापार बिलकुल समाप्त हो जाएगा। इसे रोकने का यही तरीक़ा है कि चर्मकारों को हम

अपनी हरड़ों के अच्छा होने का निश्चय दिला सकें। ऐसा होने पर ही प्रतिनिधि द्रव्यों की खोज अनावश्यक समझी जाएगी।

गूदा निकालना : हरड़ों में से गूदा अलग छुडा लेने का लाभ यह है कि फल का कम महत्वपूर्ण भाग गुठली अलग हो जाती है। इसलिए हरड़ के गूदे या छिलके का व्यापार भी काफी है। इसमें टैनीन का परिमाण पैतालीस प्रति शत[1] से बावन प्रति शत (फ्रेमाउथ, 1918, पृष्ठ 10) तक होता है। यदि विशुद्धता की गारंटी दी जाय तो इस चीज़ की अधिक मांग हो सकती है। परन्तु क्योंकि इसमे मिलावट सुगमता से हो सकती है इसलिए ग्राहक ख़रीदने से सावधान हो गए हैं। हरड की उपयोगिता को प्रतिपादित करने का यदि कोई स्टैण्डर्ड तरीक़ा खोज लिया जाय तो छिलके की माग निस्सन्देह बहुत बढ़ जाएगी।'

पैदावार : हरड़ों के संग्रह पर नियन्त्रण न होने से इस बात का ब्योरा नही मिलता कि कुल कितनी हरड़ें पैदा की जा रही हैं और क्योकि वृक्ष नियमित खेतों या जंगलों में नही है, इसलिए यह कहना भी कठिन है कि प्रति एकड़ पैदावार कितनी है।

बिहार और उडीसा मे 1926-28 मे किये गये परीक्षणों से प्राप्त परिणाम कुछ विचार देते हैं कि प्रति वृक्ष पैदावार कितनी है। सौ वृक्षो से तीन साल लगातार फल इकट्ठा किये गये। परीक्षण के तीसरे साल फल लगे ही नही थे। बिहार और उड़ीसा के रिसर्च ऑफिसर की रिपोर्ट नीचे की तालिका में दी जाती है :

छाती की ऊंचाई तक घेरा	फलने के हर साल प्रति वृक्ष की औसत वार्षिक पैदावार
27.50 सेण्टीमीटर तक	1.860 किलोग्राम
30 से 57.50 सेण्टीमीटर तक	3.800 किलोग्राम
60 से 87.50 सेण्टीमीटर तक	5.600 किलोग्राम
90 से 117.50 सेण्टीमीटर तक	6.000 किलोग्राम
120 से 147.50 सेण्टीमीटर तक	8.400 किलोग्राम
150 से 167.50 सेण्टीमीटर तक	10.250 किलोग्राम

यह मालूम किया गया है कि जब वृक्ष फूला हुआ हो और ओले पड़ जाएं तो दूसरे फलदार वृक्षों की तरह इसकी भी पैदावार कम हो जाती है। ऊपर के परीक्षण मे यह देखा गया था कि बीस वृक्षों को ओलो से हानि पहुंची थी अन्यथा प्रति वृक्ष की पैदावार अधिक होती। हमारी सम्मति में दो मौसमों में 100 वृक्षों के ब्योरे के आधार पर सामान्य पैदावार निर्धारित करना ठीक नही है। सामान्यतया पैदावार इससे कही अधिक होती है।'

---

1 टैनिंग मैटीरियल्स ऑफ़ दि ब्रिटिश एम्पायर, 1929, पृष्ठ 70, इम्पीरियल इंस्टिट्यूट, लन्दन

कम की भारत में खपत : भारत मे हरड़ की कितनी खपत है, इसका ब्योरा नहीं मिलता। यह भी ज्ञात नही कि निजू जंगलों या वृक्षों से सीधा चमड़े के कारखानों मे कितने परिमाण में हरड़ जाती है। इसकी पैदावार और खपत पर कोई नियन्त्रण नही है। चर्मालयों मे उपयोग के अलावा हरड़ स्याही बनाने और रंग बनाने के काम भी आती है। युद्ध के दिनों मे जब विदेशों से रंग आने बन्द हो जाते हैं तो इनसे खूब रंग बनाये जाने लगते हैं।

औद्भिदीय वर्णन : एक मध्यमाकार या बड़ा पतनशील पत्तों वाला (deciduous) वृक्ष है। ऊपर का भाग गोल मुकुट की तरह होता है। शाखाएं बहुत और प्रत्येक दिशा में फैलती हुई और इनके प्रान्तीय भाग प्रायः नीचे की ओर गिरते हुए होते हैं। तना वृक्ष के आकार से अक्सर छोटा और सीधा कम ही होता है। जमीन से नब्बे सेण्टीमीटर ऊंचे तने की परिधि साठ से नब्बे सेण्टीमीटर होती है। बर्मा में तना प्राय: ऊंचा और सीधा चला जाता है।

पत्र, कलिकाएं, छोटी शाखाएं और नये पत्ते लम्बे, मुलायम, चमकीले, सामान्यतया अगार के रंग के और कभी-कभी चांदी के रंग के बालों से ढके हुए होते हैं। पत्ते एक दूसरे से समान दूरी पर, अक्सर अर्द्ध-सम्मुख (sub-opposite), अण्डाकृति या समाकार-अण्डाकार-सदृशाकार(oblong-ovate), दीर्घतीक्ष्ण, (accuminate), साढ़े सात सेण्टीमीटर से बीस सेण्टीमीटर लम्बे, साढ़े सात सेण्टीमीटर चौड़े, तुस-रोमश से सर्वथा पत्ते बालों वाले या सर्वथा स्निग्ध आदि सब अवस्थाओं मे होते हैं। पत्तें की मुख्य बाह्य नाड़ियां स्पष्ट और मध्य पसली के दोनों ओर छः से बारह होती हैं। पत्ते के निचले पृष्ठ पर नाड़ियां बहुत स्पष्ट और उभरी हुई होती हैं। पत्रवृन्त पर सिरे के समीप एक या दो ग्रन्थियां या उभार होते हैं। पत्ते की $\frac{1}{3}$ लम्बाई से पत्रवृन्त छोटा होता है।

कुछ स्थानों मे नवम्बर से पत्ते गिरने आरम्भ होते हैं और फरवरी-मार्च तक वृक्ष पत्रविहीन हो जाते हैं। फिर नये पत्ते मार्च से मई तक निकलते हैं। ये हलके हरे या कभी-कभी ताम्रवर्ण के होते हैं। एक प्रकार का कीड़ा बैगवर्म मोथ (bagworm moth, इसका वैज्ञानिक भाषा मे नाम है—*Acanthosyche moorei*—एकेन्थोसिकी मूरी) वृक्ष के पत्तों को नुकसान पहुंचाता है।

छाल 65 मिलिमीटर मोटी, गहरी भूरी-धूसर, सामान्यतया बहुत-सी उथली लम्ब-वत् दरारों से युक्त और लकड़ी के बाह्य छिलके के साथ उतरती हुई होती है। लकड़ी बहुत कठोर और धूसर वर्ण, जिसमें हरी या पीली-सी आभा होती है। अन्तःकाष्ठ (heart wood) अनियमित, छोटी, गहरी जामनी, सख्त, भारी और अच्छी टिकाऊ होती है। वार्षिक चक्र (annual rings) अस्पष्ट होते हैं। छिद्र छोटे और अक्सर अर्द्धविरल, इकहरे या समूहों में होते हैं। लकड़ी का भार 23.85 से 29.70 किलोग्राम प्रति घन फुट होता है। यह बहेड़े की लकड़ी से भारी होती है।

पौधे की वृद्धि सामान्य होती है। प्रति 2.50 सेण्टीमीटर व्यासार्द्ध में छः से दस

चक्र होते हैं। प्राकृतिक उत्पत्ति में इसका अधिकतम छाया-तापमान 36.7 अंश से 46.7 अंश शतांश और न्यूनतम —1.1 अंश से 15.5 अंश शतांश होता है। वहां की सामान्य वर्षा 75 से325 सेण्टीमीटर होती है।

हलके सफ़ेद रंग के पुष्पस्तवक नये पत्तों के साथ प्रकट होते हैं। हिमालय की घाटियों में देर में, जून-अगस्त मे फूल निकलते हैं। मध्य प्रदेश मे सामान्यतया अप्रैल-मई में। जुलाई-अगस्त तक भी थोड़े-थोड़े फूल निकलते रहते है। हरिद्वार मे सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में भी कुछ फूल वृक्षों पर देखे जा सकते है। पुष्पस्तवक पाच से दस सेण्टीमीटर लम्बा, अधिकतर संयुक्त विवृन्तक और चालू साल के शाखोद्भेदों के सिरे पर और ऊर्ध्वतम पत्तों के अक्षों में होता है। पुष्प उभयलिंगी, अवृन्तक, वर्ण मैला-सा सफ़ेद या पीला और गन्ध भद्दी-सी होती है। फूल अक्सर एक कीड़े से आक्रान्त हो जाते हैं।

पुष्पस्तवक तड़के साढ़े चार बजे से साढ़े पांच बजे तक बड़े आकार की मधुमक्खियों (*Apis dorsata*) से खूब व्यस्त रहते हैं। इस एक घण्टे के बाद एक भी मधुमक्खी दिखाई नही देती। सारा मई महीना तथा उसके बाद भी जब तक फूल काफ़ी रहते हैं हरड़ का वृक्ष मधुमक्खियों के लिए पुष्प-रस का बहुत अच्छा चरागाह सिद्ध होता है।

बाहर की ओर फैलती हुई शाखाओं के सिरो पर गुच्छों में फल लटकते है। फल एकाकी या तीन से दस तक इकट्ठे एक गुच्छे में लटके होते हैं। वृक्ष के अन्दर के भाग में फल कम ही दिखाई देते है।

स्थानिक भेद से फल नवम्बर से मार्च तक पकते है और पकने के बाद शीघ्र गिर जाते हैं। कई वृक्षों में अक्टूबर में फल के ऊपर रेखाएं स्पष्ट दीखने लगती हैं जब कि दूसरे वृक्षों में इस समय रेखाओं का चिह्न-मात्र भी नही होता और फल बिलकुल चिकने पृष्ठ के होते है। इसमें से जो ज़मीन पर गिर जाते हैं, सूख कर इनमें रेखाएं पड़ने लगती है। अब तक इनके ऊपर छिलके का एक पतला आवरण होता है। फल की आकृति और आकार बहुत भिन्न-भिन्न होता है। यह अक्सर पांच लम्ब-अक्ष में (longitudinally) रेखाओं वाला, कठोर, ढाई से पांच सेण्टीमीटर लम्बा, रंग में पीला बादामी या नारंगी-भूरा, कभी-कभी लाल या काली आभा लिए होता है। इसमें सूखा और कठोर गूदा होता है जिसकी मोटाई भिन्न-भिन्न होती है। अन्दर पत्थर जैसी कठोर गुठली होती है, यह सारे भार का तेईस से बावन प्रतिशत होती है। गुठली डेढ से दो सेण्टीमीटर चौड़ी, सवा से डेढ़ सेण्टीमीटर लम्बी, अण्डाकार, पीतवर्ण, ऊंची-नीची, गड्ढों से युक्त, कठोर और अर्द्ध-कोणायित होती है। हर साल फलों की फ़सल भिन्न-भिन्न होती है। लगभग पैंतीस से पैंतालीस ताज़े फलों या साठ से पिचहत्तर सूखी हरड़ों का भार चार सौ पचपन ग्राम होता है।

कीट फल : एक प्रकार का कीड़ा कोमल पत्तों मे छेद करके अपने अण्डे दे देता

है। पत्त, कट जाने से रस का स्वाभाविक प्रवाह इस कटे हुए स्थान पर अधिक होता है और यह स्थान आकार में बड़ा होकर एक उभार या फल का-सा रूप धारण कर लेता है। यह फल क्योंकि एक कीड़े के कार्य द्वारा बना है इसलिए इसे कीट-फल (gall) कहते है। प्राचीन संस्कृत लेखक, यद्यपि कीड़ों की इस प्रकार की रचना—अवास्तविक फल—से अवश्य परिचित थे जिसके लिए उदाहरण के तौर पर हम माजूफल, कर्कट-शृंगी आदि का नाम ले सकते हैं, तथापि हरड के कीट-फलों (galls) की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

संस्कृत लेखकों के भेद : छिलके की स्वल्पता, गूदे की स्थूलता, आकार गोल या लम्बा तथा वर्ण आदि के अनुसार संस्कृत लेखकों ने हरड़ के सात भेद किए हैं। यहां हम उनका नाम, परिचय और उत्पत्ति स्थान संस्कृत लेखकों के अनुसार लिख रहे हैं।[1]

1 विजया : विन्ध्य पर्वत पर उगने वाली हरड़ को विजया नाम दिया गया है। यह घीये जैसी लम्बी, गोल, ऊपर से पतली और नीचे की ओर क्रमशः मोटी होती गई होती है। सामान्यतया इसका प्रयोग सब जगह होता है। हरड़ की सातों जातियों में से यह प्रधान है, क्योंकि यह सुगमता से मिल जाती है, इसका प्रयोग करना सरल है और यह सब रोगों में दी जा सकती है।

2 रोहिणी : फूली हुई-सी अच्छी गोल हरड़ों के वृक्ष सिन्ध प्रदेश मे मिलते है। व्रणों पर लेप के रूप मे इसका प्रयोग प्रशस्त है।

3 पूतना : पतले छिलके वाली हरड़ें सिन्ध मे मिलती हैं। विरेचन के लिए ये अच्छी हैं।

4 अमृता : चम्पा में उत्पन्न होने वाली मोटे गूदे की हरड़ है। इसमें चिकित्सा सम्बन्धी गुण अपेक्षाकृत अधिक हैं।

5 अभया : सौराष्ट्र नामक देश मे उत्पन्न होती है। इसके ऊपर पांच रेखाएं होती हैं। यह नेत्र रोगों को नष्ट करती है।

6 जीवन्ती : सोने के रंग वाली यह हरड़ पुराने रोगों में अच्छी है।

7 चेतकी : हिमालय पर्वत पर होने वाली तीन रेखाओं वाली हरड़ है। सब रोगों को नष्ट करती है। इसका विरेचन प्रभाव इतना तीव्र कहा गया है कि जब तक हाथ में रहेगी तब तक विरेचन होते रहेंगे।

आयुर्वेद के आदि लेखक महर्षि चरक के समय हरड़ के ये भेद ज्ञात नहीं थे। चरक संहिता में चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय में रसायन प्रकरण में हरड़ के गुण आदि का विस्तृत उल्लेख है, परन्तु इसके भेदों की ओर ज़रा भी संकेत नहीं किया गया।

---

1 राज निघण्टु, आम्रादि वर्ग; 219-226
भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 8-18

यही बात हम सुश्रुत और वाग्भट मे देखते हैं। अपेक्षाकृत कुछ पीछे लिखे गए निघण्टु ग्रन्थों में ही हम इन भेदो का वर्णन पाते हैं।

आधुनिक वनस्पति शास्त्र के विद्वानो के मत में भारतीयों के ये सात भेद फल की परिपक्वता की विभिन्न अवस्थाएं ही हैं। हम इस विचार से आंशिक रूप मे भले ही सहमत हों, परन्तु हमारी धारणा यह है कि स्थान भेद से फलों की आकृति आदि मे जो कुछ फ़र्क पड़ जाता है उसके अनुसार ही निघण्टुकारो ने इन सात भेदों की सृष्टि की है। चाहे जो विचार ठीक हो, यह सत्य है कि निघण्टुकारो के ये सात भेद वर्तमान संसार को अज्ञात है।

विदेशी लेखकों के भेद : एक्चुएरिअस (Actuarious) ग्रीक लेखक हरड़ के पांच प्रकारो का वर्णन करता है। मख्जन-उल-अद्विया का रचयिता निम्नलिखित क़िस्मों का ज़िक्र करता है जो फल की परिपक्वता की विभिन्न अवस्थाओं की ओर संकेत करती हैं :

1 हलिलेह्-ए-ज़ीरा : फल जब प्रारम्भ मे आते ही है तो उन्हें इकट्ठा करके सुखा लेते हैं। इसका आकार लगभग ज़ीरे के बराबर होता है।

2 हलिलेह्-ए-जवि : कुछ अधिक बडा फल, लगभग जौ के आकार का।

3 हलिलेह्-ए-जंगी : यह फल की और अधिक उन्नत अवस्था है। सूखने पर यह आकार मे द्राक्षा के समान और रंग में काला होता है। इसके दो नाम और है—हलिलेह्-ए-हिन्दी और हलिलेह्-ए-अस्वेद। जंगी और अस्वेद का अर्थ होता है काला।

4 हलिलेह्-ए-चीनी : फल जब कुछ कठोर हो जाता है और रग मे हरा-सा पीला होता है तब इकट्ठा किया जाता है।

5 हलिलेह्-ए-अस्फार : लगभग पका हुआ फल, पर फिर भी इस समय अत्यन्त ग्राही होता है।

6 हलिलेह्-ए-काबुली : पूर्ण पक्व फल।

इन छः क़िस्मों में से दूसरी, तीसरी और छठी किस्मे ही चिकित्सा प्रयोजन में अधिक काम आती हैं और चौथी तथा पांचवी किस्मों को मुख्यतया चर्मकार इस्तेमाल करते हैं।

अपने जीवन के विभिन्न कालों में फल मे टैनीन पदार्थ के परिमाण की विभिन्नता के सम्बन्ध मे हमने जो टिप्पणी दी है उसको ध्यान में रखते हुए यह तथ्य बहुत दिलचस्प है और संकेत देता है कि पर्शियन और सम्भवतः अरब भी अपक्व फल को चर्म-कर्म के लिए एक अच्छी किस्म समझते थे। आजकल व्यवहार में अधिक प्रचलित हरड़ नम्बर तीन या जगी हरड़ मालूम होती है और कुछ विद्वानों का ख़याल है कि आयुर्वेद के चिकित्सा-शास्त्र की विजया हरड़ सम्भवतः यही है।

व्यापार में भेद : व्यापार में माइरोबैलेन सामान्यतया हरड़ (टर्मिनालिया चेबुला रेट्ज़) के फलों को कहा जाता है। बहेड़े के फलों (बेलेरिक माइरोबैलेन) से भेद दिखा

के लिए इसे चिबुलिक माइरोबैलेन कहते है । बाजार की हरड़ों के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि हरडों (चिबुलिक माइरोबैलेन) के नाम से जो फल बाजार में बिकने आते हैं उनमें टेर्मिनालिआ चेबुला रेट्ज, टेर्मिनालिआपाल्लिडा ब्राण्डिस (*Terminalia pallida* Brandis), टेर्मिनालिआ ट्रावन्कोरेन्सिस डब्ल्यु. एव ए. (*T. travancorensis* W. and A. ट्रावन्कोर की हरड़) और सम्भवतः टेर्मिनालिआ सिट्रिना फ्लेमिंग (*T. citrina* Fleming) के भी फल होते हैं। इन सबके फलों को हरड़ (माइरोबैलेन) कह दिया जाता है ।

भेदों के सम्बन्ध में विचार : ब्रह्मा मे हरड के वृक्ष को सबसे पहले कुर्ज ने टेर्मिनालिआ टोमेण्टेल्ला (T. tomentella) के नाम से वर्णन किया था। कुर्ज ने हरड़ (टेर्मिनालिआ चेबुला रेट्ज) का प्राप्ति-स्थान चिटागोंग तक ही लिखा था, परन्तु हूपर और ब्रैण्डिस ने टेर्मिनालिया टोमेण्टेल्ला और टेर्मिनालिआ चेबुला को मिला कर एक ही जाति के नाम से प्रतिपादित किया था। तब से ये दोनो इसी तरह चले आ रहे है। ब्लैटर (Blatter, 1929) ने ब्रह्मा की हरड (टेर्मिनालिआ टोमेण्टेल्ला) को टेर्मिनालिआ चेबुला रेट्ज की ही एक किस्म स्वीकार किया है। ब्रह्मा वन-सेवा (फ़ौरेस्ट सर्विस) के एम. वी. एडवर्ड्स के अनुसार 'टैनिंग की उपयोगिता की दृष्टि से ब्रह्मा वाली किस्म या जाति सर्वथा पृथक् है।'

भारतीय हरड़ो के व्यापार पर दी गई रिपोर्ट के परिणामस्वरूप वन्य अनुसन्धानशाला (फ़ौरेस्ट रिसर्च इस्टिट्यूट) और राजकीय संस्था (इम्पीरियल इंस्टिट्यूट) मे इसके कुछ प्रकारों पर खोज की गई थी। यह पता चला था कि भारत के विविध भागो से प्राप्त की गई हरड़ों में टैनीन का परिमाण बहुत अधिक भिन्न-भिन्न है, और ट्रावन्कोर की हरड़ (टेर्मिनालिआ ट्रावन्कोरेन्सिस डब्ल्यू. एवं ए.) के फलों को हरड़ का एक भेद माना जा सकता है, तथा टेर्मिनालिआ सिट्रिना फ्लेमिंग के फल सम्भवतः दूसरी जातियो (स्पिसीज) के फलों से घटिया हैं। टेर्मिनालिआ की उन सब जातियो को नये सिरे से खोज करने की आवश्यकता समझी गई जो कैटप्पा समूह (Cattappa section) मे रखी जाती हैं, अर्थात् टेर्मिनालिआ की वे जातियां जिनके फल हरड़ की तरह के होते हैं। वनस्पति विज्ञान के दृष्टिकोण से की जाने वाली इस खोज से यह निश्चय करना था कि कौन-कौन-सी हरड़ें वस्तुतः भिन्न जातियां हैं। खोज का यह काम बहुत बड़ा था और एक रिपोर्ट से पता चलता है कि 1945 तक तो यह नहीं किया जा सका था। कठिनाई यह है कि सब भेद एक दूसरे के साथ इस प्रकार मिल जाते हैं कि इनमें भेदक रेखा खीचना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। 26 जून, 1925 को वन्य अनुसन्धान शाला के बोटनिस्ट ने लिखा था—'फ्लोरा औफ़ ब्रिटिश इण्डिया मे क्लार्क ने हरड़ (टेर्मिनालिआ चेबुला) के छह प्रकार लिखे हैं। परन्तु, अधिक उदाहरणों में उन्होंने नमूने को बिना देखे ही नाम रख दिये हैं। मैं उनके श्रेणीकरण को अनुसरण करना उपयुक्त नही समझता। टिपिका (typica) भेद को उन्होंने भारत, श्रीलङ्का और

नवम्बर में एक जाती है। पत्ते इस मास मे गिरना आरम्भ करते हैं और पौधे जनवरी-फ़रवरी मे पत्रविहीन हो जाते हैं। नई वृद्धि लगभग मार्च मे आरम्भ होती है। छोटे पौधे पाले को अच्छा बर्दाश्त करते हैं। नर्सरी से पौधों को वर्षा ऋतु की पहली बारिश में उठाया जा सकता है।

वृक्ष की बहुत अधिक माग नही है। जवानी में और बड़ी आयु में भी यह थोड़ी छाया देता है और धूप से रक्षा करने मे सहायक होता है। पाले और तेज हवा का इस पर अधिक प्रभाव नही होता। आग का यह अच्छा मुकाबला करता है और जल जाने के बाद आरोग्य लाभ करने की इसमे अच्छी शक्ति है। इसमें से खूब शाखाए निकल आती हैं। पाच साल मे इन नवीन शाखाओं की औसत ऊचाई 2.40 मीटर पहुंच जाती है।

उपयोगी भाग : फल और गुठली। ऋतु मे स्वयं पक कर जमीन पर गिरी हुई, ताजी, ऊपर से चिकनी, गोल, भारी और पानी मे डूब जाने वाली हरड़ अच्छी समझी जाती है।[1] पानी मे डूब जाने का गुण जिसमे जितना अधिक होता है वह उतनी ही श्रेष्ठ समझी जाती है।[2] इन गुणो के साथ-साथ हरड़ का भार चार तोला हो तो यह बहुत उत्तम होती है।[3]

हरड़ कठोर और दृढ होनी चाहिए। इकट्ठा करके हिलाने से पके मृत्तिका-पात्र के टुकड़ों के समान बाजनी चाहिए। हथौड़े से कुचलने पर शुष्क पीला चूर्ण देती है, जिसमे कठोर अनियमित टुकड़े भी होते हैं। पिसी हुई हरड का चूर्ण पीला बादामी-सा, शुष्क और स्वाद में ग्राही होता है। परन्तु अत्यधिक कड़वा या नमकीन स्वाद भी नही होना चाहिए। गीला करके हाथ में मसला जाय तो आपस में मिल कर एक समूह बन जाता है; भुरभुराता नही। अच्छे फल भारी और भरे हुए होते हैं। काले रंग के धब्बो या उभारों और कीट-छिद्रों से रहित होने चाहिएं। अंगुलियों के बीच मे पीसने से या खरल मे रगड़ने से यदि यह मैले रंग के चूर्ण मे भुरभुरा जाय तो हरड़ घटिया किस्म की समझनी चाहिए। कीड़ों से खाई हुई, आग से जली हुई, पानी पर तैरने वाली, ऊसर भूमि मे उगी हुई और टूटी-फूटी हरड़ को चिकित्सा कर्म में न लें।[4]

मात्रा : पके फल का चूर्ण दो से तीन ग्राम तक।

मिलावट : पूरे फल जब मार्केट में आते हैं तो उनमे अक्सर मिट्टी, रेत, अभ्रक, कुचला, सुपारी, असन (*Terminalia tomentosa*) आदि मिले रहते हैं। पिसी हरड़ों में कभी-कभी दिवीदिवी (*Caesalpinia coriaria* साएसाल्पिनिआ कोरिआरिआ),

---

1 कैयदेव निघण्टु, ओषधि वर्ग; 216-217
2 राज निघण्टु, आम्रादि वर्ग; 227
3 कैयदेव निघण्टु, ओषधि वर्ग; 218
भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 26-27
4 कैयदेव निघण्टु, ओषधि वर्ग; 219

रद्दी सुमाक (*Rhus co'inus* रहूस कोटिनुस) और जंगली कीट-फल (galls) मिला दिए जाते हैं। इन मिलावटों को देखने के लिए थोड़ा-सा चूर्ण एक सफ़ेद काग़ज़ पर विरल बिखेर दें और ताल (लेन्स) से परीक्षा करें। यदि दिवीदिवी मिलाई गई है तो इसके चमकीले भूरे चपटे बीजो के खण्ड अवश्य मिलेंगे। हरड़ का बाहर का छिलका कभी-कभी रंग में दिवीदिवी बीज से मिलता-जुलता हो सकता है, परन्तु हरड़ के सूक्ष्मतम अंश का पृष्ठ झुर्रीदार दिखाई देगा, जब कि दिवीदिवी बीज चिकने होंगे।

नक़ली हरड़ : अधिक लोग समझते है कि हरड़ मामूली चीज़ है, यह नकली नही बनती होगी। पाठकों को ज्ञात नही होगा कि हरड़ यदि पच्चीस ग्राम से ऊपर वज़न की हो तो वह एक-एक नग करके बिकती है और नग का मूल्य दो रुपये से लेकर सैंकड़ों तक पड़ जाता है। पैंतीस और पचास ग्राम भार की हरड़ का एक दाना अस्सी-सौ रुपये में बिकता है। ऐसी भारी मूल्यवान् हरड़ों को ख़रीदने की प्रथा मारवाड़ियो में है। मारवाड़ी बड़े-से-बड़े मूल्य की हरड़ की तलाश मे रहता है और अपने बच्चे को इन्ही मूल्यवान् हरड़ो की घूटी देता है। इसीलिए बम्बई, कलकत्ता और बीकानेर आदि मे इन हरड़ों की काफ़ी खपत होती है। जब एक हरड़ पैंतीस से ऊपर हो, पचास से साठ ग्राम की हो तो उसके सैंकड़ों रुपये मिल जाते हैं। इसी बात को देख कर आरम्भ मे जलापा नामक कन्द, जिसे कहीं-कहीं जलापा हरड़ भी कहते है, जो भार में पचास-साठ ग्राम का सहज में मिल जाता है और जिसकी बनावट, रूप-रंग भी हरड़ से मिलती है, को अमृतसर के कई एक ठग मारवाड़ियों के हाथ हरड़ बता कर बेचते रहे और अच्छी रक़म ऐंठते रहे। कोई-कोई ऐसा भी करते थे कि इसी हरड़ मे बारीक सुराख बना कर उसके बीच में सीसे के छोटे-छोटे बारीक छर्रे भर कर इसे और अधिक वज़नी बना लेते थे और इसके अच्छे रुपये प्राप्त कर लेते थे। इन हरड़ो का मूल्य, यदि ये चौबीस ग्राम भार मे हों तो, दो, ढाई या तीन रुपये तक प्रति नग होता है। यदि यह सताईस ग्राम की हो जाय तो मूल्य पांच रुपये हो जाता है। उनत्तीस ग्राम की हो जाय तो छः-सात रुपये तक बिक जाती है। पैंतीस ग्राम हो जाय तो बीस-पच्चीस रुपये में बिकती है। इससे अधिक भार की बहुत मूल्यवान् हो जाती है। इन्ही बातों को देख कर हरड़ का भार बढाया गया। यह ठगी तो अमृतसर और दिल्ली के ठगों द्वारा होती थी। बम्बई के ठग इनको भी मात कर गये। उन्होंने बिलकुल कृत्रिम विधि से हरड़ की रचना कर डाली। उनकी हरड़ बनाने की विधि इस प्रकार है—बड़ी हरड़ की आकृति के लोहे के सांचे बनवाये। उनमें हरीतकी सत्त्व और हरीतकी के बारीक चूर्ण को मिला कर भर दिया और सांचों को इतना दबाया कि दब कर यह हरड़ के रूप में आ गया। फिर इन्हें हरड़ के रंग मे रंग दिया। इस तरह साठ ग्राम मे एक सौ बीस ग्राम तक की हरड़ें तैयार की गईं और बम्बई के मारवाड़ियों को ख़ूब लूटा गया।

नक़ली और असली हरड़ की पहिचान : असली हरड़ की बनावट बहुत साधा-

रंग होती है। इसमें हरड़ की नोक की तरफ कोई सुराख का निशान न होना चाहिए। पानी में भिगोने से उस पर से किसी प्रकार का रंग न उतरना चाहिए। रगड़ने पर भुरभुरानी नहीं चाहिए। जिस हरड़ में छेद हों, जिसका रंग पानी में उतरता हो और जो साधारण चोट से भुरभुरा जाय वह नकली है। जमाता हरड़ और असली हरड़ में यह अन्तर है कि जितनी मोटी और सीधी धारियां असली हरड़ पर होती हैं उतनी मोटी और सीधी धारियां जमाता पर नहीं होतीं। जमाता के सिकुड़ने से जो धारियां बनती हैं वे पतली होती हैं। असली हरड़ में गुठली निकलती है, जमाता में गुठली नहीं होती। इसकी परीक्षा तोड़ कर की जा सकती है। जमाता चूर्ण को खाने पर कुछ देर में ही वह गले में जा कर लगता है और जलन करता रहता है। हरड़-चूर्ण खाने पर गले में लगता नहीं, न इससे जलन ही होती है।

रासायनिक संघटन : हर्र फ्रिडोलिन (1884) ने फल से एक नया टैनिक अम्ल पृथक् किया जिसे वह चिबुलिनिक अम्ल कहता है। यह सम्भवतः गैलोटैनिक एसिड का स्रोत है। एम. पी. एपेरी (1888) के अनुसार काली हरड़ में एक हरे रंग का तैलीय रेज़िन होता है जो एल्कोहल, ईथर, पेट्रोलियम स्पिरिट और टर्पेण्टाइन के तेल में घुलनशील है। यह इसे माइरोबैलनीन नाम देता है।

हरड़ में विद्यमान टैनीन से लगभग सम्पूर्ण पाइरोगैलोल टैनीन होते हैं। गैलो-टैनिक एसिड भी होता है। हरड़ के अनेक नमूनों के किये गये विश्लेषण से मालूम होता है कि एक ही वृक्ष पर से फलों की वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं से लिए गये हरड़ों में गैलोटैनिक एसिड छः से तीस प्रति शत तक विभिन्न संघटनों में होता है। बाजार में मिलने वाले फलों में तीन से सात तक विभिन्न प्रतिशतकता में आर्द्रता होती है और ज्वलन पर बची हुई राख का परिमाण दस प्रति शत होता है। टैनिक एसिड मुख्यतया गूदे में होता है। इसमें एक रेचक पदार्थ भी होता है। फलों में एक हरित वर्ण तैलीय रेज़िन (oleo-resin) होता है जिसका नाम माइरोबैलेनीन है। कीट-फल (gall) में टैनिक एसिड 13.1 प्रति शत होता है। गुठली में टैनीन नहीं होता।

चिबुलिक एसिड : फलों से यह निम्नलिखित विधि से प्राप्त किया जाता है। सूखे फल चूर्ण किये जाते हैं। साधारण तापमान पर नब्बे प्रति शत सुषव (एल्कोहल) में दस दिन तक भिगोये जाने के बाद निचोड़ कर द्रव को छारण पत्र (filter paper) में छान लिया जाता है। इससे एल्कोहल पूर्णतया अलग कर लें और अवशेष को तब गरम जल में घोलें। इसमें ठण्डा पानी तब तक मिलायें जब तक दूधिया रंग बन्द न हो जाय। इस सब को, बैठने के बाद, छान लें, छारण से प्राप्त द्रव्य में सोडियम हरित् इतना मिलाएँ कि स्थिर गदलापन आ जाय और तब घोल को इथाईल एसिटेट (ethyl acetate) के साथ मिला कर हिलाएँ जो चिबुलिक और टैनिक एसिड को हल कर लेता है। टैनिक एसिड को अलग करने के लिए इथाईल एसिटेट को आसुत (distil) कर अवशेष को पानी में घोल लें और ईथर के साथ हिलाएं। रखा रहने पर जलीय

छाल में लगभग छब्बीस प्रति शत, अन्तस्त्वक् में बाईस प्रति शत, तने की बाहरी छाल में लगभग बारह प्रति शत और लकड़ी मे सात प्रति शत टैनीन मालूम किया था।

संग्रह करने के स्थान के अनुसार टैनीन में भिन्नता : टैनीन के परिमाण में भिन्नता कई बार तो वृक्ष की जाति या किस्म में भेद होने से आती है और अधिकतर यह देखा गया है कि वृक्ष के उत्पत्ति स्थान में अन्तर पड़ने से टैनीन परिमाण मे काफी अन्तर पड़ जाता है।

चौधरी और नायडू[1] ने विभिन्न ज़िलों की हरड़ों को उनकी टैनीन सम्बन्धी विशेषताओं के कारण श्रेणीकरण किया है। लेकिन इन्होंने एक स्थान के एक ही नमूने के आधार पर ऐसा किया है। एक ज़िले के जब दूसरे परिणामों को भी इसके साथ मिलाया जाय तो पता चलता है कि चौधरी और नायडू के परिणामों में अन्तर पड़ जाता है। यह सामान्यतया सच है कि सलेम की हरड़ों मे अधिक टैनीन और अच्छा रंग होता है, ब्रह्मा की हरड़ें बहुत घटिया होती हैं और दूसरे ज़िलों की मामूली दर्जे की होती हैं। लेकिन इन तीनों तथ्यों में से प्रत्येक उदाहरण के अपवाद मिल जाएंगे। इसका स्पष्टीकरण देने के लिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि विभिन्न वानस्पतिक जातियों, भेदों या किस्मों में टैनीन सम्बन्धी भेद अवश्य होता है।

संग्रह करने के समय के अनुसार टैनिंग पदार्थ में भिन्नता : डॉक्टर पोल के विश्लेषण के परिणामों के अनुसार हूपर (1902, पृष्ठ 39) ने लिखा था कि फल पकने से ज़रा पहले इकट्ठे करा लेने चाहिए। उसके बाद फ्रेमाउथ और पिलग्रिम ने भी इस बात को दुहराया। 1886 की कोलोनियल प्रदर्शनी मे जिन फलों की परीक्षा की गई थी वे अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं के थे और विश्लेषण से जिसमें सबसे अधिक टैनीन प्राप्त हुआ वह एक अपरिपक्व फल था। वस्तुतः, इसी से, बाद के सब लेखकों ने इस सिद्धान्त को आधार मान कर ही यह प्रतिपादन कर दिया था कि अपरिपक्व फलों में टैनीन की उत्कर्षता होती है। यह सम्भव है कि अधिक अच्छा टैनीन प्राप्त करने के लिए वास्तविक ऋतु कोई और हो। 1895 के बाद एक बार 'बम्बई के पूना ज़िले में उगे हुए एक ही वृक्ष से प्राप्त अधपके फलों, पके फलों और अधिक पके फलों के तीन नमूनों की इम्पीरियल इंस्टिट्यूट में परीक्षा की गई। इनमे क्रमशः 38.54, 44.76 और 37.83 प्रतिशत टैनीन निकला। अर्थात् पके फलों में टैनीन का परिमाण सबसे अधिक था' (इण्डियन फौरेस्टर, 1922)। हूपर की टिप्पणी यह थी कि 'परीक्षणों से तो अपने स्वाभाविक रूप से वृक्ष से गिरे पके फल ही उत्तम सिद्ध होते हैं।'

1915 में पूरण सिंह भी इसी परिणाम पर पहुचे थे। उनके परिमाणों के

1 चौधरी, के. एस. और नायडू, ई. वाई, 1929, साउथ इण्डियन माइरोबेलन्स। डिपार्टमेंट ऑफ इण्डस्ट्रीज़, मद्रास, बुलेटीन नम्बर 28, पृष्ठ 40। गवर्नमेंट प्रेस, मद्रास।

आंकड़े उक्त विश्लेषण दिखाते हैं कि अक्टूबर में इकट्ठा किये गये फलों की तुलना में जनवरी या मार्च मे इकट्ठा किये गये फलों में टैनीन का परिमाण उच्च होता है। परन्तु जो जनवरी में इकट्ठा किये गये थे उनमें मार्च वाले फलों की तुलना में टैनीन अधिक नहीं होता। इसलिए यह मानना चाहिए कि टैनीन अधिक प्राप्त करने के उद्देश्य से हरड़ों को जनवरी और मार्च के बीच में इकट्ठा करना चाहिए। मार्च से पहले ही इकट्ठा कर लिया जाय तो अच्छा है। परीक्षणो मे फलों की परिपक्वता की अवस्था का उल्लेख नही किया गया। सामान्यता यह ठीक है कि औसत फल जनवरी मे पकते है। लेकिन पूरण सिंह स्वयं कहते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानो मे पकने का समय अलग-अलग है।

आकृति : फल की आकृति का महत्त्व भी बहुधा बतलाया जाता रहा है। इण्डियन फ़ौरेस्ट (1890, पृष्ठ 362), वाट (1896, पृष्ठ 7 और 9), हूपर (1902, पृष्ठ 39) आदि के विचार में गोल की अपेक्षा अण्डाकार और नोकीली हरड़ें बढिया होती हैं। लम्बोतरी, नोकीली, ठोस और पीली-हरी हरड़ों के नमूने परीक्षा में गोल, स्पन्जी हरड़ो के नमूनों की अपेक्षा इतने अधिक बढ़िया समझे जाते हैं कि उन्हें एक भिन्न जाति के वृक्ष की उपज मानने की भूल हो सकती है। व्यापार मे फलों की जांच का एक सामान्य तरीका यह होता है कि फल झुर्रीदार है या चपटे पृष्ठ के। यह परीक्षा ठीक नहीं मालूम होती। टर्नर[1] के अनुसार गोल और फूली हुई हरड़ें फ़गाई से सम्भवत. अधिक जल्दी आक्रान्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त इन्हें पसन्द न करने का कोई और कारण ज्ञात नही। 1886 के सम्मेलन मे वाट ने यह सम्मति प्रकट की थी कि अण्डाकार या नोकीली क़िस्में छोटे अपरिपक्व फल होते है। बाद के लेखकों ने इसे बार-बार उद्धृत किया है परन्तु इस पर किसी ने पूरी तरह विवेचना नही की और सम्भवत: यह तथ्य ठीक भी नही है। गोल आकृति भारत में सामान्य रूप से मिल जाती है और मालूम होता है कि यह एक पृथक् जाति या किस्म के वृक्ष से प्राप्त किये गये फल होते हैं।

तथापि, आजकल चमड़ा कमाने वालों में यह परम्परा स्थापित हो चुकी है कि नोकीले और अण्डाकृति फल सबसे अच्छे होते हैं। इस विश्वास का कारण यही प्रतीत होता है कि पहले यह समझा जाता रहा है कि इस प्रकार के फल अपरिपक्व अवस्था के हैं और इसलिए उनमें टैनीन का परिमाण अधिक होगा। आकृति का टैनीन के परिमाण के साथ क्या सम्बन्ध है इस बात पर अभी और खोज करने की आवश्यकता है।

रंग : पार्कर और ब्लोकी (1903), हूपर (1902) और फ़ेमाउथ तथा पिलग्रिम (1918, पृष्ठ 21) ने बताया है कि फल का रंग उसकी टैनिंग उपयोगिता का

---

1 टर्नर, जे. ई. सी., 1907 नोट ऑन दि टर्मिनेलिआ चेबुला एण्ड इट्स फ्रूट, दि माइरोबैलेन ऑफ़ कॉमर्स। इण्डियन फौरेस्ट, 33, पृष्ठ 362-65

परिचायक नही है। इसके बावजूद जब एक चर्मकार हरड़ खरीदना चाहता है तो रंग की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देता है। रंग के आधार पर भी हरड़ों के ग्रेड बनाये जाते हैं। पार्कर और ब्लौकी ने देखा कि इन चुने हुए सब ग्रेडों में टैनीन कम परिमाण में निकलता है। इन अन्वेषकों ने बताया कि 'रंग किसी भी तरह टैनिंग शक्ति को सूचित नही करता।' हलके रंग के हरे फलों को व्यापारी सबसे अच्छी हरड़ें समझ कर चुनता है। लेकिन असलियत यह है कि ये फल कच्चे ही तोड़ लिये गये थे और मौसम के अन्त मे इकट्ठा किये गये फलो की तुलना मे इनमें टैनीन कम होता है। चर्मकारों की यह धारणा है कि हलके रंग के फलों से कमाया हुआ चमड़ा भी हलके रंग का बनता है और गूढे रंग के फलों से कमाया हुआ गहरे रंग का बनता है।

इकट्ठे किये जाने पर कुछ फलों का रंग काला क्यों हो जाता है और कुछ फल हलके रंग के क्यों रह जाते है, इसका कारण ज्ञात नही है। टर्नर (1907) ने देखा था कि काले फल जिनका गूदा भुरभुरा जाता है वे स्याही बनाने के काम आते हैं। ये रंगने या चर्मकर्म के लिए उपयुक्त नही होते। इनके रंग में परिवर्तन एक फ़गस के द्वारा होता है। इस कारण के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। सम्भव है कि जमीन पर देर तक पड़े रहे फलों पर भूमि के लोहे का प्रभाव हो जाता हो, या पकने से पहले जमीन पर गिर गये फलों में विकर (एन्ज़ाईम्स) ऑक्सिडेशन पैदा कर देते हों, अथवा अधिक पके फल दूसरों के मुकाबले मे अधिक सुगमता से सड जाते हो।

रचना : यह पहले से (वाट, 1896) ज्ञात है कि चर्मकार स्पञ्जी हरड़ो पर आपत्ति करते हैं और पिलग्रिम (1924) ने बताया था कि स्पञ्जी फल अच्छे साबित नही होते। टैनिंग उपयोगिता में ठोस हरड़ो के समान भार की स्पञ्जी हरड़ें किस तरह घटिया हैं यह अब तक निर्णीत नही किया जा सका।

गुठली और गूदे में टैनीन का अनुपात : यह सम्यक्तया ज्ञात है कि गूदे के मुकाबले मे गुठली के अन्दर टैनीन कम होता है। पिलग्रिम (1924, पृष्ठ 13-16) ने विश्लेषण मे दिखाया है कि गुठली मे 4.5 से 10.3 प्रति शत (चार नमूनों का औसत 7.1 प्रति शत टैनीन) तक टैनीन होता है। टेर्मिनालिआ पैलिडा के एक नमूने की गुठली में 13.4 प्रति शत टैनीन निकला। पूरण सिह (1911) ने नौ नमूनों में, पिलग्रिम (1924, पृष्ठ 11-16) ने तेरह नमूनों मे और चौधरी और नायडू (1929, पृष्ठ 29) ने तेरह नमूनो में गूदे और गुठली का अनुपात बताया है। चौधरी और नायडू (1924, पृष्ठ 30) कहते हैं कि गूदे तथा गुठली मे और इनमें विद्यमान टैनीन के अनुपात मे कोई निश्चित और नियमित सम्बन्ध नही प्रतीत होता। उपलब्ध ब्योरे की छानबीन करने के बाद एडवर्ड्स (1945) इस बात को ठीक नही समझते। ऊपर निर्दिष्ट पैंतीस नमूनों में से केवल तीन खराब नमूनों में अनुपात 1.97 था।

सम्पूर्ण फल में टैनीन परिमाण की भिन्नता का कारण यह है कि गुठली

अपेक्षाकृत बड़ी हो जाती है। फल के आकार के अनुसार जब गुठली छोटी होती है तो टैनीन का परिमाण अधिक होता है और जब गुठली अनुपात में गूदे से बड़ी होती है तो टैनीन कम हो जाता है। इसलिए न केवल इसी कारण छोटी गुठली वाली हरड़ लेना वाञ्छनीय होता है कि गुठली वाला निकम्मा भाग उसमें कम होगा परन्तु इसलिए भी उसे लेना वाञ्छनीय है कि उसके गूदे में टैनीन का परिमाण अधिक होगा। यह स्वीकार कर लेना कि गुठली में टैनीन बिलकुल नही होता, पूर्णतया सत्य नहीं है। इस परिणाम को ग़लत सिद्ध करने के लिए या सम्पुष्ट करने के लिए गूदे का गुठली से अलग विश्लेषण करके और अधिक परीक्षण करने की आवश्यकता है।

गुण : हरड़ हलकी, गरम और रूक्ष है। संतर्पण में पैदा होने वाले रोगों को नष्ट करती है। कषायरस प्रधान होने पर भी विपाक में मधुर है। आयुर्वेदिक लेखकों ने हरड़ के गुण बताते हुए निम्नलिखित रोगों में इसकी उपयोगिता बताई है :

महास्रोतस् : यह दीपक, पाचक, उलटियों को बन्द करने वाली, तृषाशामक, अरुचिनाशक, पेट के रोगों में हितकर, वायु का अनुलोमन करने वाली, अफ़ारा, शूल तथा हिचकी दूर करने वाली, अनुलोमक स्रोतों की रुकावट को हटा कर कब्ज़ दूर करने वाली, दोषों का अनुलोमन करने वाली, दस्तों को ठीक करने वाली और ग्रहणी (स्प्रू) नाशक है। पेट सम्बन्धी नये रोगो में विशेष लाभ करती है। वायु गोला (गुल्म), बढ़ी हुई तिल्ली, जिगर के रोग, कामला (जौण्डिस), पाण्डु (अनीमिया) और बवासीर में गुणकारी है।

श्वास संहति : कफ के रोगों को नष्ट करती है। आवाज की ख़राबी, कफ प्रकोप के कारण मुख, आंख तथा नाक से पानी बहना (ज़ुकाम), छाती तथा फेफड़ो में कफ भर जाना, खांसी और दमे मे लाभ पहुंचाती है। जमे हुए कफ को उखाड़ कर निकाल देती है।

मूत्र तथा प्रजनन संहति : पथरी, पेशाब रुक-रुक कर थोड़ी मात्रा में आना, पेशाब बन्द हो जाना, प्रमेह, नपुसकता आदि मूत्र तथा प्रजनन सम्बन्धी रोगों मे लाभकारी है। वीर्य को पुष्ट करती है।

त्वक् संहति : त्वचा की विवर्णता और कुष्ठ, खुजली आदि त्वग्रोगों को शान्त करती है। ज़ख्मो को ठीक करती है। सूजन उतारती है। कृमिनाशक है।

वात संहति : टांगों का लकवा (ऊरु स्तम्भ), अगों की ऐंठन (उदावर्त) आदि वायु के रोगों को दूर करती है।

ज्वर, शोथ : हृदय के रोगो में, पुराने मलेरिया बुख़ारों में तथा अन्य ज्वरों मे, अंगो मे पानी भर जाने (शोथ, ड्रोप्सी) मे और शरीर के सूखने की अवस्थाओं मे इसका प्रयोग गुण दिखाता है।

मस्तिष्क : मेधा और बुद्धि को बढाने वाली यह ओषधि स्मृतिशक्ति को तीव्र करती है। बुद्धि पर पड़े आवरण को हटा कर ठीक ज्ञान कराती है। मूर्च्छा हटाती है।

आंखों के लिए हितकर और सिर के रोगों में लाभदायक है।

रसायन : जिस किसी भी दवा के साथ प्रयोग की जाय यह उसके गुणों को बढ़ा देती है। यह रसायन ओषधि अगों को शिथिल होने से रोकती है। मोटापे को छांटती है। विभिन्न कारणों से रसवाही स्रोतों (एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स) से रस आदि के न बहने को दूर करती है। सब रोगों को शान्त करने वाली, इन्द्रियों को बल देने वाली, पुष्टिदायक, आयु को बढ़ाने वाली, कल्याणकारी हरड़ में आयु को स्थिर करने का परम गुण है।

हरड़ की गिरी के गुण . गुठली के अन्दर की नरम गिरी वायु तथा पित्त को हरने वाली, भारी और आखों के लिए हितकर है।[1]

स्थान भेद से गुणों में अन्तर : वृक्ष के उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से कैयदेव ने निम्नलिखित तीन प्रकार की हरड़ें बताई हैं—1 पानी वाले स्थानों पर उगने वाली, 2 मैदानी जगलो में उगने वाली और 3 पहाड़ों पर उगने वाली। इनमें सबसे बढ़िया पहाड़ी, फिर जंगली और उस से उतर कर जलीय स्थान वाली गुणकारी होती है।

हरड़ में पांच रस : संस्कृत लेखकों ने हरड़ में निम्नलिखित पांच रस माने हैं : कषाय, अम्ल, कटु, तिक्त और मधुर। छ. रसों में से लवण रस इसमें नहीं होता। कषाय रस सबसे अधिक होता है।

मध्यकालीन संस्कृत लेखकों ने पांचों रसों की फल में अलग-अलग स्थान पर स्थिति दिखाई है। इसके अनुसार फल के जो पांच स्थान या विभाग बनते हैं उनमें कौन-कौन-सा रस रहता है, इसके सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों की सम्मति नीचे दी गई है।

नरहरि	भाव मिश्र	कैयदेव
1 अस्थि मे तिक्त	1 अस्थि मे कषाय	1 अस्थि मे तिक्त
2 मज्जा मे मधुर	2 मज्जा में मधुर	2 मज्जा में मधुर
3 त्वचा मे कटु	3 त्वचा मे कटु	3 त्वचा में कषाय
4 मास में अम्ल	4 स्नायु में अम्ल	4 मास मे अम्ल
5 स्नायु मे कषाय	5 वृन्त में तिक्त	5 स्नायु में कटु

त्रिदोषहर होने में रस का कारण : किस दोष को किस रस के कारण हरड़

1 द्रव्य गुण संग्रह, फल वर्ग; 41
कैयदेव निघण्टु, ओषधि वर्ग; 212

दूर करती है, इसके बारे मे चिकित्सकों की सम्मतियां एक नही है। धन्वन्तरि[1] के मत मे वात को अम्ल से, पित्त को मधुर तथा तिक्त से और कफ को रूक्ष तथा कषाय रस से जीतती है। कैयदेव समझते है कि वात को मधुर तथा अम्ल से, पित्त को मधुर तथा कषाय से और कफ को कटु तथा तिक्त रस से नष्ट करती है।[2] भाव मिश्र[3] ने वात को नष्ट करने मे हेतु धन्वन्तरि की तरह अम्ल रस को माना है। भाव मिश्र बताते है कि हरड़ पित्त को मधु, तिक्त तथा कषाय रस के कारण और कफ को कटु, तिक्त तथा कषाय रस के कारण हरती है।

विशेष प्रभाव : यहां शङ्का उठती है कि हरड़ मे विद्यमान कटु और अम्ल रस पित्त और वात को क्यों नही पैदा करते ? क्योंकि रसों के गुणों मे बताया जाता है कि ये रस इन दोषों को पैदा करते हैं। इसका उत्तर भाव मिश्र देते हैं कि हरड़ मे तीनों दोषों को दूर करने की जो क्षमता है वह इसके प्रभाव के ही कारण है। रसों का निर्देश करते हुए दोषों को नष्ट करने की जो बात लिखी गई है वह विद्यार्थियो को समझाने के लिए कही है। समान गुणो से युक्त होते हुए भी आश्रय भेद से द्रव्यो के कर्म में भिन्नता देखी जाती है। अम्ल और कटु रस पित्त और वात के जनक होने पर भी आश्रय विशेष में विशेष प्रभाव करने वाले होते हैं। जैसे कि आवला तथा बडहर ये दोनों यद्यपि रस आदि में तुल्य है किन्तु इनके गुण भिन्न-भिन्न हैं।[4]

प्रयोग विधि के भेद से गुणों में अन्तर : हरड़ चबा कर खाई जाय तो जठराग्नि की वृद्धि करती है। शिला पर पीस कर खाने से मल का शोधन करती है। गरम बाष्पो में पका कर खाने से मल को रोकती है। भून कर खाई जाय तो वात, पित्त, कफ तीनों दोषों को नष्ट करती है।[5]

भोजन के साथ सेवन करने से बुद्धि, बल तथा इन्द्रियो को विकसित करती है; पित्त, कफ तथा वायु को नष्ट करती है और मूत्र, शौच तथा शरीर के दूसरे मलो का निर्हरण करती है। यही हरड़ भोजन कर चुकने पर खाई जाय तो खान-पान सम्बन्धी दोषों को और वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले विकारो को शीघ्र हरती है।[6]

सेन्धा नमक के साथ खाने से कफ, चीनी के साथ खाने से पित्त, घी के साथ खाने से वात सम्बन्धी रोग और गुड़ के साथ खाने से समस्त व्याधियों को दूर करती है।[7]

---

1 धन्वतरि निघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग।
2 कैयदेव निघण्टु ओषधि वर्ग; 213
3 भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 23
4 भाव प्रकाश हरीतक्यादि वर्ग; 24-25
5 भाव प्रकाश हरीतक्यादि वर्ग; 30
6 भाव प्रकाश हरीतक्यादि वर्ग; 31-32
7 भाव प्रकाश हरीतक्यादि वर्ग; 33

निर्मितियां : हरड़ से बनने वाली कुछ निर्मितियों (दवाओं) के नुस्खे (योग), उन्हें बनाने के तरीके, उनकी मात्रा, सेवन विधि आदि का विवरण यहां दिया जा रहा है। इनमें से कुछ निर्मितियां ऐसी भी हैं जिन्हें देश की फ़ार्मेसियां बड़े पैमाने पर बना रही हैं।

अभया बटी[1] . हरड, काली मिर्च, पिप्पली और सुहागा प्रत्येक समान भाग लेकर सबके बराबर शुद्ध जयपाल मिलाएं। सेहुड के दूध से मर्दन कर तीस मिलिग्राम की गोलियां बनायें।

मात्रा : दो गोली। एक हरड को तण्डुलोदक मे या गरम पानी में पीस कर उसके साथ दो गोली खाए। रोगी जब तक गरम पानी पियेगा तब तक विरेचन होगा। शीतल जल पीने से पुनः विरेचन न होगा।

रोग : जीर्ण ज्वर, रक्तपित्त, प्लीहा रोग, अम्लपित्त, उदर रोग, विशेषतः वातोदर, अजीर्ण, कामला, पाण्डु आदि।

कस हरीतकी[2] : दश मूल क्वाथ 2.374 लिटर, हरड 100, गुड़ 5 किलोग्राम; अवलेह बनाए। इसमें सोंठ, मिरच, पिप्पली, दालचीनी, इलायची और तेजपत्र प्रत्येक का 12 ग्राम चूर्ण मिलाएं। शीतल होने पर 375 ग्राम शहद और जरा-सा यवक्षार मिला दें।

मात्रा तथा सेवन विधि : एक हरड़ खा कर बारह ग्राम लेह चाट लें।

रोग : शोथ, कास, ज्वर, पाण्डु, अम्लपित्त, यकृत्-प्लीहारोग।

दशमूल हरीतकी[3] : 2.204 लिटर दशमूल क्वाथ मे सौ हरड़ पकाए। गाढा होने पर 5 किलोग्राम गुड़ तथा सोंठ, मरिच और पिप्पली 185 ग्राम मिलाए। शीतल होने पर दालचीनी, इलायची, तेजपत्र प्रत्येक का चूर्ण 12 ग्राम और शहद 375 ग्राम डालें।

मात्रा : छह से बारह ग्राम।

रोग : शोथ, उदर रोग, श्वास, पाण्डु आदि।

अभयारिष्ट[4] : हरड़ 10 किलोग्राम, मुनक्का 5 किलोग्राम, वायविडङ्ग 1 किलोग्राम और महुए के 1 किलोग्राम फूल को 195 लिटर पानी में पका कर 50 लिटर जल शेष रख लें। छान कर इसमें 10 किलोग्राम गुड़ घोले और निम्नलिखित प्रक्षेप द्रव्यों को मिला कर घड़े में बन्द कर दें।

प्रक्षेप द्रव्य : गोखरू, निशोथ, धनियां, धाय के फूल, इन्द्रायण, चव्य, सौंफ, सोंठ,

---

1 भैषज्य रत्नावली, उदररोगाधिकार; 77-81
रसेन्द्रसार सग्रह, गुल्म चिकित्सा; 22-24
2 बंगसेन संहिता, शोथाधिकार; 13-15
3 बंगसेन संहिता, शोथाधिकार; 18-20
4 भैषज्य रत्नावली; अर्शोरोगाधिकार; 105-110

दन्तीमूल और मोचरस प्रत्येक 190 ग्राम। एक महीने बाद अरिष्ट तैयार हो जाय तो छान कर रख लें।

मात्रा : छह से बारह मिलि लिटर।

रोग : बवासीर को यह जल्दी ही ठीक कर देता है, मल-मूत्र की रुकावट को दूर करता है, जठराग्नि को बढ़ाता है और पेट के अनेक प्रकार के रोगों का निवारण करता है।

महाभयारिष्ट[1] : हरड़ दो सौ फल, दशमूल, थोहर, दन्तीमूल, करंज बीज की *गिरी, नील (या काला दाना), असन (बीजासार), अपामार्ग, देवदारु, जलवेत्र, कुटज* की छाल, अटजी, दारुहरिद्रा, बड़ी कटेली, रास्ना, श्योनाक की छाल, चित्रक की जड़, वरुण की छाल मिलित 2.500 किलोग्राम को 200 लिटर जल मे पकाए और 40 लिटर क्वाथ बचा लें। छान कर 10 किलोग्राम गुड़ घोलें। घड़े में भर कर निम्न लिखित द्रव्यों के चूर्ण का प्रक्षेप दें—काली मिर्च, वायविडङ्ग, भारगी, इन्द्र जौ 375 ग्राम और पिपली 1.536 किलोग्राम। 1.536 किलोग्राम मधु भी मिला दें। अरिष्ट बन जाने पर प्रयोग करें।

मात्रा : छह से बारह मिलिलिटर।

रोग : कफज रोग, राजयक्ष्मा आदि।

हरीतकी प्रयोग[2] : सौ हरड़ों को तक्र में स्विन्न कर के कुशलता से गुठली को निकाल कर सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, पिप्पली मूल, यवक्षार, चव्य, चित्रक, पाचों नमक, अजवायन, अजमोदा, यवक्षार, सर्जक्षार, सुहागा, हीग, लौंग प्रत्येक के 96 ग्राम चूर्ण को मिश्रित कर चुक्र तथा निम्बू के रस से तीन दिन भावना दे कर उन हरड़ों मे भर दें।

मात्रा : एक से दो हरड़ प्रति दिन।

रोग : अजीर्ण, मन्दाग्नि, विसूचिका(हैज़ा), गुल्म तथा शूल आदि।

हरीतकी खण्ड[3] : त्रिफला, मोथा, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नाग केसर, अजवायन, त्रिकटु, धनियां, सौंफ़, सोया, लौंग प्रत्येक का 24 ग्राम चूर्ण, निशोथ और सनाय प्रत्येक 190 ग्राम, हरड़ 750 ग्राम, खाण्ड 3.050 किलोग्राम; यथाविधि पाक करें।

मात्रा : छह ग्राम।

अनुपान : गरम जल या दूध।

रोग : अम्ल पित्त, शूल, अर्श (बवासीर), वात रोग, कोष्ठवात, कटि शूल, आनाह (अफ़ारा) आदि।

---

1 काश्यप संहिता, राजयक्ष्मा चिकित्सा, पृष्ठ 77

2 भैषज्य रत्नावली, अग्निमान्द्याधिकार; 62-65

3 भैषज्य रत्नावली, शूल रोगाधिकार; 189-192

निस्सार बनाना : हरड़ का निस्सार ही अकेला निस्सार है जो भारत में बनाया जा रहा है। निस्सारों में जो खराबियाँ सामान्यतया हुआ करती हैं वही इसमें मिल जाती हैं। इसका रंग अच्छा नहीं होता। निर्माण में आने वाले निक्षेप के कारण इसमें अम्ल कम होता है और विशेष स्पर्श लाने की (bloom making) क्षमता भी कम होती है। चर्मकारों को फलों की अपेक्षा निस्सार में टैनीन का परिमाण इतना अधिक नहीं मिलता जितना कि ये आशा रखते हैं। फिर भी निस्सार का उपयोग हो रहा है और बाजार में इसकी खपत है। हरड़ों की अत्युत्तम किस्मों का चुनाव करने से निस्सन्देह अधिक अच्छा निस्सार बनाया जा सकता है, परन्तु इसमें जो अतिरिक्त व्यय पड़ेगा वह प्राप्त पदार्थ की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है। निस्सार का वर्तमान स्टैण्डर्ड बहुत खोज के बाद बढ़ियापन और खर्च के बीच में समझौता मान लिया गया है।[1]

चमड़ा कमाने के गुण . हरड़ बहुत सग्राही नहीं है और खाल के अन्दर बहुत तेज़ी से नहीं घुसती। इनका अकेला प्रयोग अच्छा नहीं रहता। खमीर पैदा करने और अम्ल बनाने की शक्ति की दृष्टि से चमड़ा कमाने के दूसरे मिश्रणों के साथ ये बहुत उपयोगी हैं। ये चमड़े को मुलायम करती हैं। इनमें एलैगिक एसिड (*ellagic acid*) बहुत बड़ी मात्रा में होता है, इसलिए यह एक विशेष स्पर्श पैदा करने वाला पदार्थ है।[2] खालों और ईस्ट इण्डियन किप्स के रंगों को स्थिर करने के लिए, इनका व्यवहार, दक्षिण भारत में विशेषतः होता है।

पार्कर और ब्लोकी (1903) ने दिखाया है कि जबलपुरी त्रिम्गोलें की हरड़ों में विशेष स्पर्श पैदा करने के गुण अधिकतम और शीघ्रतम हैं। बिमली हरड़ों में अम्ल तथा रंग अच्छा पैदा होता है और टैनीन का परिमाण भी सर्वोच्च होता है। जबलपुरी हरड़ में भार बढ़ाने का गुण सबसे अधिक है और रंग में ये बिमली के तुल्य हैं। निर्यात किये जाने वाली सब हरड़ों में मदुरा तथा कोयम्बटूर के नमूने और शायद सलेम के नमूने भी हलके रंग के होते हैं। (चौधरी और नायडू, 1929)।

एक किलोग्राम चमड़ा तैयार करने के लिए 110 से 175 ग्राम कुटी हुई हरड़ें ली जाती हैं। हरड़ों को रात-भर गरम पानी में भिगो देते हैं। खालों को इसमें एक-एक करके डुबोया जाता है और पास रखे हुए दूसरे टब में रख दिया जाता है। ढेर में पाँच-दस मिनिट वैसे ही रहने दिया जाता है। उसके बाद उन्हें फैलाया जाता है और उसी टब में अथवा दूसरे टब में रख दिया जाता है। हरड़ के पानी को खालों के ऊपर डाल दिया जाता है। दूसरे दिन खालें फैलाई जाती हैं और जैसा कि पहले दिन किया गया था उसी तरह उन्हें फिर वापस रख दिया जाता है।

अब फिर कुटी हुई हरड़ों की पहले जितनी मात्रा गरम पानी में दूसरे टब में

1 इण्डियन फ़ॉरेस्टर, 1922

2 इण्डियन, फ़ॉरेस्टर, 1922 और टैनिंग मैटीरियल्स ऑफ़ दि ब्रिटिश एम्पायर, 1929; पृष्ठ 68

भिगोई जाती है और रात-भर छोड दी जाती है। दूसरे दिन हरड़ लगाने की दूसरी क्रिया की जाती है। इसके लिए पहले खालों को बीम पर रगड़ा जाता है और निचोड़ा जाता है और फिर जैसा कि हरड़ लगाने की पहली क्रिया मे कहा गया है, उसे हरड के पानी मे रख दिया जाता है। दूसरे दिन उनको फैलाया जाता है और हरड लगाने की पहली क्रिया की भाति फिर रख दिया जाता है। अगले दिन खालो का रग देखा जाता है। यदि खालो में हरड़ का रंग बहुत अधिक आ जाता है तो उन्हे या तो सादे पानी से या ठण्डा पानी मिला कर हलका किये हुए हरड़ के पानी से धोया जाता है।[1]

रंगने में : भारत मे हरड रंग के रूप में भी इस्तेमाल होती है। फल के छिलके का चूर्ण कर के पानी में भिगो दिया जाता है। इसमे कपड़ा डाल कर उबाल दिया जाय तो मैला या भूरा-सा रंग आ जाता है। इसमे फिटकरी मिला देने से पीला पक्का रंग आ जाता है। लोहे के किसी लवण सामान्यतया प्रोटोसल्फ़ेट के साथ मिला कर काले रंग की विभिन्न छायाए प्राप्त करने में हरड का रंग के रूप में विस्तृत उपयोग होता है। रंग की गहराई के लिए थोड़ा-सा गुड़ और लोह गन्धित् के साथ गाव का शुष्क फल (डिओस्पिरोस एम्ब्रिओप्टीरिस *Diospyros embryopteris*) मिला कर गहरा काला रंग बनाया जाता है। हरड़ और लोहस् गन्धित (ferrous sulphate) को एक निश्चित अनुपात मे मिलाने से खाकी रग बनता है। मद्रास मे हरड़ इसी तरह से इस्तेमाल होती है और कपास, ऊन तथा चमड़े को रंगने मे अकेली भी काम आती है। उत्तर-पश्चिम प्रान्तों में निम्न मुख्य छायाए प्राप्त करने में इसका उपयोग होता है—काला, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। हरा, हल्दी और नील के साथ मिला कर। गाढा, नील के साथ। भूरा, कत्थे के साथ। काले को छोड़ कर अन्य रङ्गों में अपना रग देने के बजाय यह मुख्यतया उनके रगों को गाढ़ा करने का काम करती है जिनमें यह मिलायी जाती है। भारत में सब जगह मंजीठ, हल्दी, टेसू आदि के साथ सहायक रूप में उनके रंगों को गाढ़ा करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। कीट-फल ऊन पर हलका पीला रग देते हैं। कीट-फल स्याही बनाने, कपड़ा रंगने तथा चमड़ा कमाने मे भी प्रयुक्त होते हैं।

स्याही : लोह-लवणो के साथ फल देसी स्याही बनाने मे काम आते है। फलों की थोड़ी प्रतिशतकता मे त्वचा के नीचे का भाग भुरभुरा जाता है। जिन फलो में यह हो जाता है वे चर्म-कर्म में काम नही आते, पर स्याही बनाने मे काम आ जाते है।

कीट-फलों के उपयोग : ओक के कीट-फल की तरह हरड़ के कीट-फलो (galls) से अच्छी स्याही बनाई जाती है। कोरोमण्डल तट पर इनसे बहुत बढ़िया और टिकाऊ पीला रंग बनाया जाता है। तमिल लोग इन्हें कादुकाई और तैलग लोग अल्दिकाई कहते हैं। कीट-फलों में टैनिक एसिड प्रचुर होता है और इसलिए चर्म-कर्म में तथा

---

1 विज्ञान प्रगति, सितम्बर, 1955, पृष्ठ 237

रंगों को पक्का करने के लिए रंगने में काम आते हैं।

हरड़ के पत्ते चारे के रूप में पशुओं को खिलाये जाते हैं।

छाल : छाल चमड़े को कमाने और रंगने के काम आती है। यह कभी-कभी खाकी और काला रंग रंगने में और बंगाल तथा मनीपुर में बांसों को रंगने में काम आती है। छाल बहुत ग्राही होती है और रंगों में वही छायाएं देती है जो बबूल की फलियों से आती हैं, परन्तु ये कुछ अधिक पीली आभा लिए हुए होती हैं।

लकड़ी : लकड़ी अच्छी टिकाऊ है। इस पर पौलिश अच्छी होती है, फ़र्निचर, बैलगाड़ियों, कृषि-उपकरणों और मकानों के बनाने में काम आती है।

गोंद : वृक्ष एक गोंद देता है। बरार में यह बहुत इकट्ठी की जाती है और अनेक दूसरी गोंदों—कीकर, धौरा, महुआ, बकायन आदि के साथ मिला ली जाती है। गोंदों से इकट्ठी की गई यह मिश्रित गोंद स्थानिक बाजार में आती है और चिकित्सा प्रयोजन के लिए या रंगरेजों को रंगों में मिलाने के लिए बेच दी जाती है।

चिकित्सा में उपयोग : बहेड़े और आंवले के साथ मिला कर त्रिफला के नाम से प्रायः सब रोगों में विस्तृत रूप से हरड़ का प्रयोग भारतीय चिकित्सा में किया जा रहा है। चिकित्सा की प्राचीन पद्धति में जिन द्रव्यों का सबसे अधिक उपयोग हुआ है उनमें हरड़ है। वैद्य कालिदास ने अपनी पुस्तक वैद्य-मनोरमा में लिखा था, 'निष्णात वैद्यवरो ! मेरी यह अनुभवपूत स्थापना सुनो—बस, इस सृष्टि में हरड़ के समान गुणकारी कोई द्रव्य नहीं है।'[1]

माता के समान हितकर : घरेलू चिकित्सा का यह महत्त्वपूर्ण अंग बन गई है। संस्कृत की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'जिसकी माता न हो उसकी मां हरड़ समझ लेनी चाहिए।'[2] इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि माता के मर जाने पर शिशु को दूसरा दूध देने से जो विकार पैदा हो जाते हैं उन सबको दूर करने के लिए हरड़ देनी चाहिए। माता के दूध से दूसरे दूध में जो विभिन्नताएं हैं उनसे होने वाले दोषों की रोक-थाम के लिए शिशु को हरड़ देनी चाहिए।

सब अवस्थाओं में लाभदायक : भोजन खाने के बाद, भोजन से पूर्व, भोजन के बीच में, भोजन पच जाने पर, भोजन न पचा हो तब और भोजन न पूरा पचा हो और न ही पूरा कच्चा हो तब भी हरड़ का सेवन लाभ करता है। राज वल्लभ बताते हैं कि हरड़ मनुष्यों के लिए माता के समान हितकारी है। माता को कभी गुस्सा आ भी जाता है परन्तु किसी भी अवस्था में खाई गई हरड़ दोषों को प्रकुपित नहीं करती। बच्चों को हितकर उपदेशों में भी बताया जाता है कि हरड़ तो सदा पथ्य है, बेर का फल कुपथ्य है।[3] पथ्य पदार्थों में चरक ने हरड़ को सबसे श्रेष्ठ

1 वैद्य मनोरमा, रसायन वाजीकरणाधिकार।
2 माता यस्य गृहे नास्ति तस्य माता हरीतकी।
3 हरीतकी सदा पथ्या कुपथ्य बदरीफलम्। हितोपदेश

बताया है ।[1]

आयु बढ़ाने वाली : शक्ति बढाने, बुढ़ापे के प्रभाव के रोकने और आयु को दीर्घ करने के लिए बलदायक रसायन के रूप में हरड़ का विस्तृत प्रयोग किया जाता है।

प्रजास्थापक और वय:स्थापक दस-दस ओषधियो के समूह में चरक ने हरड़ का पाठ किया है।[2] हरड़ को घी में भून कर बनाये चूर्ण को घी मे मिला कर खाने से और उत्तम भोजन करते रहने से शरीर में बल आता है और शक्ति बनी रहती है।[3]

रसायन : जिस द्रव्य के द्वारा शुभ गुणयुक्त रस आदि धातुओं की प्राप्ति हो वह रसायन कहा जाता है।[4] शरीर मे रस आदि धातुओं के स्वस्थ रहने के कारण ही जरा तथा अन्य रोग इसे शीघ्र अभिभूत नही करते। शरीर की कार्य क्षमता और रोग प्रतिरोधक शक्ति बनी रहती है जिससे शरीर पर रोगों का आक्रमण नही होता। बुद्धि, मन आदि भी आहार पर आश्रित रहते हैं। सात्त्विक आहार से मन और बुद्धि भी सात्त्विक होती है। इसीलिए सात्त्विक भोजन करते हुए रसायन के उपयोग से मन श्रेष्ठ तथा बुद्धि कुशाग्र होती है और स्मृति-शक्ति बढ़ती है। इस पुस्तक में हमने महर्षियों द्वारा प्रतिपादित जिन रसायनों का वर्णन किया है उन सबके यही लाभ हैं। अतिशयोक्ति से द्रव्यों के गुण प्रतिपादन की प्राचीन शैली के अनुसार लेखकों ने प्राय: प्रत्येक रसायन का लाभ सौ और हजार साल तक जरा और रोग रहित होकर जीना लिखा है। यद्यपि यह अतिशयोक्तिपूर्ण है परन्तु इसे हम सर्वथा असत्य नही समझते। नियमों का पालन करते हुए विधिपूर्वक रसायन सेवन से आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

अधिक रसायनों को कुटी प्रावेशिक विधि से सेवन करने का विधान है। पाठकों को इससे परिचित कराना अप्रासंगिक न होगा।

चिकित्सक सुलभ और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त स्थान देख कर अच्छी स्वस्थ भूमि पर पर्याप्त लम्बा-चौड़ा त्रिगर्भा मकान बनाये। इसका मुख पूर्व व उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए। त्रिगर्भा का अभिप्राय उस मकान से है जिसमें एक के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा कमरा हो। इसकी दीवार मोटी हो और यह प्रकाश के लिए खिड़कियों और रोशनदानों से युक्त होना चाहिए।[5]

सूर्य उत्तरायण हो और शुक्ल पक्ष हो तब किसी शुभ दिन मुण्डन करवा कर, ईश स्तुति करके, शुद्ध और शान्त मन से कुटी में प्रवेश करे। स्नेहन और स्वेदन करके

---

1 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 25
2 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4; 12
3 अष्टांग हृदय, उत्तर तन्त्र, अध्याय 39; 148
4 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलकीय रसायन पाद: 7
5 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलकीय रसायन पाद; 16-19

रोगी का संशोधन करना चाहिए। इसके लिए हरड़ों का चूर्ण, सेंधा नमक, आंवला, गुड़, वच, वायविडङ्ग, हल्दी, पिप्पली और सोंठ के चूर्ण को गरम जल से पीना चाहिए।[1] सामान्य विरेचन के लिए साधारण उत्तम हरड की मात्रा चार से छः ग्राम तक है। ब्रिटिश फार्माकोपिया की मात्रा दो से चार ग्राम है। हरड़ जितनी अच्छी होगी मात्रा उतनी ही कम होगी। शोधन के लिए अन्य द्रव्यों की अपेक्षा हरड़ अधिक देनी चाहिए। शरीर शुद्ध हो जाने पर पेया, यवागू, खिचड़ी आदि हलका भोजन देना चाहिए। कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर रोगी की प्रकृति के अनुसार उसके लिए जो उपयोगी रसायन हो उसका सेवन कराना चाहिए। रोगी के लिए कौन-सा आहार और औषध सात्म्य है यह जान लेना चाहिए।[2]

हकीम लोग पके फल को सारक, पित्त और बलगम का नाश करने वाला कहते हैं।

अनेक रोग नाशक · हरड़ सेवन करने की कुछ ऐसी विधियां यहां दी जा रही हैं जिनमें किसी एक ही विधि के अनुसार सेवन करने से अनेक रोगों को दूर करके स्वास्थ्य लाभ किया जा सकता है।

हरड को बारीक पीस कर उसमें आधा मुनक्का मिला लें। मुनक्के के बीज निकाल फेंकें। दोनों चीज़ों को कूट कर एक पिण्ड बना लें। इसमें से बहेड़े जितनी बड़ी गोली बना कर प्रभात में खा लिया करें। इससे पित्त का नाश होता है। निम्नलिखित रोगों को भी यह सुगमता से दूर कर देती है— अफ़ारा, अरुचि, वायुगोला (गुल्म), खांसी, पाण्डु (अनीमिया), कामला (जौण्डिस), विषमज्वर, हृदय के रोग, रक्त तथा त्वचा के कुष्ठ आदि विकार और मूत्र तथा प्रजनन संहति के रोग (मेह)।

गोविन्द दास का विश्वास है कि मधु भावित हरड इन रोगों में अवश्य लाभ करती है—अरुचि, अजीर्ण, अफारा, शूल, खट्टे डकार आना (अम्लपित्त), हिचकी, दस्त, बार-बार प्यास लगना, शरीर में गरमी तथा जलन अनुभव होना, बुख़ार, सिर चकराना (भ्रम), खून की कमी (पाण्डु), अधिक शराब पीने से पैदा होने वाले रोग (मदात्यय), किसी मार्ग से खून आना (रक्तपित्त), खांसी, दमा, पेशाब तथा जनन सम्बन्धी रोग, त्वचा के रोग और आखों के रोग।

ऋतु हरीतकी : रसायन का लाभ प्राप्त करना चाहने वालों के लिए भाव मिश्र, गोविन्द दास आदि ने हरड़ को सारे साल अलग-अलग चीज़ों के साथ खाने के निर्देश दिये हैं। वर्षा ऋतु में सेंधा नमक के साथ, पतझड़ (शरद्) में चीनी, शीत ऋतु के पूर्वार्द्ध (हेमन्त) में अदरक और उत्तरार्द्ध (शिशिर) में पिप्पली, वसन्त में शहद और दो गरम महीनों में गुड़ के साथ प्रतिदिन प्रात काल एक हरड़ खाना सब रोगों को नष्ट

1 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलकीय रसायन पाद: 20-25
2 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलकीय रसायन पाद: 25-26

करने वाला समझा जाता है। गुड़ का परिमाण हरड़ के बराबर और चीनी हरड़ से आधी ली जानी चाहिए। नमक वाले मिश्रण को पानी के साथ और शेष सब मिश्रणों को दूध के साथ लिया जाना चाहिए।

पेट के रोगों में : हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ प्रयोग करने से चरक ने पेट के रोगों में लाभ देखा है। पेट के रोगों के लिए हरड इतनी अधिक लाभदायक समझी जाती थी कि चरक उदर विकारों में एक हज़ार हरड़ खिला डालते थे।[1] एक हजार हरड़ें किस विधि से खिलाई जाएं, इस सम्बन्ध में आजकल के चिकित्सकों की सम्मतियां भिन्न-भिन्न हैं। कई विद्वान् एक हज़ार हरड़ों का प्रयोग रसायनोक्त पिप्पली वर्द्धमान के क्रमानुसार करने के लिए कहते हैं। यह दस हरड का वर्द्धमान क्रम प्राचीन काल की उत्तम मात्रा है। मध्यम मात्रा दिन में छः हरीतकी और अल्प मात्रा तीन हरीतकी समझनी चाहिए। परन्तु ये सब मात्राएं आधुनिक पुरुषों के लिए अत्यधिक हैं। इससे आज कल के अपेक्षाकृत निर्बल पुरुषों को लाभ के स्थान पर हानि होने का भय है। अतः कुछ विद्वान् ऐसा विचार करते हैं—पहले एक हरड़ के सेवन से आरम्भ करें। दस दिन तक प्रति दिन एक हरड बढ़ाते जाएं। इस प्रकार प्रथम दस दिन तक पचपन हरीतकी का सेवन होगा। उसके बाद नब्बे दिनों में नौ सौ हरड़ों का सेवन हो जायगा। फिर प्रति दिन एक-एक कम करते जाए, अर्थात् पहले दिनों मे उतरते क्रम से लेते जाएं। इस प्रकार इन दिनों में पैंतालीस हरड़ो का सेवन होता है और एक सौ नौ दिनों में $55+900+45=1000$ हरड़ों का सेवन होगा। यह क्रम भी बहुत ठीक नही रहता। पृष्ठ सत्ताईस पर वर्णन किए गये हलिलेह-ए-ज़ीरा और हलिलेह-ए-जर्वि भेदों को पूर्वोक्त वर्द्धमान क्रम से कुछ वैद्यों ने हज़ार की संख्या मे प्रयोग कराया है, इससे हानि नही होती। लेकिन हमारी धारणा तो यह है कि चरक महर्षि को हरड़ के ये भेद ज्ञात नही थे और वे पूर्ण पके फलों के सेवन का उपदेश करते है। इसलिए 'हरीतकी सहस्रं वा' का अर्थ इससे भिन्न करना चाहिए।

वस्तुतः चरक ने स्वयं वर्द्धमान क्रम से हज़ार हरड़ें खाने को नही लिखा परन्तु उनके भाष्यकारों ने ऐसा लिखा है। चरक का आशय सम्भवतः यह है कि उदर रोगी सब मिला कर हजार हरड़ें खा डालें। शरीर के बल के अनुसार प्रति दिन एक या दो हरड़ खानी चाहिए। इस तरह हजार या पाच सौ दिनों में, हज़ार हरड़ो का प्रयोग हो जाएगा। हमे चरक के कथन की यह व्याख्या अधिक ठीक मालूम होती है। हम ऐसे कुछ लोगों को जानते हैं जो सालों से रोज हरड़ या त्रिफला का सेवन कर रहे हैं। इस विधि से दैनिक प्रयोग करते हुए तो हमने अनेक लोगों को लाभ उठाते देखा है परन्तु वर्द्धमान क्रम से सेवन करना हमें व्यवहार्य नही लगता। चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के बल और दोष आदि की परीक्षा करके जैसा उचित समझे वैसा ही करे।

---

1 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 13; 151

अजीर्ण, वमन : भोजन पचता न हो तो (आमाजीर्ण में) गुड़ के साथ नित्य हरड़ खाने से लाभ होता है।[1] हरड़ को पीस कर गुड़, सोंठ या सेंधा नमक के साथ वायु व पित्त के रोगों में सेवन करने से अमाशय की अग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है।[2] हरड छह तोला, पिप्पली चार तोला, गजपिप्पली, चित्रक, हीग, सेंधा नमक प्रत्येक बारह ग्राम लेकर चूर्ण बना लें। इसका सेवन अग्नि को दीप्त करने में रसायन का काम करता है, पाचक रसों को उचित मात्रा में उत्पन्न करता है और भूख बढ़ाता है। सेंधा नमक बारह ग्राम, अजवायन चौबीस ग्राम, चित्रक छत्तीस ग्राम, पिप्पली अड़तालीस ग्राम, सोंठ साठ ग्राम, और हरड़ का गूदा एक सौ अस्सी ग्राम ले कर चूर्ण बना लें। इसका प्रयोग साक्षात् आग के समान जठराग्नि को दीप्त कर देता है। उलटियों को रोकने के लिए शहद के साथ हरड़ का चूर्ण चटाया जाता है। हिचकी मे कोसे पानी के साथ खाने से हरड लाभ करती है।

शूल : पित्तशूल की शान्ति के लिए गुड और घी के साथ हरड का चूर्ण खाया जाता है। गोमूत्र मे पकाई हरड़ को सुखा कर पीस लें। इसमें लोह भस्म मिला कर गुड के साथ सेवन करने से सब प्रकार का शूल नष्ट हो जाता है।

वायु गोला : सुश्रुत ने वायु गोले (गुल्म) में गुड़ के साथ हरड़ को प्रयोग किया है। कश्यप गुल्म की कोष्ठबद्धता मे हरड़ और गुड को मिला कर दूध के अनुपान से रोगी को खिलाते है।

अनुलोमन : सुश्रुत फलों मे विरेचन के लिए हरड को श्रेष्ठ समझते हैं। शार्ङ्गधर ने हरड़ को उत्तम अनुलोमक के रूप मे देखा है। मलों का पाक और भेदन करके वे लिखते है, जो अवरोध को नीचे ले आये वह अनुलोमन द्रव्य समझना चाहिए, जैसे हरीतकी। पित्त और कफ के दोषों को दूर करने के लिए पके फल को विरेचन के लिए दिया जाता है। बिना गर्मी और क्षोभ उत्पन्न किए यह शीघ्रता से कार्य करती है। चिरस्थायी मलबन्ध वाले और जिन्हे पित्त की अधिकता की शिकायत रहती है या कोई ऐसा कष्ट हो जिसमें एक कोमल अनुलोमन लेने की बहुधा ज़रूरत रहती है, ऐसे व्यक्ति हरड के प्रयोग को बहुत सुविधाजनक पाते हैं। हरड़ का मुरब्बा रात को सोते समय दस्तावर के रूप मे लिया जाता है। चिरस्थायी मलबन्ध में प्रतिदिन गुड के साथ हरड़ ली जा सकती है। सौंफ, जीरा, धनिया आदि सुगन्धित द्रव्यों के साथ हरड को विविध रूपों में कोष्ठबद्धता के लिए लिया जाता है। विरेचन के लिए इसे लेने का एक तरीका यह है कि फल के गूदे का साढे तीन से सात ग्राम चूर्ण लेकर ज़रा-सी सौंफ के साथ काढ़ा या फाण्ट बना लें। इसमे शहद या खाण्ड मिला कर पी जाए। कई लोग रात को बिस्तर मे जाने से पूर्व हरीतकी चूर्ण की फक्की लेकर ऊपर से गरम पानी या दूध पी लेते हैं जिससे सुबह अनुलोमन हो जाय। कोमल प्रकृति वालो को छह से

---

1 भाव प्रकाश, अजीर्ण चिकित्सा।
चक्रदत्त, अग्निमान्द्य चिकित्सा; 11

बारह ग्राम हरीतकी खण्ड रात को सोते समय एक गिलास गरम दूध या गरम जल से लेना अच्छा रहता है। इससे सुबह पेट साफ़ हो जाता है। छ. हरड़ों के गूदे को साढ़े तीन ग्राम लौंग मे दालचीनी के साथ 115 मिलिलिटर पानी में दस मिनिट तक उबाल कर छाल लें। विरेचन के लिए यह सब एक मात्रा सुबह ली जानी चाहिए। जिन्हे मल कठोर, रूक्ष और बकरी की मेंगनियों की तरह गांठों मे आता हो उन्हें तीन ग्राम हरड़, आधा ग्राम नौसादर और एक ग्राम कुटकी मिला कर कुछ दिन तक सुबह आवले के शीत कषाय से लेना चाहिए।

भाव मिश्र ने ऐसी हरड़ें देखी थीं जिन्हे खाने से, सूघने से, छूने से या देखने से ही अनुलोमन हो जाता था।[1] चेतकी हरड़ में यह विशेषता कही जाती थी कि वह जब तक हाथ में रहे तब तक दस्त होते जाते थे। यद्यपि आजकल लोग इस बात पर अविश्वास प्रकट करते हैं, परन्तु चेतकी के इस प्रभाव की सचाई के बारे में नरहरि[2] और भाव मिश्र[3] को तनिक भी सन्देह नही था। भाव मिश्र ने इसका अनुलोमक प्रभाव दिखाते हुए लिखा है कि चेतकी की छाया मे जो मनुष्य, पशु, पक्षी, हिरण आदि चले जाते हैं वे उसी क्षण दस्त करने लगते हैं। जो लोग हरड़ के इन प्रभावों पर सन्देह प्रकट करते हैं वे व्यंग मे कहते हैं कि 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'। इस लोकोक्ति का अभिप्राय यह है कि—क्योंकि मुख से कुछ बोलना है तो यही कहना चाहिए हरड़ तो दस हाथ लम्बी होती है।

राजाओं के लिए, कोमल प्रकृति वालों के लिए, निर्बल लोगों और दवाई से द्वेष करने वालों के लिए चेतकी परम हितकर कही गई है क्योंकि इससे सुखपूर्वक रेचन हो जाता है।[4]

दस्त, पेचिश : ग्राही और शामक गुण के कारण हरड़ प्रवाहिका तथा अतिसार की उत्तम ओषधि समझी जाती है। इस प्रयोजन के लिए इसे अकेला या सुगन्धित तथा पाचक द्रव्यों के साथ दिया जाता है। आमातिसार में पहले संग्राहक ओषधि नही दी जानी चाहिए क्योंकि मल के साथ दोषों के अवरुद्ध हो जाने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। स्वयं प्रवृत्त हुए मल मे अथवा कष्ट से आते हुए मल मे हरड़ देने से मल के साथ दोषों के बाहर निकल जाने पर आमातिसार शान्त हो जाता है, शरीर हलका होता है और भूख बढ़ती है।[5] पक्वातिसार में आम पाचन के लिए गरम जल के साथ हरड़ का चूर्ण खायें। चूर्ण की पच्चीस

---

1 भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 14
2 राज निघण्टु, आम्रादि वर्ग; 225
3 भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 16
4 भाव प्रकाश, हरीतक्यादि वर्ग; 15-17
5 चरक, चिकित्सा स्थान; अध्याय 19, 18, 20-21

सेण्टीग्राम की गोलिया प्रवाहिका, विशूचिका, अतिसार और पुरातन अतिसार में दी जाती है। हरड और पिप्पली के समान भाग चूर्ण को गरम पानी के साथ खाने से बार-बार थोडी-थोडी मात्रा मे होने वाले प्रबल और शूलयुक्त अतिसार नष्ट होते हैं।

बवासीर में : बवासीर हटाने वाली दस ओषधियों में चरक ने हरड़ को गिनाया है। बवासीर मे कठोर कोष्ठ की प्रकृति वालों को मल के अनुलोमन के लिए वाग्भट गोमूत्र मे उबाली हुई हरड़ को गुड़ के साथ खिलाना प्रशस्त समझते हैं। रात भर गोमूत्र मे रखी हुई हरड़ को गुड़ के साथ या हरड़ के चूर्ण को लस्सी के अनुपान से बवासीर मे प्रयोग करने से लाभ होता है। हरड़ को घी में भून कर चूर्ण बना लें। इसमे पिप्पली चूर्ण और गुड़ मिला कर बवासीर के रोगी को अनुलोमन के लिए दें। भीतरी बवासीर के रोगी को सुबह हर रोज गुड के साथ हरड़ का सेवन करना चाहिए। खूनी बवासीर वाले को भोजन के बाद प्रतिदिन हरड़ के साथ गुड खाने से लाभ होता है।

बवासीर के लिए हरड़ का काढा ग्राही प्रक्षालन द्रव्य है। शौच होने के बाद इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। मस्सो में कष्ट अधिक हो तो कोसे या ठण्डे काढे से दिन में दो-तीन बार धो डालना चाहिए।

खून आना : बांसे के रस मे हरड के चूर्ण को खूब रगड़ कर सुखा लें। इस प्रकार बार-बार भावना दे कर सुखाए चूर्ण मे जरा-सी पिप्पली मिला कर शहद के साथ चाटने से वश मे न आने वाला बहता हुआ खून (रक्तपित्त) बन्द हो जाता है।[1]

ज्वरों में . सन्निपात-ज्वर में दाह दूर करने के लिए हरड़ चूर्ण को तेल, घी और मधु के साथ चाटें।[2] ज्वरहर दशेमानि में चरक ने हरड़ को गिनाया है।[3] कफजन्य पाण्डु में गोमूत्र से पकाई हुई हरड़ लाभ करती है।[4]

जुकाम : जुकाम को दूर करने के लिए हरड़ का एक ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध को एक बार जुकाम हो गया। जीवक ने उन्हें विरेचनीय द्रव्यों से भावित कमलो की नस्वार दी। उससे बत्तीस छींकें आईं। परन्तु जुकाम गया नही। जीवक ने गुड़-हरीतकी को मण्ड के अनुपान से दिया। भगवान् ठीक हो गए।

खांसी, दमा : एक हरड़ को यवकुट करके चिलम में रख कर पीने से दमे का दौरा बन्द होता है। चरक सहिता में कासहर दस ओषधियों मे हरड़ परिसंख्यात है।

मदात्यय : शराब अधिक पीने से होने वाले रोगों (मदात्यय) को दूर करने के लिए दूध में हरड का काढ़ा मिला कर पीना चाहिए। मदात्यय की चिकित्सा के प्रकरण मे भाव मिश्र ने जायफल के मद को नष्ट करने के लिए हरड का सेवन हितकर बताया है।

---

1 हारीत सहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 11
2 भाव प्रकाश, ज्वर चिकित्सा
3 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4
4 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 16;56

मूत्र संहति के रोगों में : हारीत सब प्रकार के प्रमेहों में हरड के चूर्ण में शहद मिला कर खाने के लिए सिफ़ारिश करते हैं। कष्ट से पेशाब आने में तथा मूत्र-सस्थान के अन्य रोगों (प्रमेह) में चरक लस्सी के साथ हरड का सेवन कराते हैं। हरड की गुठली को गो-दुग्ध में पका कर पथरी में पीने के लिए वाग्भट कहते हैं।

वातरक्त : वातरक्त (गठिया) में गुड़ और हरड़ का सेवन करें। एक-दो हरड़ों को गुड़ के साथ खा कर गिलोय का क्वाथ अनुपान मे पियें तो वातरक्त, जिसमें जानुपर्यन्त स्फुटित हो गया है, शान्त हो जाता है।

वृद्धि रोग : गोमूत्र में पकाई हरड़, तेल और सेंधा नमक को सम-भाग में मिला कर प्रातःकाल कफ-वातज वृद्धि के नाश के लिए सेवन किया जाता है। बहुत पुराने और बढ़े हुए वृद्धि रोग के नाश के लिए चक्रपाणि ने हरड़ को सेवन करने का तरीका यह बताया है—गोमूत्र मे पका कर हरड़ को एरण्ड तेल में भून लें। इसमें सेंधा नमक मिला कर कोसे पानी के साथ खाएं।

फील पांव : हरड़ को पानी के साथ सिल पर पीस कर पतली लुगदी बना लेते हैं। कफज श्लीपद मे गोमूत्र के साथ इसे पिलाया जाता है। फील पांव को संस्कृत मे श्लीपद कहते हैं और अंग्रेजी में एलिफ़ेण्टायसिस। इसमें रोगी के पैर तथा दूसरे अग असाधारण रूप से बढ़ कर हाथी के अंगों के समान आकार-प्रकार धारण कर लेते हैं।

त्वचा के रोग : कुष्ठ आदि त्वचा के रोगों को नष्ट करने वाली दस औषधियो में चरक ने हरड़ को गिनाया है।[1] स्थानीय लेप के रूप मे और खान-पान मे इसका प्रयोग किया जाता है। खाने-पीने के विविध प्रयोगो मे देने से यह अन्दर से मलों का निर्हरण भी करेगी।

जख्मों पर : हरड़ों में प्रचुर परिमाण में गैलिक एसिड होने के कारण पुराने जख्मों तथा घावों पर लेप के रूप में और मुख-पाक में गरारो के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। फल के सूखे गूदे को जला कर बनाई भस्म मक्खन के साथ या वेजलीन के साथ व्रणों पर उत्तम मरहम के रूप मे इस्तेमाल होती है। बहुत बारीक पीसे हुए ह॰ड़ के कल्क को कैरन तेल के साथ मिला कर जल जाने पर और छालों पर लगाने से अकेले कैरन तेल को लगाने की अपेक्षा आराम शीघ्र आता है।

मुख तथा गले के रोग : बच्चों और युवाओं के मुख पाक मे इसका प्रयोग किया जाता है। कण्ठ रोग में हरड़ का कषाय मधु के साथ पिलाया जाता है।[2] कण्ठ व्रण के लिए कषाय ग्राही प्रक्षालन द्रव्य है। दिन मे दो-तीन बार इसके कषाय से गरारे करने चाहिएं। सिक्किम के पहाड़ी लोग कण्ठ व्रण की ओषधि के रूप में फलों का व्यवहार करते हैं। बूढ़े लोग कत्थे के साथ हर॰ के चूर्ण का दांतों को मज़बूत करने के

---

1 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4; 14 (13)
2 अष्टांग संग्रह, उत्तर तन्त्र, अध्याय 22;55

लिए चबाते हैं। फल का सूक्ष्म चूर्ण दन्तमंजन के रूप में खाये हुए दांतों, रक्तस्रावी और व्रणी मसूड़ों के लिए प्रयुक्त होता है।

आंख के रोग : फलों के यवकुट चूर्ण को पानी में भिगो कर रात भर रखा रहने देकर प्रातःकाल उससे आंख धोई जाय तो यह आंखों के लिए बहुत ठण्डा प्रक्षालन द्रव्य समझा जाता है। इसके हलके जलीय शीत कषाय से प्रतिदिन आंख धोने से आंख की जलन शान्त होती है। आंखों के रोगों में घी में भुनी हुई हरड़ का लेप बना कर आंख के चारों ओर लगाया जाता है। लोहे के बरतन में हरड़ को हल्दी के रस के साथ घोट कर बनाए कल्क को चिप्प रोग में बार-बार लेप करना चाहिए।

हरड़ खाने का निषेध : अजीर्ण रोगी, रूक्ष आहार करने वाले; स्त्री भोग, मद्यपान या किसी विष के सेवन से दुर्बल, भूख, प्यास तथा गरमी से पीड़ित; बलहीन रूक्ष पुरुष को और मार्ग की थकावट से चूर, उपवास के कारण कमजोर, पित्त की अधिकता वाले तथा जिनका बहुत-सा खून निकल गया है ऐसे कृश लोगों को और गर्भवती स्त्री को हरड़ का सेवन नहीं करना चाहिए। निम्नलिखित रोगों में भी इसके प्रयोग करने का निषेध किया गया है—हनुस्तम्भ, गलग्रह, मुखशोथ और नवज्वर। नरहरि पण्डित ने शोथ में हरड़ को देना मना किया है परन्तु सुश्रुत, चक्रपाणि, भाव मिश्र और कैयदेव शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

: दो :

बहेड़ा

इतिहास : बहेड़े का सबसे प्रथम उल्लेख हमे ऋग्वेद मे मिलता है। मालूम होता है कि जुए के खेल में बहेड़े से बने पासों से खेलना अधिक पसन्द किया जाता था। जुए का एक खिलाडी कहता है—खूब हवा वाले, सूखे स्थान में उगने वाले, फैले हुए, जुए के खिलाड़ियों को कंपा देने वाले बहेड़े के पासे मुझे खूब मस्त कर देते हैं। मूंजवान् पर्वत पर पैदा होने वाले सोम के सेवन की तरह बहेड़े मुझे जगाये रखते हैं। आध्यात्मिक चर्चा में भी हम बहेड़े का उल्लेख पाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् का एक प्रकरण है—'जिस प्रकार मुट्ठी में रखे दो आंवलों या दो बेरों अथवा दो बहेड़ों को मुट्ठी अनुभव कर रही होती है उसी तरह वाणी और नाम को मन अनुभव करता है।' श्रीमद्द्वैपायन कहते हैं कि यदि बहेड़े के फूलों से देवी की पूजा की जाए तो पूजा करने वाला उन्मत्त हो जाता है। दुर्गंध के कारण ही पूजा में इन फूलों का प्रयोग मना किया होगा।

महाभारत और पुराण में भी बहेड़े का वर्णन मिलता है। बृहदश्व ने दमयन्ती के अरण्यपथ में आने वाले वृक्षों में हरड़, बहेडे और आंवले को गिनाया है। चरक और सुश्रुत आदि के समय मे बहेड़े का स्वतन्त्र रूप से व्यवहार प्रायः नहीं होता था। आजकल भी इसका उपयोग अन्य द्रव्यों के साथ या त्रिफला के अंग रूप में अधिक होता है। स्वतन्त्र रूप से प्रयोग कम होता है।

संस्कृत के नाम : आयुर्वेदिक साहित्य मे बहेड़े के निम्नलिखित नाम मिलते है :

राज निघण्टु	धन्वन्तरि	भाव प्रकाश	कैयदेव	मदन विनोद
1 विभीतक	1 विभीतक	1 विभीतक	1 विभीतक	1 विभीतक
2 बहेडक	2 बहेडक		2 बहेडक	
3 संवर्तक	3 सवर्तक			2 संवर्तक
4 वासन्त	4 वासन्त		3 वासन्त	3 वासन्त
5 हार्य	5 हार्य			
			4 हर्यक्ष	
6 अक्ष	6 अक्ष	2 अक्ष	5 अक्ष	4 अक्ष

7 कर्पफल	7 कर्पफल	3 कर्पफल	6 कर्पफल	5 कर्पफल
8 तैलफल			7 मधुबीज	
			8 कल्पद्रुम	
9 भूतवास	8 भूतवास	4 भूतवास	9 भूतवास	6 भूतवास
10 कलिद्रुम	9 कलिद्रुम	5 कलिद्रुम	10 कलिद्रुम	7 कलिद्रुम
		6 कलियु-गालय		
11 कलिक				
	10 कल्क			
12 कलिकवृक्ष				
13 धर्मघ्न				
14 कासघ्न			11 धर्मद्वेषी	
15 अनिलघ्नक				
16 बहुवीर्य				
			12 कुशिक	
			13 तुप	
			14 विन्ध्या-जात	8 विन्ध्या-जात
			15 तिल-पुष्प	9 तिल-पुष्पक
			16 मल	
			17 रोम-हर्षण	

कैयदेव के कलिद्रुम और कल्पद्रुम दोनों पर्याय विपरीत अर्थवाची प्रतीत होते हैं। एक वृक्ष की हीनता प्रदर्शित करता है और दूसरा उसके महत्त्व को दिखाता है। वसन्तार्त्त और वासन्त भी इसी तरह विपरीत अर्थवाची नाम हैं।

संस्कृत नामों का अर्थ : उत्पत्तिबोधक नाम : विन्ध्यजात (विन्ध्य पर्वत में उगने वाला)। परिचयज्ञापक नाम : कलिक, कलिकवृक्ष, कलिद्रुम (कलि का वृक्ष; नल के सारथी बाहुक के शरीर से उत्पन्न कलि को जब नल शाप देने लगा तब वह भयातुर होकर बहेड़े के पेड़ में छिप गया); कलियुगालय (कलियुग ने इसे अपना घर बना लिया है); भूतवास (कलि रूप भूत का घर); विभीतक (विभेत्यस्मात्, भूत—कलि—का डेरा होने से लोग इससे डरते हैं); धर्मद्वेषी, धर्मघ्न (जूआ खेलने से धर्म नाश हो जाता है, और क्योंकि जूए में बहेड़े के बने पासों से खेल होता था इसलिए जूए के साधन—पासों के उत्पादक वृक्ष का नाम भी धर्मद्वेषी या धर्मघ्न पड़ गया); तिलपुष्प

(तिल सदृश छोटे फूलों वाला); मल (फूलों में से मैले की-सी गन्ध आती है); वसन्तार्त्त (वसन्त से दु.खित ?); रोमहर्षण (फल के ऊपर मखमली मुलायम और चिकने रोएं होते हैं); अक्ष (फल वज़न में एक अक्ष अर्थात् बारह ग्राम भर होता है या इसकी लकड़ी से जूए के खेल में पासे—अक्ष—बनाये जाते है); कर्ष फल (फल तोल में एक-एक कर्ष—बारह ग्राम—होते हैं); मधुबीज (मीठे बीजों वाला फल); तैल फल (बीज की मज्जा से तेल निकलता है); बहेडक (बहेड़ा)।

गुण प्रकाशक संज्ञा : विभीतक (विगतं भीत रोगभयमस्मात्; इसके सेवन से रोग होने का भय जाता रहता है); तुष (तुष्यति; रोग निवारण करके जीवों को प्रसन्न करता है); मल (मलकारक, अनुलोमक फल); कासघ्न (खांसी को नाश करने वाला); विषघ्न (विषनाशक); अनिलघ्नक (वायुनाशक); वर्ण्य (रंग निखारने वाला)।

अन्य भाषाओं में नाम :

हिन्दी	बहेड़ा।
बंगाली	वहेरा।
गुजराती	वेहेड़ा, बेड़ा, बेरंग।
गढ़वाली	बयड़ा।
मराठी	बेहडा, बहेला, घाटींग वृक्ष।
कांगड़ा	भेडा, भेड़ी।
कर्णाटकी	तरि, तारि, शान्विमर, तोरे।
तमिल	अक्कदम्, तान्दिक्-काय।
तेलुगु	ताडि, तान्द्रक-काय, [illegible], [illegible], [illegible]।
कश्मीरी	बहेर।
बर्मी	थित्सिन, टिम् सिद्।
असमी	हुलुच, बौरी।
सिंहली	बलु, बुलुगाह्।
कोंकणी	गोटिंग।
मलयी	तान्नि।
तुर्की	दादि, [illegible], [illegible]।
अरबी	बलियूज, [illegible], बलिलज।
फारसी	बलेले, [illegible]।
अंग्रेज़ी	बेलेरिक माइरोबेलन (beleric myrobalan)
औद्भिदी	टर्मिनालिया बेलेरिका (Terminalia [illegible])

इब्न बैथर ने बहेड़े का अरबी नाम बलीलज लिखा है। [illegible]
लैटिन में इसे बेलिनैनि और पर्शियन में बलील और बलीला [illegible]

है कि अरबी चिकित्सक इसे बेलेरेग कहते थे। इसी शब्द से अंग्रेजी और औद्भिदी के नाम बेलेरिक की निष्पत्ति प्रतीत होती है। औद्भिदी के विद्वानों ने बहेड़े का कोम्ब्रेटासी (Combretaceae) वंश (family) के अन्तर्गत श्रेणीकरण किया है।

प्राप्ति-स्थान : भारत, बर्मा और श्रीलंका के जंगलों में सर्वत्र, मैदानों में और कम ऊंचे पहाड़ों पर लगभग 914 मीटर से नीचे मिलता है। सिन्ध, पश्चिमीय राजस्थान और दक्षिणीय पंजाब के शुष्क और बंजड़ स्थानों पर नहीं मिलता। हिमालय की तराई में, अवध के साल-जंगलों में प्रायः मिलता है। शिवालक शैल पर पेशावर में सिन्धु नदी के किनारे की भूमि में, कोयम्बटूर और बलिया के जंगल में, ग्वालपाड़ा, सुखनगर, गोरखपुर, धायतोला और मोरंग शैलमाला में बहेड़े के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते हैं। भारतीय प्रायद्वीप में यह बहुधा आर्द्र घाटियों में पाया जाता है। मलक्का, जावा और मलाया में यह वृक्ष होता है। श्रीलंका में 610 मीटर ऊंचे स्थलों पर बहुत मिल जाता है।

वर्णन : जंगलों में बहेड़ा साधारण वृक्ष है। इसका वृक्ष दूर से ही पहचाना जा सकता है और पूर्णतया बढ़ा हुआ वृक्ष सुन्दर दिखाई देता है। स्वभाव में यह झुण्डों में रहने वाला वृक्ष है और इधर-उधर बिखरे हुए भी इसके वृक्ष उगते हैं। सागौन, साल और असन आदि के जंगलों में पाया जाता है।

बहेड़े का वृक्ष चौबीस से छत्तीस मीटर तक ऊंचा चला जाता है। ऊंचे सीधे, नियमित आकृति के तने की ऊंचाई दो से तीन मीटर और कभी-कभी पांच से छह मीटर तक पहुंच जाती है। घेरा तीन मीटर या इससे अधिक होता है। बड़े वृक्षों के आधार में प्रायः पुश्ते बने रहते हैं।

वृक्ष की छाल नीलाभ या राख के जैसे रंग की भूरी, लगभग एक सेण्टीमीटर मोटी, लम्बाई के रुख में अनेक सूक्ष्म दरारों वाली, अन्दर पीले रंग की होती है। लकड़ी सख्त, पीताभ, धूमर और अन्तःकाष्ठ (heart-wood) अविद्यमान होती है। वार्षिक चक्र (annual rings) अस्पष्ट, छिद्र बहुत कम बड़े और बहुधा अर्ध-विभक्त होते हैं। पौधे की वृद्धि साधारण होती है। प्रति ढाई सेण्टीमीटर अर्ध-व्यास में तीन से सात वृत्त (rings) होते हैं।

छोटी शाखाओं, डिम्बाशय और पुष्पच्छद (calyx) के बाह्य पार्श्व पर जंगार के रंग के रुई जैसे मुलायम और सूक्ष्म रोम होते हैं। छोटी शाखाओं के सिरों पर पत्ते गुच्छों में लगते हैं। प्रारम्भावस्था में पत्ते थोड़े-बहुत बारीक रोओं से ढके होते हैं। पूर्ण वृद्धि पर स्निग्ध (glabrous), नीचे से पीले अण्डाकृति-लट्वाकार (obovate-elliptic), आधार प्रायः असमान होता है। फलक (blade) दस से तेईस सेण्टीमीटर, पत्र-वृन्त (petiole) पत्ते की एक-तिहाई लम्बाई में बड़ा 3.75 से 7.50 सेण्टीमीटर लम्बा होता है। पत्ते में मुख्य बाह्य नाड़ियां मध्य पसली के दोनों पार्श्वों में पांच से आठ होती हैं। फ़रवरी-मार्च में पत्ते गिर जाते हैं और ताम्र या चर्म वर्ण के नये पत्ते

अप्रैल में निकलते हैं। हरी आभा लिए हुए सफेद या पीले फूलो के शूकी (spikes) कोमल, 7.50 से 15 सेण्टीमीटर लम्बे, चलने वाले साल के नवीन प्ररोहों (shoots) पर, लगे हुए या गिरे हुए पत्तों के अक्षो में निकलते हैं। इनमे मधु सदृश तीव्र गन्ध आती है जो प्राय: समय-समय पर अत्यधिक उग्र हो जाती है, और तेज बदबू मालूम होने लगती है। पुरुष और मादा फूल मिले हुए होते हैं। पुष्पच्छद (calyx) के अन्दर के पार्श्व मे ऊन-जैसे लम्बे-भूरे बाल होते हैं।

फल नवम्बर से फ़रवरी तक पकते है और शीत तथा ग्रीष्म ऋतु में गिर जाते है। फल शुष्क, गूदेवाला, 2.50 से 3.75 सेण्टीमीटर लम्बा, अण्डाकार, फच्चराकृति (pyriform), भूरे, मखमली मुलायम और चिकने रोओं से ढका हुआ और पाच अस्पष्ट रेखाओ वाला होता है। इसके अन्दर एक सख्त, मोटी दीवार वाली काष्ठमय (woody), हलकी पीली, पांच रेखाओ वाली (pentagonal) गुठली होती है। इसके अन्दर मीठी तैलीय गिरी रहती है, जिस पर आधार से सिरे की ओर जाती हुई तीन स्पष्ट रेखाएं होती है।

वृक्ष पर लगे हुए अपक्व फलों में बरसात में कीड़े लग जाते हैं और ये ज़मीन पर गिर जाते हैं। ज़मीन पर पड़े हुए फल की कठोर गुठली कीडो से बहुत अधिक छिदी हुई होती है और इस तरह सारी फसल चौपट हो जाती है। गुठलियां भी बहुधा अन्दर की गिरी की चाह से गिलहरी, सूअर और दूसरे प्राणियों से फोड़ी हुई होती हैं और कुछ स्थानो पर ऋतु के प्रारम्भ मे एक भी अच्छा बीज पाना मुश्किल होता है। फल के गूदे वाले भाग का और सख्त गुठली का प्रकृति मे जहा पर उपयोग नही होता वहां ज़मीन पर पड़ा-पड़ा यह सड जाता है, या दीमकों से खाया जाता है। गुठली इस तरह प्राय: सम्पूर्णतया या आंशिक रूप में मिट्टी से ढकी जाती है।

खेती : देहात के आर्थिक साधनों का विकास करने की दृष्टि से बहेड़ा एक उपयोगी वृक्ष है। इसलिए वैज्ञानिक पद्धति से इसकी खेती करने अथवा इसे वनों के रूप मे बोने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी जा रही है।

बहेड़े के बीज की उगने की शक्ति इस गण (*Terminalia*) के अन्य पौधों की तुलना मे अच्छी है, और हरड़ (टेर्मिनालिआ चेबुला) से तो बहुत ऊची है। परीक्षा करने पर ताजे बीजो में छियासी से सौ प्रति शत और एक साल तक रखे हुए बीजों मे पाच से चालीस प्रति शत तक उगने की शक्ति पाई गई।

अकुरण की दृष्टि से बहेड़ा अपने गण (genus) के पौधों से भिन्न है क्योंकि इसकी गुठली से अकुर भूमि के नीचे (hypogeous) फूटता है। गुठली का कठोर आवरण (putamen) दो भागों में फटता है। मूलिका (radicle) निकलती है और अधिमूल (taproot) शीघ्र ही धरती मे गड़ जाती है। इस बीच बीजपत्रीय पत्रवृन्त (cotyledonary petioles) दीर्घ हो जाते हैं, एक-दूसरे से पर्याप्त अलग होकर इस तरह मुड़ जाते हैं कि उनके बीच में से बाल-प्ररोह (young shoot) निकल सके। बीज
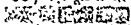
पत्र (cotyledons) और गुठली के अवशेष भूमि के अन्दर या ऊपर रह जाते हैं।

बीज या सारा फल नर्सरी मे मार्च या अप्रैल मे बोया जाना चाहिए। मिट्टी से ढक कर नियमित पानी देने पर सामान्यतया बोने से एक या दो मास में अंकुरोत्पत्ति हो जाती है। पहली बरसात मे गीली मौसम मे पौधों को पृथक् करके नियत स्थान पर बोने मे सफलता देखी गई है। इस समय तक अधिमूल (taproot) बहुत लम्बी नहीं गई होती। यह देखा गया है कि स्थानान्तर करते समय यदि तने और जड़ों की छटाई करके रोपा जाए तो पौधे की वृद्धि काफी रुक जाती है। बीज-जातों को तने और जड़ों सहित ज्यों-का-त्यों लगा दिया जाय तो परिणाम अधिक अच्छे मिलते हैं।

वृद्धि : देहरादून की वन अनुसन्धान शाला के सम्परीक्षा-भूखण्डकों के नापो का विवरण यहां दिया जा रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि विविध परिस्थितियों और अवस्थाओ मे बहेड़े के छोटे पौधों की वृद्धि किस प्रकार होती है।

1 नर्सरी मे घास-पात निकाला जाए और सिंचाई की जाए तो पहली मौसम के अन्त मे बीज-जात पन्द्रह सेन्टीमीटर मे बीस सेन्टीमीटर तक ऊंचाई प्राप्त कर लेते हैं।

2 पहली बारिश में स्थानान्तरित किया जाए और न घास-पात निकाला जाए और न ही पानी दिया जाए तो मौसमों के अन्त में ऊंचाइयां इस प्रकार हो जाती हैं :

दूसरी मौसम	अधिकतम 45 सेण्टीमीटर
तीसरी मौसम	35 से 60 सेण्टीमीटर
चौथी मौसम	75 से 107.50 सेण्टीमीटर
पाचवी मौसम	147.50 से 170 सेण्टीमीटर

3 भूमि पर फल उसी तरह बिखेर दिये जाएं मानो प्राकृतिक अवस्थाओं में पड़े हो, घास-पात निकाली जाए, जगह खुली धूप वाली हो तो मौसमों के अन्त मे ऊंचाइयां इस प्रकार हो जाती हैं :

पहली मौसम	अधिकतम 12.50 सेण्टीमीटर
दूसरी मौसम	75 से 95 सेण्टीमीटर
तीसरी मौसम	132.50 सेण्टीमीटर से 3 मीटर
चौथी मौसम	अधिकतम 3.82 मीटर

(मोटाई 17.50 सेण्टीमीटर)

4 इस परीक्षण मे पिछले परीक्षण जैसी ही सब बातें थी लेकिन घास-पात नहीं निकाली गई थी। पहली मौसम के अन्त में बीज-जात 10 से 17.50 सेण्टीमीटर तक बड़े हुए थे और वे भारी घास तथा खर-पतवार से घिरे हुए थे। दूसरी मौसम के अन्त मे पौधे कुल 17.50 से 22.50 सेण्टीमीटर तक बढ़ पाये थे।

5 इस संपरीक्षा मे भूखण्डक चौथे परीक्षण के समान ही था। पौधों का नाप इस प्रकार पाया गया :

पहली मौसम	अधिकतम 12.50 सेण्टीमीटर
दूसरी मौसम	अधिकतम 37.50 सेण्टीमीटर
तीसरी मौसम	अधिकतम 77.50 सेण्टीमीटर
चौथी मौसम	अधिकतम 175 सेण्टीमीटर

6 छठे सपरीक्षा-भूखण्डक में भी भूमि पर फल इस प्रकार बिखेरे गए थे मानो कि प्राकृतिक अवस्थाओं मे पड़े हों। घास-पात नही निकाली गई थी, जगह एकदम खुली धूप वाली न होकर हलकी छाया वाली थी। पहली मौसम के अन्त मे पौधे बीस सेण्टीमीटर तक बढ़ गए थे और वे खर-पतवार की भारी वृद्धि से घिरे हुए थे। दूसरी मौसम के अन्त में वे 27.50 सेण्टीमीटर तक बढ़े गए थे।

वनवृक्ष स्वभाव : इन परीक्षणों मे बहेड़े के वनवृक्ष स्वभाव (sylvicultural character) के बारे मे महत्त्वपूर्ण बातें मालूम पड़ती है। पहली मौसम की अवधि में बीज जातों (seedlings) की वृद्धि मध्यम रहती है। अनुकूल अवस्थाओं मे वृद्धि शीघ्र होती है। पहली मौसम में ऊंचाई साधारणतया 12.50 से 20 सेण्टीमीटर तक पहुंच जाती है। धीरे-धीरे वृद्धि अधिक शीघ्र होने लगती है। विशेषकर तब जब कि पौधों की निलाई नियमित की जाती हो। यद्यपि विजातीय घास-पात मे से वे अपना रास्ता बना लेते है, परन्तु इससे उनकी वृद्धि में बहुत बाधा पहुचती है। छोटे पौधे सीधा बढ़ते है और दूसरे साल से वे मजबूत पार्श्वीय शाखाएं उत्पन्न करने लगते हैं। जड़ बहुत शीघ्रता से बढ़ती है। केवल एक साल पुराने अर्थात् दूसरी मौसम मे खोदे गए पौधों की मुख्य-मूल (taproot) 105 सेण्टीमीटर लम्बी थी।

पहले एक-दो साल तक पौधे घनी छाया मे अच्छे रहते हैं परन्तु सघन छाया बाद मे इन्हे दबा देती है और मार डालती है। पाला प्रायः पत्तों को हानि पहुंचाता है। परन्तु सामान्य पाला शिशु-पौधों को मार नही डालता; विशेषकर तब जबकि वे घास में उगे हो। फ़रवरी, 1913 में देहरादून की ओलावृष्टि में देखा गया था कि ओले बडे पत्तों को छलनी कर डालते है। यद्यपि यह बहुत सूखे स्थानों में नही उगता, फिर भी सूखे (draught) को यह अच्छा सहन कर लेता है। 1907 और 1908 के असाधारण सूखे में अवध के साल-वनों में उगे हुए बहेड़े पर्याप्त शोष-सहिष्णु सिद्ध हुए थे। 1899 और 1900 में भारतीय प्रायद्वीप में जो भयंकर सूखा पड़ा था उसमें ये प्रभावित नही हुए थे।

पत्तों का झड़ना : उत्तर भारत में पौधे की वृद्धि नवम्बर-दिसम्बर में रुकती है और नई वृद्धि मार्च में आरम्भ होती है। लगभग नवम्बर-दिसम्बर में पत्ते पीले पड़ने लगते हैं और दिसम्बर-जनवरी मे गिरना आरम्भ कर देते हैं। मार्च तक प्रायः सब गिर जाते हैं। उत्तरी भारत में कुछ उदाहरणों में नवम्बर से पत्ते गिरना आरम्भ होते हैं। इस मास के अन्त तक कई वृक्ष लगभग सर्वथा पत्र-विहीन हो जाते हैं। जब कि दूसरे वृक्ष जनवरी के अन्त तक पूर्णतया पत्रयुक्त रहते हैं। मार्च से मई तक वृक्ष पत्र-विहीन

रहता है और तब नए पत्ते निकलते हैं।

प्राकृतिक उत्पत्ति : प्राकृतिक अवस्थाओं में वर्षा ऋतु में अंकुरोत्पत्ति भिन्न-भिन्न समयों मे होती है। वर्षा या दीमक से या किसी दूसरी प्रक्रिया से यदि बीज पृथ्वी मे गड़ जाए तो सफल अंकुरोत्पत्ति मे बहुत सहायता मिलती है, अन्यथा कठोर छिलके को फोड़ कर निकला हुआ कोमल अंकुर पक्षियों और कीड़ों से खा लिया जाता है या धूप लगने से सूख जाता है। अंकुरोत्पत्ति मे भी नमी बहुत अधिक अंश में आवश्यक सहायक होती है। यह देखा गया है कि छाया के नीचे आर्द्र स्थानों मे अंकुरोत्पत्ति अधिक जल्दी होती है, विशेषकर तब जबकि बीज जमीन मे गड़े हुए हों। धूप वाले खुले स्थानों मे देर मे अंकुरोत्पत्ति होती है।

बीज से बोया गया एक वृक्ष सोलह साल मे 10.80 मीटर ऊंचा और घेरे में 63 सेण्टीमीटर तक पहुच गया था।

प्राकृतिक निवास-स्थान मे इसका अधिकतम छाया तापमान 36 से 46 अंश शतांश तक और निम्नतम—1.20 से 15.5 अंश शतांश तक भिन्न-भिन्न होता है। सामान्य वर्षा का माप 100 से 300 सेण्टीमीटर या अधिक है।

स्थूण वन . बहेड़े का स्थूण-प्ररोहण (coppice) पर्याप्त अच्छा है। रामगढ़ (गोरखपुर) मे स्थूण प्ररोहों की वृद्धि की गति 1910 मे इस प्रकार अभिलिखित की गई थी :

आयु	औसत घेरा	औसत ऊंचाई
2 वर्ष	...	1.20 मीटर
4 वर्ष	5 सेण्टीमीटर	2.40 मीटर
6 वर्ष	7.50 सेण्टीमीटर	3.30 मीटर
8 वर्ष	9 सेण्टीमीटर	4.20 मीटर
10 वर्ष	11.50 सेण्टीमीटर	4.93 मीटर
12 वर्ष	13.50 सेण्टीटर	5.70 मीटर
14 वर्ष	16.00 सेण्टीमीटर	6.30 मीटर

पन्द्रह साल की विभिन्न आयुओं के स्थूण वन पातनाशों (coppice coupes में प्रति स्थूण (stool) मे ठूंठ प्ररोहों की औसत संख्या एक से ढाई तक भिन्न-भिन्न थी। 1911 में टिकरी वन (गोण्डा) में एक साल के स्थूण प्ररोहों की औसत ऊंचाई 1.50 मीटर नापी गई थी और यह देखा गया था कि प्रति ठूंठ में औसत प्ररोहों की संख्या दो थी जबकि साल मे ठूंठों के प्ररोहों की औसत संख्या 2.2 और ऊंचाई 1.3 मीटर थी।

1909 में उत्तर छान्दा, उत्तरप्रदेश के परीक्षणों में दिखाया गया था कि बहेड़े की स्कन्धकर्तन क्षमता (pollarding capacity) निर्बल है परन्तु सब मिला कर स्थूण प्ररोह पातनों (coppice fellings) के परिणाम तो अच्छे ही थे। स्कन्धकर्तन के बाद

ठूंठों में से जो स्थूण प्ररोह सफलतापूर्वक निकले उनका महीनों के अनुसार विवरण इस प्रकार है : एप्रिल में कोई नही; मई मे सौ; जून मे सौ; जुलाई मे सौ; और सितम्बर में पचास।

इन परीक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थूण प्ररोहों की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला स्कन्धकर्तन (pollarding) मई, जून और जुलाई के गरम महीनो मे किया जाना चाहिए; सर्दियों में नही।

भेद : आकार और आकृति की दृष्टि से बहेड़े के फल मुख्यतया दो प्रकार के मिलते हैं। एक वे जो आकृति में लगभग मण्डलाकार और 1.25 से 2 सेण्टीमीटर व्यास के होते हैं। दूसरे प्रकार के फल अण्डाकार होते हैं। और पहली किस्म की अपेक्षा दुगुने बड़े होते हैं।

उपयोगी भाग : बहेड़े का पूरा फल, फल का गूदा, बीज की गिरी और वृक्ष की छाल विविध रूपों में काम आते है। दवाओं में बहेड़े के दोनों प्रकार के फलों का एक समान व्यवहार होता है। बाज़ार में मिलने वाले बहेड़े के फल प्रायः कीड़ो से खाये हुए होते हैं और इनमे पुराने फल भी बहुत होते हैं। पुराने फलों का गूदा भूरा और फिर काला पड़ जाता है। इनके ऊपर का छिलका देखने में यद्यपि ख़राब नही मालूम होता परन्तु तोडने पर स्वस्थ दीखने वाले छिलके के नीचे काले भूरे रंग का भुरभुरा गूदा निकलता है। ऐसे फल चिकित्सोपयोग के लिए ठीक नहीं होते। कीड़ों से न खाये हुए, नए, आकार मे बड़े और रग में चमकीले हरिताभ पीतवर्ण के गूदे वाले फल औषधियों मे डालने के लिए उत्तम होते हैं। नवम्बर से फ़रवरी तक फल पकते हैं। पूर्ण पक्व होने पर फलो को वृक्ष पर से उतार लें और सुखा कर ठण्डे शुष्क स्थान पर रखें। बोरियों मे भर कर या कनस्तरों और ड्रमों में बन्द करके रखे जा सकते है।

गुण : बहेड़ा हलका, गरम, रूक्ष, तीक्ष्ण और कफपित्तनाशक है। इसमे कषाय रस का प्रतिपादन सब लेखकों ने किया है। नरहरि पण्डित इसमें कटु, तिक्त और कषाय इन तीन रसों का समावेश मानते हैं। धन्वन्तरि ने कषाय और कटु केवल दो रस माने हैं। मदन पाल, भाव मिश्र, कैयदेव और राज वल्लभ ने इसमे केवल कषाय रस का ही उल्लेख किया है। विपाक में यह मधुर है। वाग्भट और धन्वन्तरि ने इसे विपाक मे कटु भी लिखा है।

बहेड़ा कठोर मल को भेदन करके उसका अनुलोमन करता है। खांसी में लाभ दिखाता है। स्वरयन्त्र के विकारों तथा अन्य मुख रोगों में गुणकारी है। बहते हुए खून को बन्द करता है। आंखो के लिए हितकर होने से नेत्र रोगों मे लाभदायक है। बालों को पकने से रोकने और बालो को विशेष रूप से बढाने के गुणों के कारण बालों के लिए लाभदायक समझा जाता है। कृमिनाशक है। वाग्भट की सम्मति में बहेड़े के गुण सामान्यता आवले के समान ही है, परन्तु यह आवले से कुछ कम गुणवाला फल है। गोंद लेपक और रेचक विश्वास की जाती है। यूनानी लेखक फल को भारी, बलदायक,

जल में अंशत: विलेय था। जलीय निस्सार ने विभिन्न शल्कि (टैनीन) प्रतिक्रियाएं दीं।

गुठली के मृत्तैल दक्षु निस्सार (पेट्रोलियम ईथर-एक्स्ट्रैक्ट) मे एक पीला, पतला और फल के-से स्वाद का तेल था। यह तेल न सूखने वाला और सुषव (एल्कोहल) में अविलेय था। दक्षु निस्सार (इथीरियल एक्स्ट्रैक्ट) भी तैलीय था। सुषव निस्सार (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) गरम जल में अंशत: विलेय, स्वाद रहित तथा प्रतिक्रिया में अम्ल था। जलीय निस्सार मे शर्करा और स्वफेनि (सेपोनीन) दोनो नहीं थे। कोई क्षाराभ (एल्कलोयड) नही खोजा गया।

तेल का आपेक्षिक घनत्व .9198 से .9193 तक, पिघलाव बिन्दु 4° से 11° तक, अम्लीय मान 2.4 से 3.9 तक, साबुनीकरण मान 205.8 से 205. 3 तक और तैल मान 79.0 से 85.3 तक है।

बीजों मे 30.44 प्रति शत तक तेल होता है। रखा रहने पर यह दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक पीले हरे रंग का द्रव और दूसरा गाढा सफेद, घी सदृश घनता का अर्धठोस होता है। तेल दवा में काम आता है।

जानवरों का भोजन : बन्दर, गिलहरी, सूअर, हिरण, बकरी, भेड़ें और दूसरे जानवर फलों को बहुत चाव से खाते हैं और इसलिए मांसल आवरण से युक्त फल कभी भी ज़मीन पर बहुत देर तक नहीं पड़े रहते। शीत और ग्रीष्म ऋतुओं मे हलके पोले-से रग के बहेड़े की गुठली के छोटे-छोटे ढेर जंगल में इधर-उधर पड़े हुए प्राय: मिल जाते हैं। ये गुठलियां हिरणों से चबा कर फेंकी गई होती हैं। शीत ऋतु मे पेड़ पर बहुत-सी मुरझाई हुई शाखाएं देखने में आती हैं जो फलों की प्राप्ति के लिए बन्दरों द्वारा तोड़ी गई होती हैं। पके हुए फलों के लिए प्राणियों का झुकाव बीजों को दूर-दूर फैलाने में सहायता पहुंचाता है। इसके अलावा फलों की फ़सल का एक बड़ा हिस्सा कीड़ो और जानवरों से काम आए बिना ऐसे ही पड़ा रह जाता है। कागड़ा मे दुधारू गौओं के लिए पत्ते अच्छा चारा होते हैं।

चर्मकर्म में : यह चमड़े को कमाने मे तथा रंगने में काम आता है। इस दृष्टि से यह हरड़ से बहुत घटिया है। जावा में फल से चमड़ा कमाया जाता है और थोड़ा-सा लोह गन्धित मिला कर चमड़ा काला रंगा जाता है।

स्याही : भारत और जावा में फल से देसी स्याही बनाई जाती है। इसके लिए ताज़े फल इस्तेमाल किये जाते हैं। फल के रस में कसीस (लोह गन्धित) मिलाने से लिखने की अच्छी स्याही तैयार हो जाती है।

रंगाई में : बहेड़े का रग, कहते हैं, बहुत अच्छा नहीं आता। इसलिए जावा मे सस्ते धागो को रंगने के काम मे आता है। भारत में बहेड़ा रगने और कमाने के लिए बहुत प्रयुक्त होता है। यह अकेला प्रयुक्त किया जा सकता है, तब यह कपड़े पर पीला-सा या भूरा-सा पीला रंग देता है। अन्य रंगने वाले पदार्थों के साथ मिला देने से गहरा भूरा या काला रंग देता है। अकेले बहेड़े से रंगने की विधि इस प्रकार है

प्रति वर्ग मीटर कपड़े के लिए ढाई सौ ग्राम बहेड़ा लें। गुठली निकाल कर फेंक दें और छिलके को कूट कर बारीक कर लें। इसे एक लिटर पानी में डालें और साथ ही बारह ग्राम अनार के छिलके डाल दें। रात-भर पड़ा रहने दें। फिर उबालें और तीन उबाल आने पर उतार लें। ठण्डा होने पर मोटे कपड़े में छान लें। रंगे जाने वाले कपड़े को अच्छी तरह धो कर सूखने के लिए डाल दें। जब आधा सूख जाए तो बारह ग्राम फिटकरी घुले हुए पानी में भिगो लें, फिर रंग के घोल में कपड़े को डाल कर हिलाते रहें जिससे सारे कपड़े पर एक-सा रंग आ जाए। जब कपड़े पर रंग काफ़ी गहरा आ जाए तो धूप में सुखा दें और बाद में पानी से धो डालें जिससे रंग की गन्ध निकल जाय। इस विधि से पीला (muffy yellow) रंग प्राप्त होता है।

मजीठ आदि के साथ कपड़ा रंगने में हरड़ के स्थान पर बहेड़ा भी इस्तेमाल होता है। कई स्थानों पर हरड़ की तरह बहेड़ा चर्म-कर्म में प्रयुक्त होता है। वीरभूमि में पत्ते भी इसी तरह प्रयुक्त होते हैं। छाल भी काम में आती है पर इसमें ग्राही गुण कम है। इसीलिए रंगाई के काम आने वाले अन्य पौधों की छाल की अपेक्षा यह कम उपयोगी है।

गोंद : वृक्ष की छाल के क्षतों में प्रचुर निर्यास निकलता है जो विशेष उपयोगी नहीं मालूम देता क्योंकि जल में विलेय नहीं है। यह गोंद स्वाद-रहित होती है और देखने में कीकर की गोंद से बहुत मिलती-जुलती है। कोल और मूर इसे खाने में काम लाते हैं। मिदनापुर के जंगलों में यह बहुत पैदा होती है। गोंद लगभग अंगुली के बराबर मोटी और गोल लम्बोतरे खण्डों में छाल पर इकट्ठी हो जाती है। रंग में घटिया कीकर की गोंद के रंग की होती है। इसमें डम्बल सदृश कैलशियम ओग्जेलेट के स्फटिक, स्फोरोक्रिस्टल्स और सूक्ष्म पदार्थों के समूह होते हैं। पानी में भिगोने से फूल जाती है, पर घुलती नहीं। दूसरी घुलनशील गोंदों के साथ मिला कर इसे बेचा जाता है। आग में जलाने से यह जल पड़ती है।

लकड़ी : लकड़ी हल्की होती है और अच्छी नहीं समझी जाती। लेकिन आमतौर पर जितनी बुरी समझी जाती है उससे अच्छी ही होती है। कई स्थानों पर तो यह इतनी निकम्मी ख़याल की जाती है कि वृक्षों को सर्वथा काटा ही नहीं जाता। कई स्थानों पर इसे काट कर इमारती लकड़ी की तरह प्रयोग करते हैं। एक प्रकार का कीड़ा लकड़ी में छेद करके इसे हानि पहुंचाता है। लकड़ी बहुत टिकाऊ नहीं है और कीड़ों से भी शीघ्र आक्रान्त हो जाती है। ईंधन के लिए यह लकड़ी अच्छी है। जला कर इसके कोयले भी बनाये जाते हैं। सावन्तबाड़ी जिले के पास चीनी साफ करने में इसकी लकड़ी की राख काम में लाते हैं।

हरी लकड़ी का प्रतिघन फुट भार छब्बीस से सत्ताईस किलोग्राम और सूखी का 17.750 से 19.5 किलोग्राम होता है। पानी में भिगोने के बाद लकड़ी तख्ते, पैकिंग केस, कॉफ़ी बक्स, नौकाएं बनाने और उत्तर-पश्चिम प्रान्तों में गृह-निर्माण

मे प्रयुक्त होती है। पानी में डुबोने से यह अधिक टिकाऊ हो जाती है। मध्य प्रान्त में यह हल और गाड़ियों के बनाने में प्रयुक्त होती है। दक्षिण भारत मे पैकिंग केस, किश्ती के तख्तों और अनाज के मापने के पात्र आदि के बनाने के काम में लाई जाती है।

उत्तम पथ-वृक्ष : पथ-वृक्ष के लिए यह अत्युत्तम वृक्ष है, परन्तु इसके साथ कई अन्धविश्वास जुड़े रहने के कारण इसका उपयोग नहीं किया जाता। दक्षिण भारत के हिन्दुओं का विश्वास है कि इसमें दैत्यों का निवास होता है। इसीलिए वे इससे बचते हैं और इसकी छाया मे कभी नही बैठते। मध्य और दक्षिण भारत के लोग लकड़ी का इस ख्याल से गृहनिर्माण में उपयोग नही करते कि जिस घर मे इसकी लकड़ी होगी वह अनिष्टकर होता है और उसमें कोई व्यक्ति देर तक जीवित नहीं रह सकता। इसी अन्धविश्वास के कारण अनेक स्थानों पर यह वृक्ष जगलो मे बिना काटे छोड़ दिया जाता है। इन विश्वासों के विपरीत हम भारत की राजधानी नई दिल्ली की कुछ सडकों पर बहेड़े के वृक्षों को सफलता से उगा हुआ देखते हैं।

पानी का सूचक : वराहमिहिर ने कुछ अद्भुत अनुभव बताये हैं। वे कहते हैं कि बहेड़े के समीप दक्षिण की ओर वामी हो तो उस वृक्ष से दो हाथ पूर्व की तरफ डेढ़ पुरुष नीचे जलधारा होती है।[1] पश्चिम दिशा में बामी हो तो वृक्ष से एक हाथ उत्तर दिशा मे साढ़े चार पुरुष की गहराई में पानी की धारा होगी।[2]

निर्यात : भारत मे जंगलों मे बहेड़े के फल बहुत इकट्ठे किये जाते है। जंगल-विभाग इसे नीलाम कर देता है। कार्तिक से पौष तक इसका फल अच्छी तरह पक जाता है और तोड़ कर बाजार में बिकने आ जाता है। मानभूमि, हजारी बाग आदि प्रदेशो मे इसका मूल्य कम और चटगाव में अधिक होता है। हरड का मूल्य इसकी अपेक्षा अधिक है। रगने तथा चर्म-कर्म के लिए बहेड़े भारत से बाहर बहुत जाते हैं। नजीबाबाद और गढ़वाल के जगलों में फल बहुत इकट्ठे किये जाते है और विदेश भेजे जाते है।

गिरी विषैली नहीं : लोगों मे यह विश्वास बहुत अधिक प्रचलित है कि बहेडे की गिरी विषैली होती है। कई लोग केवल बड़े फल वाली किस्मों को विषैला मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि उन्होने दोनों क़िस्मों को बिना किसी प्रकार का विषैला प्रभाव अनुभव किये अच्छी तादाद मे खाया है, परन्तु इन्हें खाने के बाद पानी पी लिया जाय तो शिरोभ्रम तथा नशा अनुभव होने लगता है। उप-सहायक शल्य चिकित्सक रैडक पांच से नौ साल के तीन लड़कों पर बहेड़े के विष-प्रभाव का उल्लेख करते हैं। बीज खाने पर उनमें से दो लडके नशे में चूर हो गए। दोनों सिर दर्द की शिकायत करते थे और उल्टी कर रहे थे। तीसरा लड़का कमज़ोर था और इसने सबसे अधिक

1 बृहत्संहिता, अध्याय 54; 24
2 बृहत्संहिता, अध्याय 54; 25

बीज खाये थे—बीस या तीस। इस लड़के में दिन में कुछ लक्षण प्रकट नहीं हुए, परन्तु अगले दिन सुबह यह अचेत पाया गया और उसमें शिथिलता के सब लक्षण नज़र आते थे। वामक द्रव्य थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देने और तेज भाप देने से लक्षणों में कुछ कमी हुई। धीरे-धीरे वह होश में आ गया, परन्तु वह सिर घूमने की शिकायत करता रहा था और अगले दिन तक उसकी नाड़ी तेज चलती रही। बाद में वह ठीक हो गया। रैडक का विचार है कि यह लड़का एक हलके नशीले विष से आक्रान्त था और इसका परिणाम भी घातक हो सकता था यदि स्टमक पम्प का प्रयोग न किया गया होता। बम्बई के केमिकल एनलिस्ट (1878-79) की रिपोर्ट में एक स्त्री तथा दो बच्चों पर बहेड़े की गिरी के विष प्रभाव का वर्णन है। उनमें से एक, जो आठ-नौ बरस की कमज़ोर लड़की थी, मर गई थी। परन्तु शेष रोगी बच गए थे।

फल के विषैले प्रभाव के सम्बन्ध में बहुत अधिक भिन्न और विरोधी सम्मतियां हैं। डिमक, वार्डन और हूपर की परीक्षाओं के अनुसार इनमें कोई विषैला प्रभाव नहीं है। दूसरों को खिला कर तथा स्वयं अधिक मात्रा में खा कर इन लोगों ने कोई बुरे प्रभाव नहीं देखे। बीज के विषैले प्रभाव को जानने के लिए छोटे जीवों पर भी परीक्षण किये गए हैं। एक बिल्ली के पेट में गिरी का 580 मिलिग्राम शुष्क निस्सार (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) सूचिविद्ध किया गया। एक दूसरी भूखी बिल्ली के पेट में 855 मिलिग्राम (लगभग पैंतीस से चालीस गिरियों के बराबर) शुष्क निस्सार (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) डाला गया। दोनों अवस्थाओं में परिणाम नकारात्मक थे। इसलिए इन लेखकों ने यह परिणाम निकाला कि गिरी में कोई विषैला गुण नहीं है।

पैम्पेल (ए मैनुअल ऑफ पोयज़नस प्लान्ट्स, 1911) के विवरण के अनुसार बहेड़ा मछलियों के लिए विषैला है। परन्तु भारत में इस प्रयोग का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

चिकित्सा में उपयोग : त्रिफला के अंग रूप में यह लगभग प्रत्येक रोग में विभिन्न प्रकार से दिया जाता है। पंजाब में पका हुआ फल मुख्यतया श्वयथु, अर्श, अतिसार, कुष्ठ और कभी-कभी ज्वर में इस्तेमाल होता है।

श्वास संहति के रोग : मुख और श्वास-संहति के रोगों में बहेड़ा उपयोगी औषध सिद्ध हुई है। लोलिम्बराज ने बहेड़े को रावण का पुत्र कहा है। उनके अनुसार मुखकमल में रखा हुआ बहेड़ा खांसी और सांस के कष्टों को नष्ट करता है।[1] आग में डाल कर भूने हुए फल को मुख में रख कर धीरे-धीरे चूसते रहने से कण्ठ-व्रण में लाभ होता है। बहेड़ा, अनार का छिलका, यवक्षार और पिप्पली समान भाग में मिला कर गुड़ के साथ गोली बना लें। गलशोथ और कण्ठशोथ में यह गोली चूसने के लिए दी जाती है। इसी प्रकार नमक और पिप्पली के साथ फल के गूदे की गोलियां बना

1 वैद्य जीवनी, तृतीय विलास; 12

ली जाती हैं। खांसी, कण्ठव्रण, गले का बैठ जाना आदि में मुख में रख कर इन्हें चूसने से आराम आ जाता है। सेंधा नमक, पिप्पली और बहेड़े के चूर्ण को मक्खन में मिला कर चाटने से भी यही लाभ होता है। बहेड़े के फल के ऊपर घी चुपड़ कर ऊपर घास लपेट दें और इसे गाय के गोबर से ढक कर आग मे पकाएं। ऐसे एक बहेड़े को मुख में रख कर धीरे-धीरे चूसने से खांसी दूर होती है। छह से बारह ग्राम बहेड़े के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से खांसी, दमा और तीव्र हिचकी भी नष्ट होती है। बहेड़ा, अतीस, पिप्पली, भारगी और सोंठ सबको समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाए। इस विभीतकादि चूर्ण को गरम जल या मद्य के साथ सेवन करते रहने से खांसी, दमा, 'अपतानक अच्छे हो जाते हैं। सब प्रकार के दमे और खासी में अकेले बहेड़े के प्रयोग से भी लाभ होता देखा गया है।

महास्रोतस के रोग : कोंकण में बहेडे के पत्तों का प्रयोग अजीर्ण में किया जाता है। बहेडे और असगन्ध के समान भाग चूर्ण में गुड़ मिला कर गरम जल से खाने से हृदयगत वायु नष्ट होती है। मुनक्का, इलायची का चूर्ण और बहेड़े की गिरी से बनाई गई गोलिया वमन में बहुत लाभकारी होती हैं। जलाये हुए बहेडे के फल के चूर्ण मे नमक मिला कर खाने से यह आतों पर ग्राही प्रभाव करता है और इसलिए तीव्र अतिसार में लाभदायक होता है। जिगर के रोगों में उपयोग की जाने वाली मण्डूर की शुद्धि के लिए उसे बहेडे की लकडी की आग में तपा-तपा कर गोमूत्र मे आठ बार बुझाया जाता है।

मूत्र के रोग : सुश्रुत ने बहेड़े को मूत्र-रोगों में उपयोगी पाया है। वे लिखते हैं—बहेड़े की गिरी को मद्य मे पीस कर पिलाने से मूत्राश्मरी दूर होती है और मूत्र के विकार हटते हैं। कायस, म्हस्कर और इसावस के परीक्षणों से ज्ञात होता है कि बहेड़े के वृक्ष की छाल के प्रयोग से कुछ परिमाण मे मूत्र की राशि बढ़ जाती है।

आंख के रोग : ग्राही द्रव्य के रूप मे बहेड़ा आखो के रोगों मे व्यवहार किया जाता है। इसके शीत कषाय से प्रातःकाल आंख धोने से आंखें निर्मल रहती हैं। आख दुखने आने पर या नेत्र-शोथ पर पके हुए शुष्क फल का चूर्ण मधु मे मिला कर आंखों पर लेप किया जाता है। बहेड़े की मीगी, काली मिर्च, आंवले का गूदा, नीलाथोथा और मुलहठी को जल से पीस कर वर्ति बनाए। उसे छाया में सुखाना चाहिए। तिमिर में इस वर्ति को आंजना चाहिए। बहेड़े की गिरी को स्त्री-दुग्ध में घिस कर प्रतिदिन रात को आंजने से आंख के रोगों मे लाभ होता है। शहद के साथ गिरी को बारीक पीस कर फूले मे आंजते हैं।

शोथ, दाह, ग्रन्थि : विविध शोथयुक्त अवस्थाओं मे बहेड़े का लेप के रूप मे बाह्य प्रयोग होता है। बेहड़े की गिरी को पीस कर शोथ वाले भागों पर लेप किया जाता है। बहेड़े की मीगी का तेल बाह्य प्रयोग मे आमवात मे वेदना वाले स्थानों पर मालिश करने से वेदना और शोथ दोनो शान्त होते हैं। सब प्रकार की शोथों में

बहेड़े के फल की मज्जा के लेप से दाह और वेदना शान्त होती है। ग्रन्थिविसर्प में बहेड़े के कल्क को गर्म कर ग्रन्थि पर लेप किया जाता है। वाग्भट भी बहेड़े को ग्रन्थिविसर्प में लेप करते हैं। जले हुए स्थान पर बीज की गिरी या फल का गूदा पीस कर लगाने से दाह शान्त होती है।

बालों के लिए हितकर : बहेड़े की गिरी को कोल्हू में पेरने से थोड़े परिमाण में एक तेल प्राप्त होता है। यह बालों के लिए हितकर कहा जाता है। ओषधियों में उपयोग के अतिरिक्त यह खाने के काम भी आता है। मध्य प्रदेश में गरीब लोग इसे घी के स्थान पर खाते हैं। वहां यह सस्ता बिकता है।

कान बहना : बहेड़ा, वच, कुष्ठ, हरताल और मनःशिला से पकाये तेल को बच्चों के कान बहने में डालने से पूय आनी बन्द हो जाती है।

सर्पविष में : चरक, सुश्रुत, वाग्भट और शार्ङ्गधर ने बहेड़े को अन्य दवाओं के साथ मिला कर सर्पदंश में उपयोगी बताया है। सुश्रुत ने इसे बिच्छू के डंक मारने पर प्रभावकारी कहा है। भविष्य पुराण के अनुसार कफ को दूषित करने वाले राजिल (वैश्य) सांपों के काटने पर बहेड़ा दिया जाता है।

म्हस्कर और कायस् ने दिखाया है कि फनियर और दबोइया (रसल वाइपर) सांपों के विष शरीर में पहुंच गए हों तो उन्हें उतारने या नष्ट करने में बहेड़ा कारगर नहीं होता। कायस् और म्हस्कर ने इसे बिच्छू के विष में निरुपयोगी बताया है।

अन्य रोगों में : रस, रक्त, मांस, तथा मेद से उत्पन्न होने वाले दोषों को बहेड़ा नष्ट करता है। बहेड़े की छाल को सिल पर पीस कर बनाया कल्क खून की कमी में और सफ़ेद कुष्ठ आदि रोगों में दिया जाता है। कोंकण में बहेड़े की गिरी पान में रख कर खाई जाती है। साधु लोग कहते हैं कि रोज एक गिरी खाने से विषय-वासना बढ़ती है।

: तीन :

आंवला

देवताओं का प्रिय होने से भारतवासी आंवले के वृक्ष को बहुत पवित्र मानते हैं। पत्र, पुष्पमालाएं आदि चढ़ा कर इसकी पूजा करते हैं।[1] उनका विश्वास है कि आंवला सब पापों को दूर कर देता है।[2]

आंवले के वृक्ष के बारे में एक पौराणिक गाथा इस प्रकार प्रसिद्ध है।[3] भगवती और लक्ष्मी एक बार तीर्थ यात्रा को निकलीं। भगवती ने लक्ष्मी से कहा, 'देवि ! आज मैं स्वकल्पित किसी नवीन द्रव्य से हरि की पूजा करना चाहती हूं।' लक्ष्मी ने उत्तर दिया कि त्रिलोचन को भी किसी नए पदार्थ से पूजने की हमारी इच्छा है। फिर दोनों की आंखों से निर्मल अश्रुजल भूमि पर गिरा। उसी से माघ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को आंवले की उत्पत्ति हुई। इस वृक्ष को देख कर देव और ऋषि आनन्दोल्लसित हो उठे। तुलसी और बिल्व के समान ही यह पवित्र माना जाता है। इसके पत्तों से शिव और विष्णु दोनों की पूजा होती है। माघ मास की एकादशी को इसकी उत्पत्ति होने से उस दिन विष्णु देव की इससे पूजा करने से देव प्रसन्न होते हैं।

यह कथा गरुड़ पुराण के 215वें अध्याय मे विस्तार से लिखी गई है। पुराणकार ने इसमे माघ मास के साथ आंवले का विशेष सम्बन्ध स्थापित किया है। मैंने इस पर आयुर्वेदिक दृष्टि से विचार किया और माघ मास मे आंवले के महत्त्व को जानना चाहा। करीब नवम्बर में आंवला बाजार मे बिकने आ जाता है। प्रायः मार्च के अन्त तक बिकता रहता है और उसके बाद हरे आंवलों का मौसम समाप्त हो जाता है। मौसम के अन्तिम दिनों के आंवले को चैती आंवला कहते हैं। मौसम के आरम्भ काल नवम्बर में जो आंवला बिकता है वह रस और वीर्य से सम्यक्तया भरपूर नहीं होता। माघ में जा कर यह पकने लगता है और आधे चैत तक यह इसी अवस्था में रहता है। यही काल है जिसमें आंवले के अन्दर रसायन और शक्ति देने वाले गुणों का बाहुल्य होता है। माघ मास में आवले के अन्दर गुणो का परिपाक होने लगता है।

---

1 गरुड़ पुराण, अध्याय 215
2 स्कन्द पुराण
3 गरुड़ पुराण, अध्याय 215

हमारी सम्मति में इसीलिए पुराणकार ने इस मास के साथ आंवले के विशेष महत्व का प्रतिपादन किया है। वृक्ष के प्रति पूज्य भाव होने से लोग इसको भलीभांति सीचते रहेंगे जिससे फलों के लिए आवश्यक पोषण उन्हें मिलता रहेगा।

बौद्धों के साथ आंवले का विशेष सम्बन्ध है। महाराज अशोक ने मरते समय भिक्षु संघ को आधा आंवला ही दान दिया था।[1] उसी का अनुसरण करते हुए मूलगन्ध कुटी बिहार, वाराणसी के निर्माण के समय तत्कालीन वायसराय ने सोने का आधा आंवला भेंट किया था।

बहुत दिनों से आंवले ने लोकोक्ति में स्थान प्राप्त कर लिया है। संस्कृत के 'हस्तामलकवत्' मुहाविरे का हम दैनिक भाषा में बहुत प्रयोग देखते हैं। तुलसीदास ने भी इस मुहाविरे का प्रयोग किया है—

'जानहिं तीनि काल निज ज्ञाना। करतलगत आमलक समाना'।

शंकराचार्य के एक शिष्य का नाम हस्तामलक इसीलिए था कि उसे हाथ में रखे हुए आंवले के समान शास्त्र उपस्थित थे। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार मुट्ठी में रखे दो आंवलों को मुट्ठी अनुभव कर रही होती है उसी तरह वाणी और नाम को मन अनुभव करता है।[1]

घरेलू चिकित्सा में अनुमान से औषध लेने के लिए आंवले को परिमाण मान लिया करते थे। बच्चों को दी जाने वाली दवा का परिमाण बताते हुए कश्यप ने लिखा है कि विडंग से बढ़ाते हुए आंवले से अधिक मात्रा में औषधि नहीं दी जानी चाहिए।

कौटिल्य (321-298 ईस्वी पूर्व) ने आंवले को खट्टे फलों में गिनाया है। इसका सिरका भी बनाया जाता था।

वैशम्पायन ने राजा शूद्रक को बताया था कि उसने पके आंवले के फलों को जी भर कर स्वाद से खाया है।

हुएनत्सांग (629-645) ने लिखा है कि पुछ (कश्मीर) में 'ईख भी बहुत होती है, परन्तु अंगूर नहीं होते। आंवला, गूलर और मोच इत्यादि फल अच्छे तथा अधिक बोये जाते हैं। इनके जंगल के जंगल लगे हुए हैं। इनका स्वाद बहुत उत्तम होता है।'[2]

माघ ने पहाड़ों पर चढ़ते रहने के कारण अत्युन्नत स्तनों वाली, आश्चर्य से फैलाए हुए नेत्रों से हरि को देखती हुई पहाड़ी स्त्रियों का निवास आमलकी वन में बताया है।[3]

मलक्का नदी और नगर का नाम विश्वास किया जाता है कि संस्कृत के मूल शब्द आमलक से निकला है। पश्चिमीय मलेशिया से मदोएरा के पूर्व तक यह नाम

---

1 अद्धामलकमत्तरस अन्ते इस्सरत गतो।
2 हुएनत्सांग का भ्रमण वृत्तान्त, अध्याय. 3, पृष्ठ 163
3 शिशुपाल वध, सर्ग 12; 51

सामान्य रूप से व्यवहृत होता है।

प्राप्ति स्थान : समस्त उष्ण भारत मे हिमालय के साथ-साथ जम्मू से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर श्रीलंका तक सब जगह जंगलों मे स्वयंजात या बोया हुआ मिलता है। भारत और ब्रह्मा के बहुत-से भागों मे पतनशील पत्तों वाले जगलो मे प्राय होता है। हिमालय में, गढ़वाल और कुमायू मे 1,616 मीटर की ऊंचाई तक मिलता है। शुष्क प्रदेशों में और पंजाब के उत्तर पश्चिमी भाग में रावी के पश्चिम की ओर नही मिलता। ब्रह्मा, श्रीलका, चीन, मलय प्रायद्वीपों मे होता है। वहां इसकी अक्सर खेती भी की जाती है। दक्षिण-पूर्व एशिया के उष्ण प्रदेशो में और मलय से तिमूर तक पाया जाता है।

वर्णन : एक छोटा या मध्यमाकार नौ से बारह मीटर ऊंचा, पतनशील पत्तों वाला (deciduos) वृक्ष है। तना 1.80 से 2.70 मीटर ऊचा होता है। छाल चिकनी हरिताभ-घूसर या हलकी भूरी, पतली, एक सेण्टीमीटर से कुछ कम मोटी, छोटे अनियमित गोल छिलकों में उतरती है। छाल के अन्दर का भाग लाल होता है। छिलका उतरने पर नीचे पीले रंग की नवीन छाल आ जाती है। लकड़ी लाल और कठोर होती

आंवले की फूली हुई शाखिका

है। काष्ठमज्जा (heart wood) नही होती। छिद्र छोटे और मध्यम आकार के, एक सदृश फैले हुए, प्राय: अर्द्ध-विभक्त, माध्यमिक रेखाएं (medullary rays) चौड़ी और

दो रेखाओ के बीच का अन्तर सामान्यतया छिद्रों के लम्ब अक्ष व्यास से अधिक बड़ा होता है। प्रतिघन फुट लकडी का भार 22.05 से 23.62 किलोग्राम तक होता है।

पत्ते पंख सदृश समाकार (featbery oblong) हलके हरे, छोटी-छोटी शाखाओं पर पास-पास लगे हुए, 1.25 सेण्टीमीटर लम्बे, किनारे मोटे, लगभग वृन्त-रहित होते हैं। लगभग नवम्बर या दिसम्बर मे पत्ते गिरना आरम्भ होते हैं और फरवरी या मार्च से मार्च-अप्रैल तक वृक्ष पत्र-रहित होता है। तब नये अंकुर प्रकट होते हैं।

पीताभ या हरिताभ-पीत सूक्ष्म पुष्प छोटी शाखाओं पर नये पत्तों के अक्षों में घने गुच्छों मे मार्च से मई तक निकलते हैं और मधुमक्खियों के झुण्डों से व्यस्त रहते हैं। मधुमक्खियो की जातियो मे सबसे अधिक मुनगा मक्खी और उससे कम लाड़वा
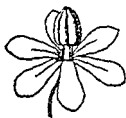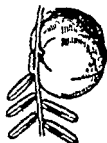
फूल और उसके भाग

फल और उसके भाग

फूलो पर नजर आती है। मुनगा की पिछली टांगें पराग से लदी हुई मिलती हैं। चट्टानी मक्खी (*Apis dorsata*) इन फूलो पर बहुत कम दीखती है। फूलों मे नर अधिक और मादा कम होते हैं। दोनों जाति के फूल एक ही शाखा पर लगे होते हैं। नर पुष्पो का वृन्त छोटा और स्त्री-पुष्प लगभग वृन्त-रहित होते हैं।

पत्ते और फूल धारण करने वाली छोटी स्वल्प जीवी शाखाए अनियमित ग्रन्थिल (tubercular) उभारों से एक साथ तीन निकलती हैं। इनकी लम्बाई दस से बीस सेण्टीमीटर होती है। ये प्राय: रोमश होती हैं और पत्तों के गिरने के साथ गिर जाती हैं। इनकी आकृति संयुक्त पक्षाकार (compound pinnate) पत्तो की तरह होती है।

फल मासल, गोल और ऊपर तथा नीचे से चपटे होते हैं। फलों का व्यास 1.25 से 2 सेंटीमीटर, वर्ण पीताभ-हरित, लम्बाई के रुख छः रेखाओ वाले, चिकने, स्वाद मे खट्टे, ग्राही और कसैले होते है। फल के अन्दर छ: रेखाओं वाली अस्थिमयी गुठली होती है। गुठली के अन्दर तीन कोष्ठ होते हैं जिनमें चार या छः गहरे भूरे चिकने त्रिकोण बीज पडे होते है। 1,800 या 1,900 बीजों का भार अठाइस ग्राम होता है। फल दिसम्बर से फ़रवरी तक या इससे भी अधिक देर मे पकते हैं। पकने पर फल का रग लालिमा लिए हुए हरित पीत-सा हो जाता है। पके हुए फलों को धूप में रखने से गूदा सूख कर फट जाता है और अन्दर से बीज बाहर निकल पड़ते है।

कृषि : देहरादून की परीक्षाएं बताती हैं कि बीजों की उत्पादन शक्ति की तुलनात्मक प्रतिशतकता कम है और बीज देर तक अपनी जीवनी शक्ति कायम नही रखते। एक साल तक रखे बीज उगने मे सफल नही हो सके।

नर्सरी में लगभग मार्च में बीज बोये जाते हैं। पानी नियमित रूप से देना चाहिए। पहले कुछ मास धूप और ज़ोर की बारिश से रक्षा करनी चाहिए। निलाई नियमित होती रहे तो पहली बरसात मे पौधे इतने बड़े हो जाते हैं कि पृथक् करके नियत स्थान पर लगाये जा सकें। जड़ों को नगा न होने देने का पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि पुनरारोपण के लिए पौधे बहुत नाजुक होते है। सबसे अच्छा उपाय यह होता है कि बरसात के आरम्भ में बीजों को नियत स्थान पर बोया जाय और निराई का ध्यान रक्खा जाय। प्रथम बरसात मे ही अधिक घने उगे हुए पौधो में से कमज़ोर पौधों को निकाल फेंकना चाहिए और जहां पर बीच मे अधिक खाली स्थान छूट गया हो वहा स्टौक में रखे हुए नये मज़बूत पौधों को लगा देना चाहिए।

उपयुक्त अवस्थाओ मे छोटे पौधों की वृद्धि शीघ्र होती है। पौधो के बीच में उग आने वाले विजातीय घास-पात को उखाड़ डालने पर और पानी न दिये जाने पर पौधों की प्रथम चार साल मे अधिकतम ऊचाई इस प्रकार थी :

पहले साल : 80 सेण्टीमीटर।

दूसरे साल : 2.10 मीटर।

तीसरे साल : 2.88 मीटर।

चौथे साल : 4.95 मीटर।

घास-पात निकालना वृद्धि में बहुत सहायता करता है और घास-पात की उपस्थिति वृद्धि को रोकती है। घास-पात न निकाले गये खेतो में पहले तीन सालों में अधिकतम वृद्धि इस प्रकार थी :

पहले साल : 12.50 सेण्टीमीटर।

दूसरे साल : 1.10 मीटर।

तीसरे साल : 2.05 मीटर।

छोटे पौधे छाया या किसी प्रकार के दवाब को बरदाश्त नही करते और जब कई छोटे पौधे एक साथ बोये गये हों तो एक या दो सबल पौधे तेज़ी से बढ़ कर अन्य पौधो को दवा लेते हैं। पहले कुछ मासों मे ये ज़रा नाजुक रहते हैं।

आंधी का इन पर बहुत असर होता है और ज़ोर की वर्षा से इनके बह जाने या मारे जाने का भय रहता है। कीड़ों, चूहो और गिलहरियों के हमले की इन्हें सम्भावना रहती है। छोटे पौधों की वृद्धि सन्तोषजनक शीघ्र होती है परन्तु बाद में यह कुछ मन्द हो जाती है।

शार्ङ्गधर ने कैथ के वृक्ष को बेल में परिणत करने की विधियां लिखी हैं। इन

आवले की जड़ में पकाये दूध से कथ के बीजों को प्रभावित करना होता है।[1]

प्राकृतिक उत्पत्ति : प्राकृतिक अवस्थाओं में शीत ऋतु में और ग्रीष्म ऋतु के कुछ भाग मे फल वृक्ष पर से गिरते हैं। ऊपर के मांसल आवरण के सूख जाने पर और अन्दर की कठोर गुठली-सहित फट जाने पर बीज बाहर निकल पड़ते हैं। हिरण फलों को खा लेते हैं। जुगाली करते समय कठोर गुठली जमीन पर गिर पड़ती है और पड़ी-पड़ी सूख कर फट जाती है जिससे बीज जमीन पर बिखर पड़ते हैं। अंकुरोत्पत्ति वर्षा-ऋतु के आरम्भ मे हो जाती है, परन्तु बहुत अधिक उदाहरणों में प्राकृतिक उत्पत्ति कम ही देखने मे आती है। इसका कारण सम्भवतः कुछ तो यह है कि बीजों की जनन-शक्ति बहुत उच्च नहीं है, परन्तु मुख्यतया शायद यह है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं मे पौधे बहुत अधिक नाजुक होते हैं और कीड़ों से खाये जाने के सर्वथा योग्य होते हैं। प्राकृतिक अवस्थाओं में पौधे की वृद्धि सम्भवतः धीमी होती है।

पाले और तेज आधी दोनों का पौधे पर शीघ्र असर पड़ता है। तीव्र पाले मे फल सफेद-से हो जाते हैं जैसे कि उबाले गये हो। भारतीय प्रायद्वीप में 1899-1900 में आंवले के पेड़ों को आंधी से असाधारण हानि हुई थी। इसी तरह 1913-14 के शुष्क सालो मे हानि हुई थी। अनेकों वृक्ष मारे गये थे, तने से नीचे की ओर दरारें पड़ जाना एक दूर व्यापी हानि थी। वृक्ष की पतली छाल धूप से नाम मात्र ही रक्षा कर पाती है।

वृक्ष के तने को जमीन से थोड़ा ऊंचे से काट लिया जाय तो काटे हुए स्थान से बहुत-सी नवीन शाखाएं निकल आती हैं। महीने के अनुसार इन शाखाओं की संख्या कम या अधिक होती हैं। अप्रैल से सितम्बर तक विभिन्न मासों में काटने पर नवीन शाखाओं की संख्या इस प्रकार थी—अप्रैल 100, मई 95, जून 90, जुलाई 100, अगस्त 100 और सितम्बर 100। एक साल पुरानी नवीन शाखाओं की औसत ऊचाई का माप 2.22 मीटर था।

संस्कृत के नाम : आयुर्वेद के द्रव्यगुण के ग्रन्थों में आवले के निम्नलिखित नाम आये हैं :

राज निघण्टु (12वी शती)	धन्वन्तरि (800 ईस्वी पश्चात्)	भाव प्रकाश (1500 ईस्वी पश्चात्)	कैयदेव (1450 ईस्वी पश्चात्)	मदन पाल (1365 ईस्वी पश्चात्)
1 आमलकी	1 आमलक	1 आमलक	1 आमलक	1 आमलक
2 श्रीफल	2 श्रीफल	2 श्रीफल	2 श्रीफल	2 श्रीफल
3 अमृतफल	3 अमृतफल	3 अमृतफल	3 अमृतफल	3 अमृतफल

1 बृहत्संहिता, अध्याय 55; 26

4 जातीफल	4 जातीफलरस	4 जातीफलरस	4 जातीफलरस	4 जातीरस फल
5 वृत्तफल				
6 अमृता		5 अमृता		
			5 अमृतोद्भवा	
7 शिवा	5 शिव	6 शिव	6 शिव	5 शिव
8 शान्ता				
9 शीता				
			7 शीतफला	
10 वयस्या	6 वयस्था	7 वयस्था	8 वयःस्था	
11 वृष्या	7 वृष्या	8 वृष्या	9 वृष्या	
			10 वृष्यफला	
12 रोचनी				
		9 धात्री	11 धात्री	
13 धात्रिका				
14 धात्रेयी				
15 धात्रीफला	8 धात्रीफला	10 धात्रीफला	12 धात्रीफल	6 धात्रीफल
			13 तिष्या	
			14 तिष्यफला	
			15 तिष्यरसफल	
			16 पर्वकीट	
			17 कोरङ्क	
			18 सीधुरसा	
			19 सीधुफला	
			20 दिव्याधारा	
			21 कोल	
			22 कामल	
			23 शृङ्गी	
			24 शुक्ति	

इन नामों में से बहुत-से ऐसे हैं जिन्हें कैयदेव तथा अन्य लेखकों ने एक से अधिक लिङ्गों में भी लिखा है। उनको यहां नहीं दिया गया।

संस्कृत के नामों का अर्थ : उत्पत्तिबोधक नाम : आमलकी (अमलात् कात्

अश्रुजलात् आगतम्, भगवती और लक्ष्मी के जमीन पर गिरे हुए अश्रुजलों से उत्पन्न वृक्ष)।

परिचयज्ञापक नाम: श्रीफल (सुन्दर फल, अथवा जिसमें लक्ष्मी का निवास है ऐसा फल); शोभनी (सुन्दर फल); कोल, वृत्त फल (बेर के समान गोल); जातीफला, जातीरसफला(जायफल जैसी आकृति के फल); शृङ्गी(सूखे फल की फांकें सींग के रंग की और सींग की तरह मुडी-हुई होती हैं); वृन्तफला (बहुत छोटे वृन्तों पर फल लगते हैं); कौरक, आमलकी (अम्लरसयुक्त); कामलक (कुछ खट्टा फल); सीधुरसा, सीधुफला (मद्य जैसा ईषद् अम्ल कषाय फल)।

गुणप्रकाशक नाम : शिवा (कल्याणकारी) ; तिष्या, तिष्यफला, तिष्यरसफला (नित्यमामलके लक्ष्मीः इति श्रवणात् तिष्य मंगल्यं फलमस्याः, मंगलकारक फल); अमृता, अमृतोद्भवा, अमृतफल (अमृत रूप फल); दिव्याधारा (दिव्य आधार वाला, जिसके सेवन से दिव्य गुण आते हों); वयस्था (आयु स्थापक); वयस्या (आयुष्कारक फल); धात्रीफला, धात्रिका, धात्रेयी, धात्री (आयु धारण कराने वाले फल); आमलकी (आमलते, मल धारणे, शरीर में धातुओं को धारण कराने वाला फल); वृष्या, वृष्यफला (इसके फल वृष्य होते हैं); शीता, शान्ता, शीतफला (पिपासा शान्त करने वाला शीत फल)।

अन्य भाषाओं में नाम :

हिन्दी	आंवला, आमला।
बंगला	आमलकी।
असमिया	आमलकी।
तमिल	नेलि।
केनरी	नेल्लिकाय।
मराठी	आवला।
गुजराती	आम्बला।
सिंहली	नेल्लि।
बर्मी	शब्जु।
अरबी	आमलज।
पर्शियन	आमला।
अंग्रेजी	एम्ब्लिक माइरोबैलेन (emblic myrobalan), इण्डियन गूजबेरी (Indian gooseberry)
फ्रेंच	फ़ाइलेन्थे एम्ब्लिक (Phylanthe emblic), एम्ब्लिक ओफ़िसिनल (Emblic officinal)।
जर्मनी	जिब्राक्लिशर आमलाबौम (Gebrakchlicher amlab-aum)।

औद्भिदी के आधुनिक विद्वान् इसे एम्ब्लिका औफ़िसिनालिस(*Emblica officinalis* Gaertn.) कहते हैं। भारतीय नाम आमला या आंवला का लैटिन भाषा मे रूपान्तर करने से एम्बिलका शब्द बना है। लैटिन में औफ़िसिनालिस का अर्थ दवा मे उपयोगी है। कुछ काल पूर्व आधुनिक औद्भिदी में आंवले को फ़ीलान्थुस एम्ब्लिका (*Phyllanthus emblica* Linn.) कहते थे।

लैटिन या अंग्रेज़ी के एम्ब्लिका शब्द की निष्पत्ति यूल और बुर्नेल ने पुरानी पर्शियन के अमलग शब्द से निकाली है। गार्सिया ने लिखा है कि अरब चिकित्सक आंवले को एम्बेलिग कहते थे। यह एउफ़ोर्बिआसी (Euphorbiaceae) नैसर्गिक वर्ग का वृक्ष है।

उपयोगी भाग : हरा और सूखा फल, बीज, पत्ते, मूल, छाल और फूल।

संग्रह : फाल्गुन-चैत्र में पूर्ण पक जाने पर वृक्ष पर से फलों को तोड लें और अच्छी तरह सुखा कर शुष्क वायु रहित कनस्तरों में रखें।

मात्रा : ताज़े फल का स्वरस चौदह से अठाईस घन सेण्टीमीटर सूखे फल का चूर्ण ढाई से चार ग्राम।

रासायनिक संगठन : यह सुविदित है कि फलों के पकने पर उनमें टैनिक एसिड की प्रतिशतकता घट जाती है। आंवला जब छोटा होता है तो पूरी तरह से कसैला होता है। जब पक जाता है तो भक्ष्य हो जाता है और स्वादु लगता है। अपक्व आंवले के शुष्क गूदे में पैंतीस प्रति शत टैनिक एसिड होता है परन्तु पके हुए फल में अत्यल्प परिमाण में मिलता है। फल के गूदे में गैलिक एसिड, निर्यास, शर्करा, एल्ब्यूमिन, काष्ठोज (सेलुलोज़) और खनिज पदार्थ भी होते हैं।

भारत और स्याम में टैनीन देने वाला यह अच्छा वृक्ष है। टैनीन निकालने के लिए फल, पत्ते और छाल सब समान रूप में प्रयुक्त होते हैं। भारत में किए गए विश्लेषण में गुठली में छः प्रतिशत, फल के छिलके में छब्बीस से तीस प्रति शत, सम्पूर्ण फल में उन्नीस प्रति शत, छोटी शाखाओं की छाल में उन्नीस से चौबीस प्रति शत और पत्तों में 23.7 प्रति शत टैनीन था। जावा में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की गई छाल में यह प्रतिशतकता 12.8 से 24 तक थी।

गुठली रहित फल का गूदा 100 अंश शतांश पर सुखाया गया है। इसका संघटन निम्नलिखित ज्ञात हुआ :

ईथर निस्सार (गैलिक एसिड आदि)	11.32
एल्कोहलिक निस्सार (टैनीन, शर्करा आदि)	30.10
जलीय निस्सार (गोंद आदि)	13.75
सोडा निस्सार (एल्ब्युमिन आदि)	13.08
अशुद्ध काष्ठोज (सेलुलोज़)	17.80
खनिज पदार्थ	4.12

नमी और कमी	3.83
	100.00

टैनीन निकालने के बाद फेहलिंग से गूदे के कषाय की परीक्षा में दस प्रति शत ग्लूकोज पाया गया। विश्लेषण करने पर बीजों में एक स्थिर तेल और गन्ध वाला रेजिन पाया गया है। बीजों में कोई क्षाराभ (एल्कलौयड) नहीं प्राप्त हुआ। पत्तों में अठारह प्रति शत टैनिक एसिड होता है और थोड़े परिमाण में उड़नशील तेल या स्निग्ध पदार्थ होता है।

गुण : आंवला हलका, शीतल और रूक्ष है। भोजनों में रुचि उत्पन्न करने वाला यह फल जी मचलाने को और उलटियों को रोकता है। पेट में गुडगुड़ आवाज होने की अवस्था में, अफ़ारे में और मलबन्ध में गुणकारी है। अत्यन्त शीतल होने से प्यास और शरीर की गर्मी तथा जलन को शान्त करता है। पसीना लाता है, बुखार तथा उसकी दाह को शान्त करता है, पित्तनाशक होने से पैत्तिक रोगों में गुणकारी है। बहते हुए खून को बन्द करने का (रक्तपित्तनाशक) गुण इसमें विशेष रूप से कहा जाता है। कफनाशक है। शरीर में बढ़ी हुई चरबी को घटाता है। कफ-पित्त के रोगों में यह परम गुणकारी है। आंखों तथा बालों के लिए हितकारी, टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला और शोफ (इडीमा) नाशक है। अमृत के समान गुणकारी यह फल थकान दूर करता है, मूत्र तथा प्रजनन संस्थान के रोगों में लाभ करता है, वीर्य बढ़ाता है और अत्यन्त वृष्य रसायन है। लवण रस को छोड़ कर शेष सब रस आंवले में होते हैं।

सूखे आंवले के गुण : तिक्त, अम्ल, कटु, मधुर तथा कषाय रसयुक्त है। त्रिदोषनाशक है, पित्त और कफ को विशेष रूप से नष्ट करता है। चरबी (मेदरोग) को घटाता है, विष प्रभावों को हटता है। टूटी हुई हड्डियों को जोडने वाला, आंखो तथा बालों के लिए हितकर, शरीर की धातुओं में वृद्धि कर के कान्ति उत्पन्न करने वाला है।

आंवले के बीजों के गुण : भाव मिश्र कहते हैं कि फल में जो वीर्य, गुण या प्रभाव होते हैं वही गुण उसकी गुठली या बीजों में समझने चाहिएं। आंवले के बीज मधुर, कषाय, वायु तथा पित्तनाशक, प्यास और वमन को शान्त करने वाले हैं। बुखार, खांसी, दमा और प्रदर को नष्ट करते हैं। पुंस्त्वशक्ति को बढाते हैं।

आवले और हरड़ के गुणों में अन्तर : आवले के गुण हरड़ के समान ही हैं। दोनों के गुणों में अतर यह दिखाया जाता है कि आवला शीत वीर्य है, हरड उष्ण वीर्य। इसमें अम्ल रस विशेष रूप से विद्यमान रहता है, हरड़ में कषाय रस प्रबल है। यह मुख्यतया पित्तकफनाशक है, हरड वातकफनाशक है।

त्रिदोषहर होने में हेतु : अम्ल रसयुक्त होने से वायु को, मधुर रसयुक्त तथा शीतल होने से पित्त को और रूक्ष तथा कषायरसयुक्त होने से कफ को दूर करता है।

विपरीत क्यों नहीं ? : मदन पाल ने यहां शंका उठाई है कि अम्ल रसयुक्त होने से आंवला पित्त को क्यों नहीं पैदा करता ? मधुर और शीत होने से कफ को प्रकुपित क्यों नही करता ? रूक्ष तथा कषाय रसयुक्त होने से वायु क्यों नही दूषित करता ? इसका समाधान वे करते हैं कि रस आदि हेतुओं के अतिरिक्त भी इसमे विशेष सामर्थ्य है जिसके कारण यह त्रिदोषघ्न है।

योग : आमलकी तेल : आमलकी स्वरस, चार किलोग्राम, तिल तेल एक किलोग्राम; मन्दाग्नि पर तेल सिद्ध करें। छारण-पत्र (filter paper) मे छान कर मनोनुकूल गन्ध डाल दें। यह तेल प्रति दिन सिर पर लगाया जाता है। सिर के दाह और शूल को शान्त करता है।

आमलक्यावलेह : आवले के पचास लिटर स्वरस में एक किलोग्राम खांड डाल कर मन्दाग्नि पर पकाएं। मैल को नितार कर फेंक दें और गाढा होने पर आग से उतार कर निम्नलिखित ओषधियो के चूर्ण को मिला दें—पिप्पली 300 ग्राम, मुलहठी 40 ग्राम, द्राक्षा 300 ग्राम, सोंठ 15 ग्राम और वशलोचन 40 ग्राम। ठण्डा होने पर 300 ग्राम शहद मिला लें।

मात्रा : छह से बारह ग्राम।

रोग : पाण्डु, कामला, पित्तरोग, शुक्रमेह आदि।

आमलकी खण्ड : 600 ग्राम कूष्माण्ड (पेठे) को 95 ग्राम घी मे भूनें। इसमे आमलकी स्वरस, कूष्माण्ड स्वरस और शर्करापानक प्रत्येक 200 मिलिलिटर डाल कर पाक करें। पाक हो जाने पर निम्नलिखित ओषधियों का चूर्ण डाल दें—पिप्पली, जीरा, सोंठ प्रत्येक 25 ग्राम; काली मिर्च 12 ग्राम, धनियां, तालीस पत्र, चतुर्जातक, मोथा प्रत्येक 3 ग्राम। शीत हो जाने पर 100 ग्राम शहद मिला दें।

मात्रा : छह से बारह ग्राम।

रोग : वमन, हृदयशूल, मूर्च्छा, अम्लपित्त, पित्तजन्य उदर शूल, कमर दर्द, रक्तपित्त, खांसी, दमा आदि।

धात्र्यरिष्ट : दो हजार ताजे आंवलो को कुण्डी-सोटे में पीस कर रस निकालें। इसमे पिप्पली चूर्ण 190 ग्राम और खाण्ड पाच किलोग्राम मिला कर पाक करें। खाण्ड घुल जाने पर उतार लें। ठण्डा होने पर आवले के रस मे अष्टमाश मधु मिला कर घी से चिकना किये हुए घड़े मे रख दें। उचित काल बाद अरिष्ट बन जाने पर छान कर प्रयोग करें।

मात्रा : पन्द्रह से तीस मिलि लिटर।

रोग : कामला, पाण्डु, हृद्रोग, कास, हिक्का आदि।

आमलाद्य लोह : आमला, पिप्पली और मिश्री प्रत्येक बारह ग्राम, लोह भस्म पेंतीस ग्राम, चूर्ण बनायें।

मात्रा : 240 मिलीग्राम।

आवला, हल्दी, शाल पर्णी, वच, वाय विडङ्ग, गिलोय, सोंठ, मुलैठी और पिप्पली मिलाए। सफेद खैर के कल्क से सिद्ध किए गये दूध से निकाला घी तथा मधु और खाण्ड मिला कर इसे प्रात. कुटि प्रावेशिक विधि से सेवन करें।

मात्रा : 360 से 1,200 मिलिग्राम। दिन में इसे अनेक बार आवश्यकतानुसार दे सकते हैं।

रोग : तीन वर्ष तक इस रसायन के निरन्तर सेवन से वृद्धावस्था से उन्मुक्त होकर सौ साल आयु होती है। सब रोग दूर हो जाते हैं। शरीर में विष प्रभाव नहीं होता। शरीर पत्थर की तरह कठोर होता है। कोई कृमि तथा अन्य जीव इस रसायन-सेवी के शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकते अर्थात् उसकी रोग प्रतिरोधक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि कृमि उसमें रोग उत्पन्न नहीं कर सकते।

पथ्य : औषध पच जाने पर सायंकाल मूग की दाल के रसे या दूध के साथ खूब घी डाल कर शाली या साठी के चावल खाए।

च्यवनप्राश · बिल्व, श्योनाक, अरणी, गाम्भारी और पाटला की जड़ की छाल प्रत्येक 95 ग्राम। बलामूल, शाल पर्णी, पृश्नि पर्णी, मुग्द पर्णी, माष पर्णी, पिप्पली, गोखरू, छोटी कटेरी, बड़ी कण्टकारी, काकड़ा शृङ्गी, भुई आंवला, मुनक्का, जीवन्ती, पुष्कर मूल, अगर, हरड, गिलोय, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, कचूर, मोथा, पुनर्नवा, मेदा, छोटी इलायची, लाल चन्दन, नीलोत्पल, विदारी कन्द, बांसे की जड़, काकोली और काकनासा प्रत्येक 95 ग्राम। आंवले पांच सौ (साढ़े पांच किलोग्राम), इन्हें पचास लिटर जल में पकाए। आंवलों को कपड़े में ढीली पोटली बांध कर डालना चाहिए। क्वाथ बन जाने पर आंवले की पोटली निकाल लें। क्वाथ को वस्त्रपूत कर लें। अन्दर की औषधियों को फेंक दें। आंवले में से गुठली निकाल कर उन्हें हाथ से अच्छी तरह कुचल दें। कपड़े में छान कर रेशे फेंक दें। छानी हुई आंवले की पीठी को तिल तेल और घी के एक किलोग्राम यमक में भूनें। घी और तेल प्रत्येक पांच सौ ग्राम लें। भुन जाने पर उतार कर अलग रख लें। छाने हुए क्वाथ में साढ़े चार किलोग्राम खाण्ड घोलें और आग पर रख मैल निकाल दें। आंवले की भूनी हुई पीठी में इस खाण्ड मिश्रित क्वाथ को डाल कर आग पर चढ़ाए। हल्की-हल्की आग से पकाएं। लेह की तरह सिद्ध हो जाने पर उतार लें। भूनते और पकाते समय लकड़ी के खोंचे से लगातार हिलाते रहना चाहिए जिससे पात्र के तले में औषध लग कर जल न जाय। शीतल हो जाने पर साढ़े पांच सौ ग्राम शहद, 380 ग्राम वंशलोचन, 190 ग्राम पिप्पली, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और नागकेसर प्रत्येक 25 ग्राम मिला कर आलोडित कर लें।

चरक संहिता में पठित क्वाथ्य द्रव्यों की संख्या योग रत्नाकरोक्त संख्या एक

---

1 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलकीय रसायन पाद; 60-72

समान ही है। परन्तु योगरत्नाकर मे मुग्द पर्णी, माप पर्णी और काक्नासा न पढ कर वृद्धि, क्षीरकाकोली और महामेदा ये अष्टवर्गोक्त द्रव्य विशेष पढ़े गये है।[1] शार्ङ्गधर[2] ने क्वाथ्य द्रव्यों में क्षीरकाकोली और महमेदा दो द्रव्य अधिक पढे हैं। इससे मिलित क्वाथ्य द्रव्यो की मात्रा 3.50 किलोग्राम हो जाती है। चरक मे क्वाथ बन जाने की पहचान लिखी है 'जब ओषधियों का सारा रस क्वाथ मे आ जाय'। चक्र पाणि ने 'गतरसानि' की टीका करते हुए चतुर्थांश बचा लेने के लिए कहा है। अष्टाग हृदय मे भी पादशेप रस से चतुर्थांश बचाने का अभिप्राय है। शार्ङ्गधर सहिता मे अष्टमाश बचाने का विधान है। इसके अतिरिक्त आवले की पीठी को भूनने के लिए शार्ङ्गधर ने तेल का पाठ नही किया और साढ़े पाच सौ ग्राम घी के स्थान पर साढे छह सौ ग्राम घी लेने के लिए कहा है। इसी प्रकार प्रक्षेप मे दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और नागकेसर को पृथक्-पृथक् बारह ग्राम लेने के लिए कहा है जबकि चरक सहिता मे इनकी मात्रा चौबीस ग्राम है।

मात्रा : बारह से चौबीस ग्राम।

रोग : कास, श्वास, स्वरभंग, छाती व फेफड़े के रोग, हृद्रोग, वातरक्त और वीर्य दोषो को दूर करता है। वृद्धो के अंगों को बल देता है और बालको के अवयवों को बढ़ाता है। इसके सेवन से मेधा, स्मृति, कान्ति, दीर्घ आयु, निरोगता, इन्द्रियो की सबलता, देहाग्नि की दीप्ति, वर्ण की निर्मलता आदि गुण पुरुष में आते हैं। कुटी प्रावेशिक विधि से इसे प्रयोग करने वाला वृद्ध पुरुष भी बुढापे के चिह्नों से रहित होकर नवयौवन को प्राप्त करता है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अत्यन्त वृद्ध च्यवन ऋषि इसके सेवन से जवान हो गये थे इसलिए इनका नाम च्यवनप्राश रसायन रखा गया है।

इस उपयोगी रसायन को वाग्भट ने अष्टाग हृदय(रसायन अध्याय 39;33- 1) में, हारीत ऋषि ने हारीत सहिता (क्षय रोग चिकित्सा 9; 46-62) मे और चक्र पाणि ने चक्रदत्त (यक्ष्म चिकित्सा; 46-53) में भी लिखा है।

ब्राह्म रसायन[3] : एक हजार (1.660 किलोग्राम) आंवलों को दूध की ऊष्मा मे स्विन्न करें। स्विन्न करने की विधि निम्नलिखित है—दूध-भरी पतीली के ऊपर एक हाण्डी रखें। इस हाण्डी के तल मे अनेक छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिएं। कपड़-मिट्टी से सन्धि-बन्धन कर के हाण्डी में आंवलों को डाल दें। पतीली के नीचे आग जलाएं। दूध के वाष्प बन कर उठेंगे और वे आंवलों को स्विन्न करेंगे। दूध इतना डालना चाहिए कि उबालने पर ऊपर की हाण्डी मे न चला जाय। तब भी उबाल आता मालूम दे तो पतीली के बाह्य पृष्ठ पर ठडे पानी मे भीगा कपडा रख दें, उबाल शान्त हो जाएगा। ऊपर की हाण्डी के मुख को ढक्कन से ढक देना चाहिए। स्विन्न हो जाने पर आंवलों की गुठली

1 योग रत्नाकर।
2 शार्ङ्गधर संहिता।
3 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, अभयामलक रसायन पाद; 56-59

निकाल फेंके और शेष भाग को छाया में सुखा लें। चूर्ण करें। आंवलों के इस चूर्ण को हजार ताज़े आवले का स्वरस पिलाए। रस डाल कर रख दें और रोज घोटते रहें। रस सूख जाने पर इस का अष्टमाश निम्नलिखित द्रव्यो का चूर्ण मिलाएं—शालपर्णी, पुनर्नवा, जीवन्ती, नागबला, ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी, पिप्पली, बच, वाय विडङ्ग, कौंचबीज, गिलोय, लाल चन्दन, अगर, मुलहठी, मदार के फूल, नीला कमल, श्वेत कमल, मालती के फूल, गुलाब की पंखुरिया और जूही के फूल। फिर इस चूर्ण मे साठ लिटर ताजी नागबला का रस डाल कर छाया में सुखाएं। सूख जाने पर फिर पीस ले। एक भाग मधु तथा दो भाग घी मिला कर राब के सदृश बना लें। घृत भावित स्वच्छ और दृढ घड़े मे बन्द कर दें। भूमि मे गढा खोद कर सोलह अंगुल उपलों की राख बिछा दें, उस पर घड़ा रख दें। घड़े के चारों ओर गढे को उपलो की राख से भर दें। घड़े के मुख के ऊपर तथा चारो ओर बारह-बारह, सोलह-सोलह अंगुल राख आ जानी चाहिए। पन्द्रह दिन बाद घड़े को निकाल कर उस में सोना, चादी, प्रवाल, ताम्र और फौलाद की सम भाग मे मिश्रित भस्मो का अष्टमाश डाल दें। ओषधि सेवन करते समय भी इसी अनुपात मे भस्मे मिलाई जा सकती हैं। इस रसायन को कुटी प्रावेशिक विधि से सेवन करना चाहिए।

आमलकावलेह[1] : पूर्ण गुणयुक्त एक हजार (1.660 किलोग्राम) आंवलों को ढाक की ताजी गीली लकड़ी की बनाई गई द्रोणी मे भर दें। द्रोणी का ढक्कन भी ढाक की लकड़ी का बना हो और मुख पर ठीक बैठ जाता हो कि बाष्प बाहर न निकाल सकें। आवलों से भरी हुई बन्द द्रोणी को उपलो की आग पर रखें। द्रोणी की गीली लकडी और आवले के जलीय भाग के वाष्प से आंवले स्विन्न हो जायेंगे। स्विन्न हो जाने पर आग से उतार कर खोल लें और ठण्डा होने दें। ठण्डा हो जाने पर गुठली और रेशे निकाल फेंके। आवलों को कुचल कर कपड़े मे से हथेली द्वारा मल कर छानने पर रेशे पृथक् हो जाते है। छने हुए आवलों में पिप्पली चूर्ण और छिलके रहित वाय विडंग प्रत्येक छह किलोग्राम, खाण्ड नौ किलोग्राम, तिल तेल, घी, और शहद प्रत्येक बारह किलोग्राम यथाविधि मिला कर घी से भावित पवित्र और मजबूत पात्र मे रखें। इक्कीस दिन पड़ा रहने के बाद प्रयोग करें।

मात्रा : छह से बारह ग्राम

रोग : इसके नियमित सेवन से बुढ़ापा दूर होता है और आयु सौ वर्ष होती है। उत्कृष्ट रसायन है।

आमलकायस ब्राह्म रसायन[2] : माघ व फाल्गुन मास में सर्वगुण युक्त आंवलो को वृक्ष पर से अपने हाथ से तोड़कर इकट्ठा कर लें। गुठलियां निकाल कर छाया मे सुखा

---

1 चरक, चिकित्सा स्थान 1, प्राणकामीय पाद; 10

2 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, कर प्रचितीय रसायन पाद; 2-7

लें। इस शुष्क चूर्ण को आंवले के स्वरस की इक्कीस भावना दें। प्रत्येक भावना के बाद चूर्ण को छाया में सुखाएं। पूर्णतया सूख जाने के बाद स्वरस डालना चाहिए; इक्कीस बार भावित यह चूर्ण छह किलोग्राम लें। जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, मुग्द पर्णी, माष पर्णी, जीवन्ती, मुलहठी, सारिवा, राजक्षवक, बला, काकोली, क्षीर काकोली, श्वेतबला, पीतबला, वन कपास, विदारीकन्द, विधारा, खस, शालि, सांठी के चावल, गन्ना, इक्षुवालिका, दाभ, कुश, सरकण्डा, गुन्द्रा, इत्कट (तृण-भेद), जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुग्द पर्णी, माष पर्णी, मेदा, शतावरी, जटामांसी, कुलिंग, गिलोय, हरड़, आंवला, रास्ना, श्वेत अपराजिता, जीवन्ती, शतावरी, मण्डूक पर्णी, शालपर्णी, पुनर्नवा और चन्दन, अगर, धव, आबनूस, खदिर, शीशम, असन, इनके मध्य काष्ठों (heartwood) के छोटे-छोटे टुकड़े और हरड, बहेडा, बच, चव्य, चित्रक, वाय विडंग ये सब द्रव्य मिलाकर छह किलोग्राम लें। इन्हें साठ लिटर जल में सिद्ध करें। बारह लीटर जल शेष रहने पर कपड़े मे छान लें। इस क्वाथ में पहले से तैयार किया हुआ आंवलों का उपर्युक्त चूर्ण डाल दें। इसको उपलो की आग से या फाड़े हुए बांस की आग से अथवा सरकण्डे व तेजबल की अग्नि से धीरे-धीरे तब तक पकाए जब तक क्वाथ सूख न जाय। बहुत तेज आग न दें अन्यथा औषध के जल जाने का भय रहता है। क्वाथ भाग उड़ जाने पर औषध को निकाल कर लोहे के पात्र में फैला कर सुखा लें। अच्छी प्रकार सूख जाने पर काले मृग के चर्म पर रखी सिल पर चूर्ण को भली प्रकार बारीक पीस लें और लोहे के पात्र में रख छोड़ें। प्रयोग के समय इस चूर्ण का आठवां भाग लोहभस्म मिला लें।

माशा : चूर्ण बीस ग्राम + लोह भस्म 240 मिलिग्राम।

रोग : यह रसायन बुढापे और रोग के असर को दूर करता है। बुद्धि को कुशाग्र करता है। इन्द्रियों को बल देता है। आयु दीर्घ करता है। इस रसायन को ब्रह्मा ऋषि ने बनाया था। वशिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु और अन्य अनेक महर्षियों ने इस रसायन का सेवन किया था जिससे रोग और बुढ़ापे के कष्टों से मुक्त हो कर वे सुख से तप करते रहे थे।

अनुपान : मधु और घृत।

केवलामलक रसायन[1] : इस रसायन को सेवन करने वाला एक साल तक केवल दूध पर निर्वाह करता हुआ गौओं के बीच में रहे और वहां जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहता हुआ मन से गायत्री मंत्र का ध्यान करता रहे। एक साल बाद पौष, माघ व फाल्गुन की किसी शुभ तिथि में प्रयोग आरम्भ करे। प्रयोग से पूर्व तीन दिन उपवास करे। फिर स्नान आदि से शुद्ध हो कर आंवले के वन में किसी बड़े फल वाले आंवले के वृक्ष पर चढ़ कर शाखा में लगे हुए फल को हाथ से पकड़ कर ओ३म् का जप करे। तब आंवले को खाये। महर्षि चरक कहते है कि जितने आंवले खायेगा उतने ही हजार साल

1 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 1, कर प्रचितीय रसायन पाद; 8-13

युवा होकर जीवित रहेगा। यदि भर पेट खा कर तृप्त हो जाय तो अमर सदृश ही हो जाता है अर्थात् उस की आयु बहुत दीर्घ हो जाती है और कान्ति, लक्ष्मी, वेद, और सरस्वती स्वय उस मनुष्य के पास उपस्थित हो जाती है।

लकड़ी जगलो मे आंवलो के वृक्षों को काट कर लकड़ी ले ली जाती है। जड़ से इसकी फिर नई शाखाए निकल आती हैं, बड़ा होने पर उन्हे फिर काट लिया जाता है। इस प्रकार ईधन के लिए इसमे से पर्याप्त लकड़ी निकल आती है। लकड़ी की बल्लिया अच्छी बनती है। कृषि के औज़ार और फ़र्नीचर बनाने के लिए उपयोगी है। यह घटिया इमारती लकडी है। सुखाते हुए मुड जाती है और दरारे पड़ जाती हैं। पानी में यह टिकाऊ होती है। इसलिए कुएं सम्बन्धी प्रयोजन मे काम लाई जा सकती है। लडकी की छोटी कतरने और छोटी शाखाए गदले पानी में डालने से पानी साफ हो जाता है इसलिए कूप-वृत्तों को बनाने मे इसका उपयोग बहुत किया जाता है।

शार्ङ्गधर की सम्मति मे कुए का पानी कड़वा, खारा, बेस्वाद, गदला और दुर्गन्धयुक्त हो तो आंवले के चूर्ण को कुएं मे डालने से पानी निर्मल, मीठा, सुगन्धित तथा गुणकारी हो जाता है।[1]

टैनीन : टैनीन के उत्पादन के लिए वृक्ष का विशेष महत्त्व कहा जाता है, परन्तु लकड़ी की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कम मांग वाला वृक्ष है। रंगने और कमाने के लिए छाल की मांग बढ़ सकती है। वृक्ष से अधिक लाभ लेने की विधि यह है कि कुछ बड़ा होने पर वृक्ष को काट दिया जाय। फिर जड़ से नयी शाखाएं निकलेंगी। उनसे छाल और ईधन दोनो प्राप्त किए जा सकते हैं।

चर्मकर्म में : फल, पत्ते और छाल सब मे टैनीन होने से ये भारत के विभिन्न भागों में चर्मकर्म के लिए प्राय: हरड़ आदि किसी पक्के टैनीन पदार्थ के साथ मिला कर प्रयुक्त होते हैं। बंगाल के चमार कमाने के लिए पत्तों को बहुत अच्छा समझते है। त्रावनकोर मे छाल चर्मकर्म में काम आती है। भारत मे किए गये वैज्ञानिक परीक्षणों के अनुसार उत्तम चमडा प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित मिश्रण चर्मकर्म मे अच्छा रहता है। आंवले की छोटी शाखाओ की छाल पचास प्रति शत, ककरौंदे की तीस प्रति शत और धौरा या बाकली (*Anogeissus latifolia* Wall=आनोगेइस्सुस लाटिफोलिआ) की बीस प्रति शत। इस मिश्रण से रंगा हुआ चमड़ा लालिमा लिए हुए भूरा होता है।

कपड़ा रंगने के लिए : *कपड़ा रगने में आंवले के विभिन्न भागों का उपयोग* होता है। फलों से प्राप्त रग काला-सा भूरा होता है। फल अकेला बहुत कम प्रयुक्त होता है। बहेड़े और हरड की तरह काला रग प्राप्त करने के लिए यह प्राय: लोहे के लवणों के साथ या अन्य वृक्षों की छालों के साथ प्रयोग मे आता है। यह रंग को अधिक गूढा कर देता है। टसर और मलबेरी पर इससे सुन्दर हल्के भूरे रंग प्राप्त किए गए

---

1 बृहत्संहिता, अध्याय 54 : 121-122

हैं। रुई पर बहुत बढ़िया रंग नही देता। छाल और पत्ते भी प्रयुक्त होते है और वही रग देते है। पत्तों में हलके मैले और भूरे से पीले रग के रजक पदार्थ स्वल्प परिमाण मे होते हैं। ये पानी में विलेय है। टसर, रेशम, मलबेरी और ऊन पर इस रग की हलकी परन्तु बहुत सुन्दर छायाए आती हैं। पत्तों के प्रयोग से रेशम पर सुन्दर भूरे रग की छायाए प्राप्त की जाती है और लोह लवणों के साथ रंग काले मे बदल जाता है। हागकौंग मे चीनी लोग पत्तों को रगने के लिए इस्तेमाल करते है। जावा में इनसे चटाइयां रगी जाती हैं। शिवसागर जिले में हरड़, जामुन, और अमरूद की छाल के साथ आवले की छाल मिला कर काला रंग बनाते है। मलाया में फल भोजनो मे मसाले के रूप मे काम आता है। भारत की तरह मलाया में भी इसका आचार और मुरब्बा डाला जाता है। डच ईस्ट इण्डीज़ मे भी यह इसी तरह प्रयुक्त होता है। मुरब्बा बनाने के लिए भारत मे बनारसी आंवले ने बहुत ख्याति प्राप्त की है। यह आंवला कलमें बाध कर तैयार किया जाता है। सामान्य आवलों की अपेक्षा आकार मे बनारसी आंवला लगभग तिगुना या चार गुना बडा होता है। मुरब्बा बनाने के लिए ताज़े हरे फलो को एक-दो दिन चूने के पानी मे डुबो रखें फिर सादे जल मे उबालें। जरा-सा मृदु हो जाने पर काष्ठ की शलाका से छिद्र कर दुगुनी या तिगुनी खाण्ड की चाशनी में डालें। जब फल पानी छोड़ दे तो आग पर रख कर जल भाग उड़ा दे। आंवलों के अन्दर अच्छी तरह चाशनी चली जाने पर मुरब्बा बन गया समझें।

सूखे फल मैल साफ करने वाले समझे जाते हैं। और इसलिए साबुन के स्थान पर सिर धोने के काम आते हैं। रात को इन्हे पानी मे भिगो कर रख देते हैं और अगले दिन इस पानी से सिर धोते हैं। यह बालों को मुलायम और लम्बा करता है, ऐसा विश्वास प्रचलित है।

चारा : कुछ पशु फलों को चाव से खाते है। पत्ते अच्छा चारा समझे जाते हैं।

गोंद : वृक्षों मे से एक गोंद निकलती है। यह उपयोगी नही होती।

बिड लवण बनाने के लिए : आवले का प्रयोग बिड लवण के निर्माण मे किया जाता है। निर्माण विधि यह है—छब्बीस किलोग्राम सांभर नमक को दस छटांक सूखे आवलो के साथ मिला लें। इसमें से चौथाई पदार्थ को तग मुंह के गोल मृत्पात्र मे डाल कर भट्टी मे एक घटे तक आंच देते है। पात्र के अन्दर का पदार्थ गरम हो जाने पर बचे हुए पदार्थ को भी धीरे-धीरे मिलाते जाते हैं। सारा पदार्थ डाल चुकने के बाद इसे कोई छह घण्टे की तेज लाल आंच दी जाती है। उसके बाद भट्टी और पात्र स्वय ठण्डे होने दिये जाते हैं। बरतन को तोड़ने से 22.400 किलोग्राम बिड नमक प्राप्त हो जाता है।

प्रभाव तथा चिकित्सा में उपयोग : भारतीय चिकित्सा का आंवला महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। प्राचीनतम लेखक चरक, सुश्रुत से लेकर आधुनिक लेखकों तक ने इसे बहुत महत्त्व दिया है। अनेक योगो में यह महत्त्वपूर्ण भाग लेता है और बहेड़े तथा हरड़ के

साथ मिला कर त्रिफला रूप में यह प्रायः सब रोगों में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया जाता है।

ताजा फल तृषाशामक, मूत्रल और अनुलोमक होता है। शुष्क फल ग्राही और वाचक होता है। फूल शीतल और सारक होते हैं। छाल में पके फल की ग्राहकता होती है।

हकीम इसे आयुर्वेदिक चिकित्सकों की तरह प्रयोग करते हैं। वे इसे ग्राही, तृषाशामक, हृदय और शरीर के दोषों को शुद्ध करने वाला समझते हैं। शीतल और ग्राही गुण के कारण वे इसे बाह्य प्रयोग में भी काम लाते हैं।

रसायन : आंवले का रसायन रूप में उपयोग राजा भोज लिखते है—आंवले के चूर्ण को घी, शहद, और तेल मिला कर एक महीने तक खाने से वाक्पटुता, शरीर में कान्ति और नवयौवन आता है। आंवले के चूर्ण को पानी, घी या शहद के अनुपान से रात्रि में सेवन करते रहने से उदराग्नि बढ़ती है; नाक, कान तथा आंख स्वस्थ रहते है और जवानी प्राप्त होती है। बुढ़ापे के प्रभाव से बचने के लिए आंवले के रस में शहद, मिश्री और घी मिला कर सेवन करना चाहिए।

गरुड़ पुराण के अनुसार इसके पानी से स्नान करते रहने से स्वस्थ रहता हुआ मनुष्य सौ साल तक लक्ष्मी सम्पन्न होकर जीवित रहता है। उसके बाल सफ़ेद नहीं होते। पुराणकार आंवले में सदा लक्ष्मी का निवास मानते हैं।

निर्बल बच्चों को : शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निर्बल बच्चों को छह से बारह ग्राम च्यवनप्राश प्रति दिन प्रातःकाल गाय के दूध से सेवन कराया गया है और प्रत्येक उदाहरण में आश्चर्यजनक उन्नति देखी गई है। रेडियोमाल्ट और विभिन्न ब्रैण्डों के कौड लिवर ऑयल आदि यद्यपि आजकल शक्ति-जनक औषधियों के रूप में बहुत अधिक प्रयुक्त हो रहे है परन्तु बालक जितनी सुगमता से च्यवनप्राश को लेते हैं उतना दूसरी चीजों को नहीं लेते। कौड लिवर ऑयल(मछली का तेल)की अपेक्षा बच्चों के लिए यह अधिक सात्म्य पड़ता है। अरुचिकर गन्ध और स्वाद के कारण मछली के तेल से उत्पन्न होने वाले जी मचलाना आदि लक्षण च्यवनप्राश के सेवन में नहीं उत्पन्न होते।

मुख, गला, दांत : पित्त प्रकोप के कारण मुख में छाले पड़ गए हों या मुखपाक हो तो मूल की छाल को घिस कर शहद से लेप करने से लाभ होता है। पत्तों के कषाय से गरारे करने से भी आराम आ जाता है। आंवले और पिप्पली को डाल कर पकाई हुई यवागू गले के रोगों के लिए हितकर होती है।[1]

आंवले में ग्लूकोज भी प्रचुर परिमाण में होती है इसलिए स्कर्वी में यह बहुत

1 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 2; 60

उपयोगी होता है। जिन बच्चों के दांत कमजोर हों, ठीक तरह न निकलते हों, बहुत भंगुर हों या शीघ्र ही कीड़ों से खाए जाते हों उन्हें रोज ताज़े आवले खाने चाहिए या इसके च्यवनप्राश आदि योग नियम से सेवन करने चाहिए। आंवलो को चबाने से या दांतों पर घिसने से दन्त-रोगों में लाभ होता है।[1]

खाद्योज सी का प्रचुर स्रोत आवले में जितनी अधिक मात्रा में खाद्योज (विटामिन) सी रहता है उतना सम्भवत. किसी अन्य फल मे नही। ताज़े आंवले के रस में नारंगी की अपेक्षा बीस गुणा अधिक सी रहता है। एक आंवले मे डेढ-दो संतरों (बड़ी नारंगी) के बराबर सी रहता है। प्रति सो ग्राम आंवले मे 600 मिलीग्राम खाद्योज सी रहता है।

फलों और सब्जियों को गरम करने, पकाने या सुखाने से उनके खाद्योज का अधिकाश या प्रायः सम्पूर्ण अश नष्ट हो जाता है। परन्तु आवला इस विषय का अपवाद है। पकाने पर भी इसका सब खाद्योज नष्ट नही होता। इसके तीन कारण है। एक तो आंवले मे इतना खाद्योज सी रहता है कि कुछ नष्ट होने पर भी काफ़ी खाद्योज बचा रह जाता है। दूसरे, आंवले में खटास होती है और खटास खाद्योज सी की बहुत कुछ रक्षा करती है, उसको नष्ट नही होने देती। तीसरे, आवले मे कुछ अन्य पदार्थ भी है जो खाद्योज सी की कुछ रक्षा करते है। इसीलिए आवले के मुरब्बे मे भी कुछ खाद्योज सी रह जाता है। आंवले को सुखा कर रखने से भी बहुत कुछ सी बचा रहता है।

सुखाने की अच्छी विधि : सुखाने की एक रीति यह है कि इसे हल्के हाथ कूट कर छोटे टुकड़ों में कर लिया जाय और धूप मे डाल कर झटपट सुखा लिया जाय। सूख जाने पर गूदे को बारीक पीस लिया जाय। इस प्रकार बनाये चूर्ण मे प्रति ग्राम दस से सोलह मिलीग्राम खाद्योज सी रहता है। विशेष रीतियों से सुखाने पर सी की और अधिक मात्रा सुरक्षित रह जाती है। चूर्ण के रखे रहने पर धीरे-धीरे खाद्योज नष्ट होता रहता है, विशेषकर यदि चूर्ण नमी वाले या गरम स्थान मे पड़ा रहे। परन्तु फिर भी साधारण रीति से रखा रहने पर आवला चूर्ण महीनों तक उपयोगी सिद्ध होता है। चूर्ण को यथासम्भव सूखे और ठण्डे स्थान में रखना चाहिए।

आंवले को रखने की एक और विधि यह है कि इसमे नमक मिला दिया जाय। इसके लिए आंवलो को पहले खौलते पानी मे छह्-सात मिनट तक डुबो देना चाहिए, और फिर उन्हे नमक के खूब गाढे घोल में रख देना चाहिए। इस रीति से आवले का खाद्योज सी बहुत कुछ सुरक्षित रह जाता है। जब आंवलो को बहुत देर तक उबाला जाता है और फिर घी या तेल में डाला जाता है और नमक-मसाला डाला जाता है तो अधिकांश खाद्योज नष्ट हो जाता है।

युद्ध काल का आवश्यक पदार्थ : आंवला चूर्ण से बनी टिकिया फ़ौजी सिपाहियों को खाद्योज सी प्रदान करने के काम में आ रही हैं। 1914-18 की लड़ाई मे मेसो-

1 हारीत संहिता; दन्तरोग चिकित्सा, अध्याय 46; 12

पोटेमिया तथा अन्य क्षेत्रों मे, जहां हरी साग-सब्जियो की कमी थी या जहां वे मिल ही नही सकती थी, अनेक सिपाहियों को स्कर्वी रोग हो गया था। गत समर में आवला चूर्ण की टिकियों के प्रयोग के कारण कही भी स्कर्वी न हो पाया और इस प्रकार सैनिकों का स्वास्थ्य सुरक्षित रहा। सन् 1940 मे जब हिसार में दुभिक्ष से आक्रान्त क्षेत्र मे स्कर्वी प्रचण्ड रूप धारण कर रहा था तब ताजा आवला इस रोग का अचूक इलाज सिद्ध हुआ था।

भोजन सम्बन्धी उपयोगिता : भारत सरकार की रिपोर्ट (हेल्थ बुलेटीन नम्बर 23) मे आवले की भोजन सम्बन्धी उपयोगिता को बताते हुए इसमे निम्नलिखित द्रव्यों का संघटन बताया गया है .

प्रोटीन	0.5 प्रति शत
वसा (ईथर एक्स्ट्रैक्टिव्स)	0.1 प्रति शत
खनिज पदार्थ	0.7 प्रति शत
रेशे	3.4 प्रति शत
कर्बोदित (कार्बोहाइड्रेट्स)	14.1 प्रति शत
चूना (कैल्शियम)	0.05 प्रति शत
प्रस्फुरक	0.02 प्रति शत
जलीयांश	81.2 प्रति शत

प्रति सौ ग्राम मे लोहा 1.2 मिलीग्राम होता है। प्रति सौ ग्राम में ऊष्मा उत्पन्न करने की क्षमता 59 है। प्रति अठाईस ग्राम मे सत्रह ऊष्मा इकाइयां होती है।

एक लाभप्रद व्यवसाय : बड़े पैमाने पर फल-सरक्षण का काम करने वाले लोगों तथा स्क्वैश आदि फल-पेयों के निर्माताओं को मैं सलाह दूंगा कि यदि वे आम, सन्तरा आदि के स्क्वैश की तरह आवले के स्क्वैश को भी बाजार मे रखें तो जनता मे इसकी अच्छी मांग पैदा हो जायेगी और निर्माताओ के लिए यह अच्छे मुनाफे का धन्धा होगा। आंवला हमारे बड़े देश के अधिक भूभाग में जगल मे स्वयं पैदा होता है। इसकी उत्पत्ति इतनी अधिक है कि पूरी पैदावार का हम ठीक तरह उपयोग नहीं कर पाते। जिन प्रदेशों में यह होता है वहा से पास के शहरों और मण्डियों मे बिकने आ जाता है। आचार, मुरब्बे तथा दवाओं मे प्रयोग किए जाने के बाद जो पैदावार बचती है वह सुखा कर रख ली जाती है। हमारा विश्वास है कि इन उपयोगों के बाद भी पैदावार का एक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है। स्क्वैश के रूप में यदि इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया जाय तो विश्वास है कि सारी पैदावार का हम पूरा लाभ उठा सकेंगे जिससे हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति में भी वृद्धि होगी।

आवला स्क्वैश की लोकप्रियता : हमारे देश मे फलों, शाक-सब्जियों की जो सामान्य कमी है उसके कारण सर्व साधारण को जीवन के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ

खाद्योज सी भी पर्याप्त नहीं मिल रहा है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमारे पास सबसे अधिक सस्ता और बहुत बड़े पैमाने मे मिलने वाला आवला फल है। भारत सरकार का जंगल विभाग गत महायुद्ध मे इसी प्रयोजन के लिए फ़ौजियों को आवला देता रहा है। यह आंवला सूखी शक्ल में जाता था और इसका यह रूप भोजन की अपेक्षा दवा अधिक प्रतीत होता था। आंवला दवा के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण भोजन भी है। इसके ताजे रस को सुरक्षित करके जो स्क्वैश बनाए जाएंगे उनका भोजनों के रूप में हमारे घरों में, होटलों और रेस्तरां में बहुत उपयोग होगा। ताज़े आंवलों का स्वाद खट्टा होता है। इसकी खटास मे जो हलका-सा कसैलापन होता है उसकी अपनी विशेषता है। पजाबी की एक प्रसिद्ध कहावत का आशय है कि वृद्धजनों की बात का और आंवले के स्वाद का बाद मे ही महत्त्व पता चलता है। प्रकट रूप मे आंवला खट्टे और कसैले स्वाद वाला एक फल है परन्तु यह कहावत इसमें छिपे उस मिठास की ओर सकेत करती है जिसका स्वाद बाद में आया करता है। आवले के ताज़े रस का रग बहुत *सुन्दर सफ़ेदी लिए हरा-सा होता है। स्वाद, रूप, रंग और सस्तापन तथा माग आदि* सभी दृष्टियों से आवले के स्क्वैश तथा दूसरे प्रकार के पेय अच्छे लोकप्रिय होंगे, ऐसी सम्भावना है।

भोजनों में : भोजन के आदि, अन्त या मध्य में किसी समय भी आवला खाया जा सकता है। भोजन से पांच-सात मिनट पहले खाया गया आंवला पाचक रसों को उत्तेजना दे कर भूख बढ़ाने का काम करेगा। बीच मे खाने से यह भोजन को पचाने मे सहायता देगा। अजीर्ण में आवले के अनेक योगों का प्रयोग किया जाता है। क्षुधा-उत्तेजक रूप मे आंवले का मुरब्बा और आचार खाया जाता है। भोजन के बाद जिन लोगो को सुपारी आदि खाने की आदत है वे आवले को निम्नलिखित विधि से तय्यार करके नियमित रूप से सेवन कर सकते हैं :

वृक्ष पर पके हुए ताज़े आवलों को फरवरी-मार्च मे ले। चाकू से फांकें काट ले। गुठली फेंक दे। फाकों के समान चीनी तोल ले। शीशे के मर्तबान मे दोनों को मिला कर धूप मे रख दें। यह पानी छोड़ देगा। कुछ महीनो तक धूप में पड़ा रहने दें तो पानी उड़ जायगा। आंवले की सूखी फाकों मे चीनी भलीभांति रम गई होगी। सम्यक्तया सूख जाने पर ढक्कन लगा कर मर्तबान को रख लें। जब तक धूप में सूखने के लिए रखा जाय मुंह के ऊपर पतला कपड़ा बांध देना चाहिए जिससे धूल और मक्खियां अन्दर न जा सकें।

महास्रोतस् के रोग : महास्रोतस् पर आंवले का शामक और अनुलोमक प्रभाव होता है। आमाशय मे पित्तप्रकोप के कारण अम्लपित्त हो जाने पर प्रात.काल आमलकी खण्ड दिया जाता है अथवा भोजन के पीछे आधा तोला आमलकी चूर्ण को पानी के साथ दिया जाता है। खट्टे डकारों के साथ अम्लयुक्त आमाशयिक रस मुख में आता है और गले में दाह पैदा करता है, अम्लपित्त के ये लक्षण इसके सेवन करने से तीन दिन

सबकी यह उपयोगिता है इसीलिए वे योग रसायन कहे जाते है ।

रक्तपित्त, नक्सीर : खून आने (रक्तपित्त) मे खाण्ड मिले आवले के चूर्ण की फक्की दी जाती है । नासा रक्तस्राव (नक्सीर) मे आवले के योग पित्तप्रकोप के शमन के लिए दिए जाते है । आमलकी शीतकषाय से नासिका का सेवन किया जाता है और घी में भूने हुए आवले के कल्क का सिर पर लेप किया जाता है । चक्र पाणि का अनुभव है कि यह लेप नाक से आते हुए रुधिर को इस प्रकार रोक देता है जैसे जलधारा के वेग को बांध रोकता है ।[1] जिन्हें नक्सीर फूटने की शिकायत हो जाया करती है उन्हे ताजे आंवले या आंवले का रस सेवन करना चाहिए । आंवलों का मौसम न हो तो तीन ग्राम सूखे आंवलों को सोते समय आठ गुने पानी मे भिगो कर सुबह जल नितार ले और शहद मिला कर पी जाया करे ।

मदात्यय : शराब अधिक पीने से होने वाले (मदात्यय) रोगों मे आंवले के चूर्ण में चीनी मिला कर फक्की लेनी चाहिए ।

मस्तिष्क और सिर के रोग : सिर पर चोट लगने के कारण सिर मे रक्त-संचय हो जाय तो आंवले के कल्क को घी के साथ मिला कर क्षत स्थान पर और सिर पर लेप कर देते है ।[2] गरमियों में सिर के रक्त संचय को हटाने के लिए आवले का तेल लगाया जाता है । मस्तिष्क के रक्त-सचार में कुछ बाधा हो, सिर व नेत्रों में जलन अनुभव होती हो तथा सिर दर्द की प्रवृत्तिऔर विचारों मे गड़बड़ी रहती हो तो आंवले का तेल सिर पर मलने से लाभ होता है । कुछ ही दिनों मे जलन शान्त हो जाती है और मस्तिष्क की विचार शक्ति ठीक हो जाती है ।

760 ग्राम तिल के तेल और आंवले के डेढ़ लिटर रस मे पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, लाल चन्दन, नीलोफर प्रत्येक 12 ग्राम का कल्क डाल कर विधि-पूर्वक तेल पका लें । सिर के सब रोगों में यह नाक के अन्दर टपकाने से लाभ करता है ।[3] सिर पकना आदि सिर के बाहरी रोगों में आंवला, अमलतास के कोमल पत्ते, लाख और पनवाड़ के बीजो का लेप करने से शीघ्र लाभ होता है ।[4]

बालों के लिए : भीतरी और बाहरी प्रयोग में आवला बालो के लिए हितकर है । आंवले के जल से सिर धोना बहुत गुणकारी है । आमलकी तेल के दैनिक व्यवहार से बाल झड़ने बन्द हो जाते हैं । आंवला, पद्म केसर और मुलहठी के चूर्ण मे शहद मिला कर सिर पर लेप करने से केशों की पुष्टि होती है, उनकी जड़े मजबूत होती हैं, और वे काले भी हो जाते है ।[5] आवले को आम की गुठली के साथ पीस कर सिर पर लेप

---

1 चक्रदत्त, रक्तपित्त चिकित्सा ।

2 हारीत सहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 42

3 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 26; 276-277

4 राज मार्तण्ड, शिरोरोगाधिकार 1; 11

5 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 26; 276-277

में दूर हो जाते है। पैत्तिक शूल में आवले के रस मे चीनी मिला कर देने से शीघ्र आराम आ जाता है। पैत्तिक गुल्म (वायुगोला) के रोगियों को आंवले के काढ़े में खाण्ड मिला कर सेवन कराना प्रशस्त समझा जाता है। आवले के ताज़े रस में शहद और पिप्पली मिला कर चाटने से हिचकी बन्द हो जाती है। वातिक वमन में आंवले के रस में चन्दन को घिस कर शहद से चटाते है।

शुष्क फल अतिसार और प्रवाहिका मे ग्राही रूप से बहुत दिया जाता है। ग्रहणी और अतिसार मे तीन ग्राम धात्री चूर्ण दिन मे तीन बार दिया जाता है। चिरस्थायी प्रवाहिका में ताज़े आवले खूब खाने चाहिए। ताज़े फल का रस अतिसार और प्रवाहिका में ग्राही, लेपक और बलदायक रूप मे दो से पाच मिलिलिटर की मात्रा मे तीन-चार बार पिलाया जाता है। पशिया मे आवले को उदर-कृमिहर रूप में इस्तेमाल करते हैं।

हस्तिचिकित्सक आमले के वृक्ष की छाल को हाथी की आमाशय सम्बन्धी सब शिकायतों की चिकित्सा समझते है।

जिगर के रोग : आमले का चूर्ण यकृत और आमाशय के लिए बहुत गुणकारी है। सूखे आंवलों का चूर्ण लोहे की भस्म के साथ पाण्डु, कामला और अजीर्ण के लिए उपयोगी औषध समझा जाता है। आंवले के चूर्ण को लोहभस्म, सोंठ, काली मिरच, पिप्पली और हल्दी के साथ एकत्र मिला कर घी, शहद और खाण्ड के साथ मिला कर कामला तथा हलीमक मे देने से लाभ देखा गया है।[1]

श्वास-संस्थान : श्वास-संस्थान के लिए आंवला और उसके च्यवनप्राश आदि योग विशेष गुणकारी समझे जाते है। पुरानी खासी और जुकाम मे च्यवनप्राश का प्रयोग बहुत होता है। पुरातन कास में च्यवनप्राश उत्तेजक क्रियाशील कफनिस्सारक का काम करता है और फेफड़ो को शक्ति देता है। सर्दियों में जुकाम और खांसी की प्रवृत्ति वाले लोगो के लिए इसका सेवन लाभदायक सिद्ध हुआ है। दूध में पकाए आवले के चूर्ण को घी मिला कर खांसी में देने से लाभ होता है।[2] आवले के स्वरस में शहद और पिप्पली मिला कर चाटने से वेदनानुगामी श्वास मे लाभ होता है। ताजा फल फेफड़ों की शोथ मे सेवन कराया जाता है।

क्षय की प्रवृत्ति : क्षय की प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को प्रति दिन च्यवनप्राश सेवन से लाभ होता है। क्षय की प्रारम्भिक अवस्था में भी इसके उपयोग से बहुत लाभ होता देखा गया है। कैल्शियम, लोह लवण तथा अनेक शक्तिप्रद वानस्पतिक औषधियों का मिश्रण होने से च्यवनप्राश सब अगों को पुष्टि देता है और इसका नियमित सेवन शरीर मे रोग प्रतिरोधक शक्ति पैदा करता है। पहले जो आमलकी के योग दिए गए हैं उन

---

1 रसेन्द्र सार सग्रह, पाण्डु कामलाचिकित्सा; 2

2 अष्टांग हृदय, चिकित्सा स्थान, अध्याय 3

सबकी यह उपयोगिता है इसीलिए वे योग रसायन कहे जाते है।

रक्तपित्त, नकसीर : खून आने (रक्तपित्त) में खाण्ड मिले आंवले के चूर्ण की फक्की दी जाती है। नासा रक्तस्राव (नकसीर) में आवले के योग पित्तप्रकोप के शमन के लिए दिए जाते है। आमलकी शीतकषाय से नासिका का सेवन किया जाता है और घी में भूने हुए आंवले के कल्क का सिर पर लेप किया जाता है। चक्रपाणि का अनुभव है कि यह लेप नाक से आते हुए रुधिर को इस प्रकार रोक देता है जैसे जलधारा के वेग को बाध रोकता है।[1] जिन्हें नकसीर फूटने की शिकायत हो जाया करती है उन्हे ताज़े आंवले या आंवले का रस सेवन करना चाहिए। आवलो का मौसम न हो तो तीन ग्राम सूखे आंवलों को सोते समय आठ गुने पानी में भिगो कर सुबह जल नितार लें और शहद मिला कर पी जाया करें।

मदात्यय : शराब अधिक पीने से होने वाले (मदात्यय) रोगों मे आंवले के चूर्ण मे चीनी मिला कर फक्की लेनी चाहिए।

मस्तिष्क और सिर के रोग : सिर पर चोट लगने के कारण सिर मे रक्त-संचय हो जाय तो आवले के कल्क को घी के साथ मिला कर क्षत स्थान पर और सिर पर लेप कर देते है।[2] गरमियों मे सिर के रक्त संचय को हटाने के लिए आंवले का तेल लगाया जाता है। मस्तिष्क के रक्त-संचार में कुछ बाधा हो, सिर व नेत्रों में जलन अनुभव होती हो तथा सिर दर्द की प्रवृत्तिऔर विचारो मे गड़बडी रहती हो तो आंवले का तेल सिर पर मलने से लाभ होता है। कुछ ही दिनों मे जलन शान्त हो जाती है और मस्तिष्क की विचार शक्ति ठीक हो जाती है।

760 ग्राम तिल के तेल और आंवले के डेढ लिटर रस में पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, लाल चन्दन, नीलोफर प्रत्येक 12 ग्राम का कल्क डाल कर विधिपूर्वक तेल पका लें। सिर के सब रोगो मे यह नाक के अन्दर टपकाने से लाभ करता है।[3] सिर पकना आदि सिर के बाहरी रोगों मे आवला, अमलतास के कोमल पत्ते, लाख और पनवाड़ के बीजों का लेप करने से शीघ्र लाभ होता है।[4]

बालों के लिए : भीतरी और बाहरी प्रयोग में आंवला बालो के लिए हितकर है। आंवले के जल से सिर धोना बहुत गुणकारी है। आमलकी तेल के दैनिक व्यवहार मे बाल झड़ने बन्द हो जाते हैं। आंवला, पद्म केसर और मुलहठी के चूर्ण मे शहद मिला कर सिर पर लेप करने से केशों की पुष्टि होती है, उनकी जड़ें मजबूत होती हैं, और वे काले भी हो जाते है।[5] आंवले को आम की गुठली के साथ पीस कर सिर पर लेप

---

1 चक्रदत्त, रक्तपित्त चिकित्सा।

2 हारीत संहिता, चिकित्सा स्थान, अध्याय 42

3 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 26; 276-277

4 राज मार्तण्ड, शिरोरोगाधिकार 1; 11

5 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 26; 276-277

करने से बाल घने और लम्बे होते हैं।[1]

हृदय के रोग : बाहरी तथा भीतरी प्रयोग में शीतल होने से आंवला पित्त को शान्त करता है। पित्त प्रकोप से हृत्कम्प और हृदय शूल हो तो आंवले से बनाई दवाएं देनी चाहिए। पैत्तिक रोगों में आंवले के मुरब्बे का उपयोग किया जाता है, प्रति दिन प्रातः दूध से लिया जाता है और भोजनों में भी खाया जाता है।

आंवला कोलेस्ट्रोल को कम करता है। प्रयोग के लिए पन्द्रह स्त्री-पुरुषों को प्रतिदिन पचास ग्राम ताजा आंवला खिलाया गया था। चार सप्ताह के बाद जांच करने पर उनकी कोलेस्ट्रोल में इकत्तीस प्रति शत कमी पाई गई। इसलिए हृदय के रोगियों के लिए यह लाभदायक फल है। वे हर रोज पचास ग्राम ताजा आंवला खायें तो दिल के दौरे से बच सकते हैं।

ज्वर : मलाया में पत्तों का कषाय ज्वर में देते हैं और शिरो-वेदना या शिरो-भ्रम में पत्तों का कल्क माथे पर रखते हैं। पिपासा शान्ति के लिए मूल का फाण्ट बना कर दिया जाता है। ज्वरों में पसीना लाने के लिए भी बीजों का फाण्ट दिया जाता है। छोटा नागपुर में आंवले के कल्क को गरम करके खसरे की फुन्सियों पर लेप करते हैं। विसर्प ज्वर (एरिसिपलिस) में आंवले का रस घी मिला कर देना चाहिए। रोगी को मलबन्ध हो तो इसी में त्रिवृत मूल चूर्ण मिला कर देने में लाभ होता है। विष विकारों में रोगी को दिए जाने वाले शाक के रसों को स्वादु बनाने के लिए आंवले का रस डाल कर खट्टा कर लेते हैं।

मूत्र मार्ग के रोग : मूत्र मार्ग में आंवला पित्त प्रकोप को शान्त करता है। शर्करा मिश्रित शुष्क फल का चूर्ण मूत्र मार्ग की दाह मूत्रकृच्छ्र आदि पैत्तिक रोगों में लाभकारी है। कफज मूत्रकृच्छ्र में आंवले के साथ छोटी इलायची खाने से लाभ होता है। ताजे फलों का रस मधु के साथ बीस से साठ मिलिलिटर की मात्रा में मूत्रल रूप में दिया जाता है। आंवले के कषाय में भी मधु या खाण्ड मिला कर देने से स्वादु शीतल पेय बन जाता है और यह मूत्रल का काम करता है। कोंकण में ताजी छाल का रस शहद और हल्दी के साथ पूयमेह (गनोरिया, सूजाक) में दिया जाता है। पूयमेह के रोगियों के लिए ताजे फल प्रतिदिन खाना लाभदायक है। तीस ग्राम सूखे आंवले रात को 250 मिलिलिटर पानी में भिगो कर सुबह जल नितार लें। इसमें शहद डाल कर पीना सूजाक, मूत्रकृच्छ्र और दाह को शीघ्र दूर करता है। यह पेय अच्छा मूत्रल है और शीतल होने से मूत्रमार्ग की दाह आदि को भी शान्त करता है। साफ किशमिश या मुनक्कों को रात-भर पानी में भिगो कर सुबह उन्हें हाथ से कुचल डालें। इसमें आंवले का स्वरस और शहद मिला कर पियें। ताजे आंवले न मिल सकें तो सूखे आंवलों का शीत कषाय बना लिया जा सकता है। पूयमेह के रोगी इस उत्तम स्वादु और बलदायक शर्बत को प्रति

---

1 राजमार्तण्ड, शिरोरोगाधिकार 1; 11

दिन तीन बार एक-एक गिलास पी सकते है। यह पेशाब खुल कर लाता है जिससे मूत्र-प्रणाली का प्रक्षालन हो जाता है। मूत्र रक्तस्राव मे फलो का कषाय लाभदायक है। पेशाब जब कठिनाई से आता हो और उसके साथ खून भी निकलता हो तो आंवले के रस को गन्ने के रस और शहद के साथ लेना चाहिए।[1] मूत्र के दोषों से पीड़ित रोगियों के लिए सुश्रुत ने बताया है कि आवलों को गन्ने की तरह पेर कर उन्हें खूब सारा रस पी लेना चाहिए।[2] मूत्राशय के क्षोभ मे बस्ति प्रदेश पर फलों के कल्क का लेप उपयोगी होता है। इस कल्क में नीलोफर, केसर और गुलाब की पखुड़िया भी मिलाई जा सकती है। पेशाब रुक जाने की अवस्था में बस्ति प्रदेश पर इस लेप को लगाने से लाभ होता है।

मधुमेह : मधु मिश्रित आमलकी स्वरस मधुमेह मे लाभकारी होता है। मधुमेही की पिपासा शान्ति के लिए ताज़े फलों का चूसना उत्तम तृषाशामक का कार्य करता है। बीजों का फाण्ट भी मधुमेह मे दिया जाता है। मधुमेह धनिकों का रोग समझा जाता है। वे यदि अपनी आरामतलबी की आदतें बदल कर सादा खान-पान और रहन-सहन अख्त्यार कर लें तो आंवला अधिक लाभ पहुचा सकता है। सुश्रुत कहते हैं कि चाहे कितना भी धनी हो उसे मुनियों की तरह श्यामाक व नीवार धानों पर निर्वाह करते हुए और आमलकी फलों का भोजन करते हुए हिरणों के साथ रहना चाहिए।

प्रमेह : आंवले के रस मे पिसी हुई हल्दी और शहद मिला कर चरक प्रमेहों मे देते हैं। आंवले के स्वरस को शहद के साथ हारीत सब प्रकार के प्रमेहों के निवारण के लिए निरन्तर चिरकाल तक सेवन करने की सिफ़ारिश करते है। पन्द्रह मिलिलिटर आवले के रस को प्रतिदिन शहद के साथ सेवन से शुक्रमेह और बहुमूत्रता नष्ट होती है। बहेड़े के साथ फलों के कषाय का अन्त. प्रयोग उत्पादक अगों के स्राव में अत्युत्तम ग्राही कार्य करता है।

स्त्रियों के उत्पादक अंगों के रोग : रक्तप्रदर मे आंवले के योग पित्त-प्रकोप की शान्ति के लिए दिए जाते हैं। छह-सात ग्राम आवले का कल्क बना कर शहद के साथ प्रदर मे आते हुए खून को रोकने के लिए और गर्भाशय से होते हुए रक्तस्राव को बन्द करने के लिए दिया जाता है। श्वेत प्रदर में आवले के बीज को पानी के साथ रगड़ कर शहद या खाण्ड मिला कर देते हैं। ताज़े आंवले के चूर्ण को भी शहद के साथ श्वेत प्रदर में देने से लाभ होता है। योनि मे गरमी और जलन रहती हो तो ताज़े फल के रस में मिश्री या शहद मिला कर निरन्तर पीना चाहिए। सूखे या ताज़े आंवले को जल मे पीस कर बस्ति भाग पर किया गया लेप बस्तिशूल, योनिशूल, मूत्रनिग्रह और दाह को दूर करता है।

मृगी : तीन किलोग्राम घी मे उनचास किलोग्राम आंवले के रस और मुलहठी

---

1 बगसेन संहिता, मूत्रकृच्छ्राधिकार

2 सुश्रुत, उत्तर तन्त्र, अध्याय 58

के कल्क को डाल कर विधिपूर्वक घृत पाक करें। यह सिद्ध घी छह ग्राम की मात्रा में पैत्तिक प्रकृति वाले मृगी के रोगी को दिया जाता है।

गठिया : गठिया (वातरक्त) के सब प्रकारों में रोगी को आंवले के रस में पुराना घी पका कर पीने के लिए देना चाहिए।

बवासीर : खूनी बवासीर के रोगी को भोजनों में आवले को विविध रूपों में खाना चाहिए और पित्तप्रकोप की शान्ति के लिए आंवले के योगों का सेवन करना चाहिए। बवासीर के रोगी को लस्सी पर रहते हुए आंवले का प्रयोग करना प्रशस्त समझा जाता है।

ज़ख्म : सूखे आंवले के कषाय से क्षत स्थानों को धोने से खून बहना बन्द हो जाता है। इसकी पट्टी कर दी जाय तो ज़ख्म साफ हो कर धीरे-धीरे ठीक हो जाता है। बड़ौदा में आवले का रस दुर्गन्धित व्रणों पर उत्तम लेप समझा जाता है। गौज को रस में भिगो कर व्रणों पर रखें और पट्टी बांध दें। आवश्यकतानुसार यह दिन में दो बार या प्रतिदिन एक बार गौज बदल कर नई पट्टी बांधी जा सकती है। कुष्ठहर दस औषधियों में चरक ने आवले का पाठ किया है।

आंख के रोग : नेत्रों में रक्तसंचय को हटाने के लिए आमलकी शीतकषाय से नेत्र धोए जाते हैं। सूखे आंवलों को रात भर पानी में भीगा रहने दें। प्रातः छान कर इससे आंख धोएं। नेत्राभिष्यन्द में इससे बहुत लाभ होता है। इस शीतकषाय को ठण्डा या गरम जैसा आंख को सुखकर प्रतीत हो वैसा प्रयोग किया जा सकता है। आवले के रस को आंखों में डालने से नूतन अभिष्यन्द में लाभ होता है। नेत्रपटल शोथ (conjunctivitis) में पत्तों के कल्क का बाह्य प्रयोग होता है। आवले के क्वाथ से आंखों में परिषेचन करने से आंखों के विकारों में लाभ होता है। वृक्ष पर लगे हुए आंवले को सुई से चीरा देने से निकले हुए रस को आंखों में डालने से सम्पूर्ण आंखों के रोग दूर हो जाते हैं। आंवले के रस में काला सुरमा, शहद और घी को कुछ दिन घोटें। रस सूख जाने पर इसे पित्तज और रक्तज नेत्र रोग में आजते हैं।[1] आंवला, सेन्धा नमक और पिप्पली को सम परिमाण में थोड़ी-सी काली मिरच मिला कर घोटें। बहुत बारीक हो जाने पर शहद मिलाएं। यह रसक्रिया अंधेपन और पटल को नष्ट करती है।[2]

---

1 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 26; 258
2 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 26; 259

: चार :

पीपल

शाक्य मुनि गौतम ने बुद्ध गया (बिहार) में एक पीपल के नीचे घोर तपस्या करते हुए दिव्य प्रकाश पाया था। तभी से वे भगवान् बुद्ध बन गए थे। पीपल के नीचे बोध होने से वह वृक्ष बोधिवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उस समय (छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व) के बाद बौद्ध साहित्य मे और उसके साथ-साथ संस्कृत साहित्य में भी पीपल को सामान्य नाम बोधिवृक्ष दिया जाने लगा। महात्मा बुद्ध के कारण इसे जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उससे हमारे देश की धार्मिक और आध्यात्मिक विचारधारा को बोधिवृक्ष ने बहुत उत्प्रेरित किया है। तुलसीदास जी ने अपनी आध्यात्मिक कल्पना के कागभुशुण्डि का निवास हिमालय में उगे हुए बरगद, पीपल, पाकर और आम के विशाल वृक्षों के ऊपर दिखाया है। पीपल के नीचे ही वह बैठ कर प्रभु का ध्यान करता था। प्राचीन भारतीय विचारक बताते हैं कि अश्वत्थ का जीवन मूल पर निर्भर है इसलिए इसके मूल में ब्रह्मा का वास कहा जाता है। मूल से जो रस आता है, उसके द्वारा वृक्ष का पालन-पोषण मध्य भाग से होता है। आया हुआ रस यज्ञ द्वारा गूदा, त्वचा आदि के रूप मे मध्य भाग मे ही परिणत होता है। इससे यज्ञ रूप पालक विष्णु की स्थिति मध्य मे मानी गई है और यह रस ऊपर के भाग से उत्क्रान्त होता रहता है। इसी से वृक्ष के ऊपरी भाग से शाखा, पत्ते आदि निकलते रहते है। अतएव उत्क्रांति का अधिपति महेश्वर वहाँ भी अग्रभाग में माना गया है।

सवा दो हज़ार साल पुराना पीपल : श्रीलंका मे अनुराधपुर के पास पीपल का एक महान् वृक्ष है जो पूजापाठ करने वाले भिक्षुओं तथा भक्तों से सदा घिरा रहता है। परम्परागत विश्वास को यदि स्वीकार किया जाए तो ससार के प्राचीनतम वृक्षो में इसे गिना जा सकता है। विश्वास किया जाता है कि यह बुद्ध गया के उसी पवित्र बोधिवृक्ष की एक शाखा से 28 ईस्वी पूर्व उगाया गया था जिसके नीचे गौतम को दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। महावश के अनुसार श्रीलंका के सम्राट् देवानांप्रिय तिष्य ने सम्राट् अशोक से बोधिद्रुम की एक शाखा लका में भेजने की प्रार्थना की थी। अशोक ने इस पवित्र वृक्ष की एक शाखा अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा के साथ भेजी थी। इसी शाखा को अनुराधपुर मे रोपा गया था। सिंहाली मे पीपल को बो कहते हैं।

बौद्ध साहित्य के बोधिवृक्ष का सदेश में श्रीलंका में बो ही रह गया।

कहा जाता है कि पीपल की आयु दो-तीन हजार वरस तक भी पहुंच जाती है। सामान्य वृक्षों की तुलना में यह बहुत अधिक दीघती है। परन्तु कंगुतालों (साइकेड्स) की एक जाति मेक्रोज़ेमिया (Macrozamia) से यह बहुत कम है। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राध्यापक चार्ल्स जे० चेम्बरलेन ने दुनिया के कगुतालों का विशेष अध्ययन किया है। उनके अनुसार, आस्ट्रेलिया में सीमित यह जाति बारह से पन्द्रह हजार वर्ष के बीच तक आयु प्राप्त कर लेती है।

यादगार में : प्रसिद्ध घटनाओं की स्मृति को स्थायी बनाने के उद्देश्य से पीपल को रोपने के हमें अन्य उदाहरण भी मिल जाते हैं। महाराजा रणजीतसिंह और लॉर्ड विलियम बेंटिक के बीच एप्रिल, 1838 में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। रोपड़ के पास सतलुज नदी के तट पर जहां हस्ताक्षर करने का समारोह सम्पन्न हुआ था वहां संधि की यादगार में पीपल का एक पौदा रोपा गया था। एक सौ तेईस वर्ष के बाद 1961 की सर्दियों की बारिश में दो फ़रवरी को वह बाढ़ से बह गया था।[1]

अन्य देशों में पूजित : पीपल वृक्ष के समान समादृत एवं पूजनीय वृक्ष संसार में कम ही होंगे। इसके समीप पहुंचने पर तिब्बती लोग अपनी टोपी उतार कर सम्मान प्रदर्शित करते हैं और 'शोलो शोलो' का उच्चारण करते हैं। इसकी जड़ पर सफेद पत्थर के छोटे-छोटे दो-चार टुकड़े रख देते हैं। नंगी जड़ों को लाल रंग से रंग देते हैं। भारत की भांति वहां भी ऐसी भावना है कि 'लालचड्' को काटने या नष्ट करने वाले को कुछ फूट पड़ता है। मुक्तिनाथ प्रदेश में पीपल को 'शोल बो' कहते हैं और उसको पूजते हैं। नेपाल में भी बंगलसिमा (पीपल) का बड़ा सम्मान किया जाता है। श्रीलंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया आदि में भी यही भावना है; और इन देशों में इसे बोधिवृक्ष कह कर पूजा करते हैं।

जापान में पीपल को बोदाई ज्यु कहते हैं। बोदाई का अर्थ बोधि और ज्यु का अर्थ वृक्ष है। यह नाम भी बोधिवृक्ष के साथ गौतम बुद्ध के पवित्र सम्बन्ध को बताता है।

गया के पीपल वृक्ष को जापान और समस्त संसार के बौद्ध अब भी पवित्र मानते हैं। विदेश का प्रत्येक बौद्ध भारत आने पर गया में जा कर बोधिवृक्ष के पत्तों को अपने साथ बुद्ध भगवान् के प्रसाद रूप में ले जाता है और अपने देश में इष्टमित्रों को यह प्रसाद भेंट करता है। जापान में बौद्धों के घरों में जो निजू मन्दिर होते हैं उनमें बोदाई ज्यु के पत्तों को भी प्रतिष्ठित कर देते हैं। जापान में पीपल के फलों की माला को पवित्र मानते हैं। वहां भी 108 मनकों की माला बनाते हैं।

गया के पवित्र बोधिवृक्ष से उगाये पौदों को जापान में उगाने के परीक्षण किये

---

1 हिन्दुस्तान टाइम्स, 3 फरवरी, 1961

गए है। वहां की अतिशय शीतल जलवायु में ये पनप नही पाते।

वृक्षों का राजा : भगवान् बुद्ध ने एक जातक कथा में पीपल को वृक्षों का राजा बताया है। *यह कथा उल्लू को राजा बनाने और कौओं द्वारा इसका विरोध करने के* बारे में है। पद्म पुराण में इसे वृक्षराज कहा गया है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने इसे सब वृक्षों में श्रेष्ठ बताया है। पद्म पुराण में ब्रह्मा को पीपल का रूप बताया है। अथर्व वेद में कहा गया है कि यहा से तीसरे द्युलोक मे देवताओं के बैठने का स्थान अश्वत्थ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया है कि देवताओं से अलग हो कर एक बार अग्नि देवता छिप गये और अश्व का रूप बना कर वर्ष-भर तक अश्वत्थ मे रहे थे। अश्व का स्थान होने से ही इसे अश्वत्थ कहते हैं। मन्दिर में मंगलकलश की स्थापना करते समय पूर्व दिशा में रखे कुम्भ में अश्वत्थ के पत्ते डालने का विधान है।

पीपल मे देवताओं का निवास मानने का एक कारण यह भी रहा होगा कि इसके पत्ते हलकी हवा से प्रकम्पित हो जाते हैं। इस धारणा का समर्थन हमे जन साधारण में प्रचलित इस विश्वास से मिलता है कि जब किसी व्यक्ति पर देवी या देवता प्रकट होता है तो उसकी देह पीपल के पत्तों के समान अस्थिर हो जाती है, वह कापने लगता है और अपने विभिन्न अंगों का विविध से प्रकार विन्यास करने लगता है।

वैदिक काल में आबादी के बाहर पीपल, बरगद, गूलर और पिलखन के पेड़ों के नीचे गन्धर्वों और अप्सराओं के डेरे रहते थे। बस्ती के लोगों से झगड़ा हो जाने से बस्ती वाले उन्हें कोसते हुए कहते हैं—'हे अप्सराओ व गंधर्वो ! तुम अपने इस निवास स्थान से उल्टे मुंह चले जाओ और चुपचाप वहीं पड़े रहो जहा पीपल, बड़, गूलर और पिलखन के पेड़ खड़े हैं और जहां मोर रहते हैं।'

पूजा क्यों की जाय ? मध्यकाल के धार्मिक साहित्य मे हमें इस प्रकार के विचार मिलते हैं कि विष्णु भगवान् स्वयं पीपल का रूप धारण किये हुए हैं इसलिए पीपल की पूजा करने से ही विष्णु की पूजा हो जाती है। पुराणों के इन विचारों ने सर्व-साधारण को इसकी पूजा के लिए प्रेरित किया।

पूजा के नियम और मन्त्र : स्मृत्यर्थसार के अनुसार 'प्रतिदिन सुबह-शाम पीपल की पूजा करनी चाहिए। इससे भिन्न समय मे नही।' पूजा का मन्त्र यह है—'आंख फड़कने, बांह फड़कने और बुरे स्वप्न दीखने को तथा मेरे शत्रुओं के उत्थान को हे पीपल, तू शीघ्र शान्त कर दे। हे पीपल रूप भगवान् जनार्दन ! मुझे प्रसन्न कर दे। हे पीपल ! तुझे देख कर पाप नष्ट हो जाते हैं और तुझे देख कर लक्ष्मी आने लगती है, तेरी परिक्रमा देने से आयु लम्बी होती है। हे अच्युत ! तुझे नमस्कार हो।'

प्रतिष्ठा करना : शार्ङ्गधर ने लिखा है कि जो व्यक्ति पीपल का एक पेड़ लगा देता है वह नरक नहीं जाता। शार्ङ्गधर की सम्मति में इसे घर के दक्षिण भाग में रोपना चाहिए। वराह मिहिर ने पीपल और बरगद को घरों के सामने समृद्धि तथा प्राप्ति के लिए बोने को लिखा है। मगध के माधव ने पीपल की सेवा का

बढ़ाने का फल बताया है कि इससे बुरे कर्मों से बचा जाता है और परिणामतः नरक नहीं जाना पड़ता। अनेक बार अश्वत्थ-प्रतिष्ठा करने में बड़ा खर्चीला समारोह सम्पन्न होता है। ब्राह्मण लोग कहते है कि यह उत्सव रचाने वाले को भगवान् के अपार आशीर्वाद प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण के यज्ञोपवीत धारण के समान पीपल के चारों ओर भी पवित्र सूत्र लपेटा जाता है।

पीपल का विवाह . कभी-कभी पीपल का धूमधाम से विवाह रचा जाता है, इसके युगल के लिए सामान्यतया एक नीम चुना जाता है और प्रायशः केला लिया जाता है। ब्राह्मणों में विवाह की जो प्रथाएं होती है, लगभग वही इस विलक्षण विवाह में सम्पन्न की जाती हैं। दक्षिण भारत में जहां-तहां छोटे दूहों पर नीम और पीपल के वृक्ष साथ-साथ उगे दीख पड़ते हैं, यह मेल अकस्मात् नहीं हुआ होता परन्तु यह एक वास्तविक विवाहोत्सव का परिणाम होता है। आब्बे जे० ए० दूब्वा (1906) ने नीम और पीपल के एक विवाह का उल्लेख किया है। अठारहवीं शती के अन्तिम दशक में उस समारोह में डेढ़ हजार रुपये से अधिक खर्च हुआ था।

पूजने का फल : पद्म पुराण के अनुसार "पीपल को देख कर जो उसे प्रणाम करता है वह दीर्घ आयुष्य प्राप्त करता है और उसके पास सब प्रकार की सम्पत्तियां बढ़ने लगती हैं।" पीपल में सब तीर्थों का निवास है। इसके नीचे किये जाने वाले धर्म-कर्म निर्विघ्न समाप्त होते हैं। इस विश्वास के कारण ही हिन्दू अपने मुण्डन आदि संस्कार पीपल के नीचे कराते हैं। इसी से आप पीपल के वृक्ष को सदा धार्मिक चहल-पहल का स्थान पायेंगे। सार्वजनिक स्थानों में उगे हुए पीपल की उपादेयता का ध्यान रखते हुए महर्षि सुश्रुत ने देवस्थान, श्मशान, वामी और चौराहे में उगे हुए पीपल को चिकित्सा में काम लेने से मना किया था।

सींचना : यह उपयोगी वृक्ष गरमियों में सूख न जाय, इस भावना से धर्म के गुरुओं ने गरमियों के आरम्भ में इसे सींचने का प्रोत्साहन देने के नियम बनाये। उन्होंने लिखा, "विष्णु का प्यारा मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फल प्राप्त करने के लिए वैशाख मास में विष्णु के अश्वत्थ रूप को प्रति दिन पानी दे। चुल्लू भर पानी से जो पीपल को सींचता है वह भी करोड़ों पापों से छुटकारा पा कर स्वर्ग को जाता है।"

चबूतरों का निर्माण : पीपल के विशाल वृक्ष के नीचे सैकड़ों यात्री आराम करते हैं। गांव के बाहर पीपल वृक्ष की ठण्डी छाया में आप प्रायः राहगीरों के घोड़े बंधे देखेंगे। घोड़ों के ठहरने के कारण ही इस वृक्ष को संस्कृत में अश्वत्थ (अश्व = घोड़ा, स्थ = ठहरना) कहते थे। यात्रियों के सुख के लिए लोगों ने पीपल की जड़ के चारों ओर सुन्दर शिलाएं लगवानी शुरू कर दीं। लोकहित के इस कार्य को ब्राह्मणों ने यह लिख कर प्रोत्साहित किया—"पीपल की जड़ में जो शिलाएं लगवाता है उसे अश्वत्थ रूपी भगवान् कौन-सा पदार्थ नहीं देता ?" अर्थात् उसकी सब मनोकामनाओं को पूरा कर देता है।

काटने का निषेध : पद्म पुराण में इन जोरदार शब्दों में इसे काटने की मनाही की गई है—"पीपल को राजवृक्ष और भगवान् का रूप कहा गया है। इसलिए इसे नष्ट करने वाले का रक्षक कोई नहीं है। पीपल को नष्ट करने वाले मूर्ख मनुष्य की किसी भी प्रायश्चित्त से शुद्धि नही हो सकती। इसकी छोटी-सी शाखा को भी जो काटता है वह करोड़ों ब्रह्महत्याओं का भागी बन जाता है।" इन धारणाओं के कारण ही हिन्दू इसे नही काटते। मुहर्रम आदि के जुलूसों के अवसर पर राह मे बाधा डालने वाले पीपलों को जब मुसलमानो ने काटना चाहा तो हमारे देश में अनेक बार बड़े-बड़े दगे हुए और हिन्दुओं ने अपनी इस धार्मिक भावना को सुरक्षित रखने के लिए महान् बलिदान दिये। किसी मकान, कुएं की दीवार या किसी अन्य अनुपयुक्त स्थान पर यह जम गया हो तो किसी दूसरे धर्मावलम्बी को इसे उखाड़ने का काम सौंपा जाता है और तब उसे जड समेत अन्यत्र रोप दिया जाता है।

मकानों का दुश्मन : दूसरे वृक्षो पर और मकानो की दीवारो पर बीज प्राय: उग आते हैं। पीपल का पौदा बढता हुआ दूसरे पौदे पर अपनी जड़ें मजबूती से जमाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे उस पेड पर हावी हो जाता है। इसे सामान्यतया पराश्रयी पौदा समझा जाता है। परन्तु वास्तविक अर्थ मे पीपल और बरगद दोनों ही पराश्रयी नही है क्योकि जब तक उनकी जड़ें जमीन में नही बैठ जाती वे वायु और वर्षा से पोषण ग्रहण करते हैं। पराश्रयी पौदों की तरह अपने पोषित पादप के रस से पोषण नही खीचते।

मकान पर जब यह जीवन आरम्भ करता है तो चिनाई के बीच मे जड़े घुसा लेता है और शीघ्र ही अपने आश्रयदाता का नाश कर देता है।

बड़े भोज के लिए खुला आमन्त्रण : सरदियों की समाप्ति पर तथा ग्रीष्म ऋतु के शुरू होने पर थोड़े समय के लिए पीपल पत्र विहीन रहता है। नये पत्ते फरवरी से अप्रैल तक निकलते हैं। फल एक ग्राह (रिसेप्टेकल) है जिसके अन्दर ही सूक्ष्म फूल बन्द रहते है। फल जोडों मे मिलते हैं, मई-जून मे पकते है। पकने पर लाल जामनी रंग के तथा नरम हो जाते है। जब फल पक रहे होते है तो तड़के से ही वृक्ष पक्षियो की चहचहाहट से व्याप्त रहता है। प्रकृति द्वारा आयोजित इस बड़े भोज के लिए उदारतापूर्वक दिये गए निमन्त्रण का पक्षी बेखटके लाभ उठाते हैं।

मोहक संगीत : पूर्णतया चिकने और चौड़े पत्तों के किनारे लहरदार होते है और इनके सिरे पर लम्बी नोकीली पूंछ निकली होती है। पत्तो के ऊपर का पृष्ठ गहरा चमकीला हरा और निचला हलके रंग का होता है। पतले लम्बे डण्ठलों पर लटकते हुए पत्ते वायु की बहुत हल्की गति से भी नाचने लगते हैं। गहरे और हलके रग के पृष्ठ बारी-बारी से अपने को प्रकाश मे लाते रहते है। नृत्य के इस व्यवस्थित प्रदर्शन में लम्बी नोक पड़ोस के पत्तों पर कोमलता से टकराती हुई ताल देती है। असंख्य चर्मश नोकों के टकराने से उठती हुई मृदु ध्वनियां मिल कर ऐसी लगती हैं जैसे कि एक मोहक संगीत उठ रहा हो या रिमझिम करती हुई वर्षा की बौछार हो। दक्षिण के हिन्दू लोग इस

शब्द को वीणा की ध्वनि से तुलना करते हैं। इसके साथ ही, फलों की चाह से तथा छाया का सुख लेने के उद्देश्य से आये रंग-बिरंगे पक्षियों की चहक से गरमियों की तपिश में भी पीपल सचमुच बड़ा आकर्षक बन जाता है। अप्रैल में पत्तों की चपलता को निहारना विशेष रूप से आनन्ददायक होता है जब लाल रंग के चमकीले नये पत्ते श्रीहीन मोटी शाखाओं पर बिखर गये होते हैं। पत्तों की चपलता सम्बन्धी विशेषता के कारण संस्कृत में पीपल को चलदल और चलपत्र भी कहते हैं। नृत्य की इस भाव-भंगिमा ने महर्षि वाल्मीकि को बहुत आकृष्ट किया था। उन्होंने लिखा है कि श्री राम की तलाश करते भरद्वाज के आश्रम में जब भरत पहुंचे तो उनका स्वागत करने के लिए, भरद्वाज के तपः प्रभाव से, पीपल के पेड़ नाच उठे।

पत्ते चिकने क्यों : अधिक आर्द्र जलवायु में उगने वाले पौधों को अपना जीवन-क्रम ठीक चलाने के लिए आवश्यक होता है कि वर्षा के पानी को वे पत्तों के पृष्ठ पर से जल्दी ही बहा दें जिससे पत्ते अपनी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को बारिश की झड़ी के बाद तुरन्त सामान्य रूप से जारी कर सकें। पीपल क्योंकि मुख्यतया आर्द्र जलवायु में अधिक पैदा होता है इसलिए इसके पत्तों को भी उसी प्रकार का प्रबन्ध करना पड़ा है। चिकने पत्ते अपनी सतह पर पानी को टिकने नहीं देते। नोक भी इसमें सहायक सिद्ध होती है क्योंकि नोक से होता हुआ पानी झट नीचे गिर जाता है।

पूजा का प्राचीन वृक्ष : मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा के ऊपर अंकित पीपल पर पूजा के सात देवी-देवता खुदे हुए हैं। प्राचीनता और पूजा की दृष्टि से पीपल सारे संसार में बेजोड़ वृक्ष है। बहुत-से अन्य वृक्षों की तरह अब भी यह एक पवित्र वृक्ष माना जाता है। इसकी पूजा के साथ बहुत-से पर्वों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। किन्हीं विशेष दिनों में धन की देवी लक्ष्मी के निवास की कल्पना इसमें की जाती है। उस दिन हिन्दू लोग इसके चारों ओर मन्त्रों का उच्चारण करते हुए परिक्रमा करते जाते हैं और एक धागा तने पर लपेटते जाते हैं। एक अन्य उत्सव पर तने पर लाल सिंदूर लगाया जाता है। अमावस के दिन पीपल वृक्ष की जड़ में स्त्रियां पानी डालती हैं, फूल चढ़ा कर पूजा करती है और रोली का लेप करती हैं। इसमें शनि देवता का निवास माना जाता है, इस शनि के प्रकोप को शान्त करने के उद्देश्य से हिन्दू महिलाएं शनिवार को भी इसकी पूजा करती है। सोमवती अमावस को पीपल की पूजा करने का विशेष महत्त्व समझा जाता है। उस दिन पूजा-पाठ के मन्त्रों के उच्चारण के साथ-साथ तने की परिक्रमा करते हुए वे सूत भी लपेटती जाती हैं। सौ बार परिक्रमा करने का विशेष फल कहा जाता है। बाण (सातवीं शती) ने दिखाया है कि तारापीड़ की पत्नी रानी विलासवती ने संतान की कामना से पीपल की प्रदक्षिणा की थी।

शनिश्चर देवता के प्रभाव से बचाने के लिए तान्त्रिक लोग पीपल के पत्ते पर अनार या लाल चन्दन की कलम से उपाय अंकित करके बाहु या गले में गण्डा बांध देते हैं। तैय्ये के बुखार से छुटकारा दिलाने के लिए सयाने पीपल का टोना करते हैं।

यह भी विश्वास है कि पीपल की दातुन करने से या उस पर धागा लपेटने से तैय्या जाता रहता है। वैद्य जीवन में लोलम्बराज ने बताया है कि पीपल के वृक्ष की पूजा करने से ज्वरों का निश्चित रूप से नाश होता है।

चन्द्रगुप्त के मौर्य के प्रधान मंत्री आचार्य चाणक्य के समय पीपल की टहनियां टूने मे काम आती थीं। यह विश्वास किया जाता था कि सुहाञ्जने के पेड़ पर पैदा हुए पीपल की टहनियों को काट कर अंत पुर में स्थान-स्थान पर रख दिया जाय तो सांपों का और विषों का खतरा नही रहता।

सायण के समय पीपल का प्रयोग जादू-टोने (अभिचार) मे बहुत अधिक होता था। अथर्व वेद के तीसरे काण्ड में दूसरे अनुवाक् का छठा सूक्त अश्वत्थ के संबंध में है। इस सूक्त के आठ मंत्रों को सायण ने अभिचार कर्म मे प्रयोग किया है। खैर पेड़ के ऊपर उगे हुए पीपल को काट कर और मंत्रों से अभिमंत्रित करके वे उस के एक टुकडे को बांध लेते थे। अभिचार करने वाला इस समय ये मंत्र बोलता था—'खैर के वृक्ष मे उत्पन्न, पुरुषवृक्ष कहलाने वाले पीपल को मणि (गंडे) के रूप में धारण करता हूं। मैं जिन से द्वेष करता हूं और जो मुझसे द्वेष करते हैं उन्हें यह मणि नष्ट कर दे।' 'काटों के द्वारा अनेक प्रकार से बाधा देने वाले वैबाधोपनामक खैर वृक्ष में पैदा हुए पीपल से बनी हुई हे मणि ! तू शत्रुओं का पूर्ण रूप से संहार कर दे। वृक्ष का संहार करने वाले इन्द्र के साथ और वरुण के साथ तेरी दोस्ती है। शत्रुसहार की सार इस मणि को इंद्र आदि ने बांधा था।' 'इस मणि के उपादान हे पीपल ! तू अर्णव उपनाम वाले अंतरिक्ष में खैर की खोल को भेद कर जिस प्रकार पैदा हो गया है उसी प्रकार तू हमारे उन सब शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट कर दे जिन से हम द्वेष करते हैं और जो हमारे से द्वेष करते है।' 'अपने दर्प से अन्य सजातीय वृक्षो को दबाता हुआ पीपल का पेड़ सांड की तरह बढ़ता है। हे पीपल ! तेरे से बनी हुई मणि को धारण करने वाले हम भी उसी तरह शत्रुओं का संहार करें।' 'हे पीपल ! मैं जिन से द्वेष करता हूं और जो मेरे से द्वेष करते हैं उन मेरे शत्रुओं को पाप का देवता निर्ऋति किसी भी प्रकार न छुड़ाए जा सकने वाले मौत के जालो से बाध लेवे।' 'हे पीपल ! वनस्पतियों पर चढ़ते हुए उन्हें नीचा करते हुए तुम बढते चलते हो। मेरे शत्रुओं के सिरों को भी तुम पूर्ण रूप से विदीर्ण करो, इन का तिरस्कार करो और उन्हे नष्ट कर दो।' 'जिसमें नावें बांधी जाती हैं उस नदी के तट के वृक्षों से छिन्न हुई-हुई अथवा रस्सियों से छिन्न हुई-हुई नौका जैसे नदी के प्रवाह के साथ नीचे की ओर ही घसीटी जाती है उसी प्रकार मेरे दोनों प्रकार के शत्रु नदी के वेग के साथ नीचे बह जाएं। खैर के ऊपर पैदा हुए पीपल से प्रेरित शत्रु फिर नही लौट सकते।' 'इन शत्रुओं को मैं अपने मनोबल से मंत्रों के द्वारा अभिमंत्रित पीपल की छडी से नष्ट कर देता हू।'

सन्तान प्राप्ति की आशा से स्त्रियां इस पर भेंट चढाती हैं। कई बार इस की शाखाओं पर पानी का एक पात्र प्रेतों की तृप्ति के लिए लटका दिया जाता है। ये सब

विश्वास निस्सदेह अति प्राचीन हैं। पीपल वृक्ष के साथ इन का संबंध पूर्व ऐतिहासिक काल से रहा होगा। यह निश्चित प्रतीत होता है कि हड़प्पा के लोगों ने इस वृक्ष को एक विशेष प्रकार के बैल (urus-ox) से संबंधित किया था, जो वहां की मुद्राओं पर सामान्य रूप से दिखाया गया था।

भारतीय भाषाओं में नाम : भारतीय भाषाओं में इनका सबसे प्रसिद्ध नाम पीपल है जो संस्कृत के पिप्पल शब्द से निकला है। संस्कृत के वर्तमान उपलब्ध ग्रंथों में इसके बीस से अधिक पर्याय मिल जाते हैं जिनमें से अधिक इसकी पवित्रता को सूचित करते हैं। शुचिद्रुम (शुचि = पवित्र, द्रुम = वृक्ष), पवित्रक, मंगल्य (मंगलकारी), शुभद (कल्याणकारी)आदि इसी प्रकार के नाम हैं। संस्कृत साहित्य में सब से प्रसिद्ध और प्रचलित नाम अश्वत्थ है। भारत के सबसे प्राचीन साहित्य पुनीत वेदों में तथा भगवद्गीता में पीपल के लिए अश्वत्थ शब्द मिलता है। चरक, सुश्रुत आयुर्वेद के आरम्भिक लेखकों ने तथा सोलहवीं शती तक के लेखकों ने अपनी कृतियों में अश्वत्थ नाम से पीपल ही के गुण प्रतिपादित किए हैं। चरक संहिता में सब मिला कर कोई सत्ताईस बार पीपल का उपयोग किया गया है। महर्षि चरक ने पचीस बार तो अश्वत्थ नाम से पीपल का उपयोग किया है और शायद एक बार पिप्पल के नाम से तथा बोधिद्रुम के नाम से इस के उपयोग लिखे हैं।

पीपल को तमिल में अरस मरम, तेलुगु मे रवि मनु, कन्नड़ मे अश्वलिमर और तिब्बती मे लालचङ् कहते है। सिंहाली मे पीपल को बो कहते हैं। बौद्ध साहित्य के बोधिवृक्ष का संक्षेप श्रीलंका मे बो ही रह गया है।

पाश्चात्य देशों में : पाश्चात्य देशों को भारतीय वनस्पतियों का ज्ञान कराने वाले वनस्पतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् लीनियस ने धार्मिक पवित्र पौदे के रूप में पाश्चात्य संसार को पीपल का ज्ञान कराया। लीनियस द्वारा दिया गया इसका औद्भिदी (बौटनिकल) नाम फिकुसरिलिजिओसा लिन (*Ficusreligiosa* Linn.) है जो समस्त संसार के वैज्ञानिकों में देर से अपना लिया गया है। अंग्रेजी शब्द फिग के लिए लेटिन में फिकुस शब्द है। ये शब्द उस प्रोदुम्बर गण (genus) को प्रतिपादित करता है जिस में पीपल, बड़, अंजीर, गूलर आदि सुपरिचित वृक्ष हैं जिनके सूक्ष्म फूल अन्तर्निहित रहते हैं और प्रकट रूप मे फूलों के बिना ही इनके गूदेदार फलों की उत्पत्ति समझी जाती है। संस्कृत मे पीपल का एक नाम गुह्यपुरुष है। रिलिजिओसा शब्द स्पष्ट रूप से इस की धार्मिक महत्ता को प्रतिपादित कर रहा है।

अंग्रेजी में इसके लिए तीन शब्द मिलते हैं—सेक्रेड फिग (पवित्र प्रोदुम्बर), पीपल और बो ट्री। बो और पीपल शब्द क्रमश: सिंहाली और संस्कृत से लिये गए हैं। बौद्धों और हिन्दुओं मे समान रूप से पवित्र समझा जाने से सेक्रेड फ़िग नाम पड़ गया है।

प्राप्ति स्थान : पीपल दक्षिणी एशिया मे बहुत अधिक उगता है। भारत और

ब्रह्म देश में सब जगह पाया जाता है और बोया भी जाता है। बहुत शुष्क प्रदेशों में यह कम मिलता है। चरक ने दिखाया है कि यह जांगल प्रदेशों में बहुतायत से उगने वाला वृक्ष है।

संतान के समान पालते हैं : शीतल और घनी छाया देने के कारण सड़कों के किनारे और गांवों में अब इसे बहुत रोपा जाने लगा है। दिल्ली की अनेक सडकों पर पीपल लगाया गया है। पहले यह मुख्यतया धार्मिक उद्देश्यों से घरों, देवालयों तथा गांवों के आस-पास बोया जाता था। अपनी प्रिय संतान की तरह इसकी पालना की जाती थी। स्कन्द पुराण (वैष्णव खण्ड, वैशाख माहात्म्य) में लिखा भी है कि विज्ञ पुरुष इस को संतान मानते हैं—उत्तम शास्त्र का श्रवण, तीर्थ यात्रा, सत्संग, जलदान, अन्नदान और पीपल का वृक्ष लगाना।

उत्पत्ति : पीपल को बीजों से उगाना अच्छा रहता है। पक्के फलों को जरा-सी सूखी रेत के साथ हथेली मे मसलकर गमले में या रोपणी मे बो दिया है। बरगद के मुकाबले में शाखाओ द्वारा इसकी उत्पत्ति संतोषजनक नही होती।

प्राकृतिक उत्पत्ति में बीज पक्षियो की बीठों तथा पशुओ के मलों में दूर-दूर जा कर गिर जाते हैं। पाचक-रसो से बीज अप्रभावित रहते है। धूल मे पड़े बीजों को हवा भी दूर उड़ा ले जाती है। इस तरह प्राकृतिक साधनों द्वारा इसका प्रसार बहुत दूरस्थ प्रदेशो मे होता जाता है।

पार्वती का शाप : पद्म पुराण में पीपल और बरगद की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—एक बार शिव और पार्वती के रतिसुख मे अग्निदेव ने व्याघात उत्पन्न किया। इस पर पार्वती ने क्रोध मे यह कहते हुए सब देवों को वृक्ष बन जाने का शाप दिया कि रतिकर्म के सुख को तो पशु-पक्षी और कीट भी जानते है, और तुमने मेरे इस सुख को भंग किया। तब ब्रह्मा और विष्णु बोधिवृक्ष और वटवृक्ष के रूप में परिणत हो गए।

काम-शास्त्र मे स्त्री की योनि की तुलना पीपल के पत्ते से की जाती है। इसलिए कामीजन पीपल के पत्ते के संकेत से योनि की बात कहते हैं। नल ने वन-क्रीड़ा के समय जमीन पर पड़े पीपल के पत्ते को उठाकर देने के लिए दमयंती से कहा था तो वह लजा गई थी। दमयन्ती के अंगो का वर्णन करते हुए नल कहते हैं कि क्या इस सुन्दरी का कोई गुप्त अंग पीपल के पत्ते को इसलिए खोज रहा है कि वह उसे (पीपल के पत्ते को) जीत ले! पीपल के पत्ते को उससे डर न हो तो वह अन्य वृक्षों के पत्तो की अपेक्षा भय से इतना क्यों कांप रहा है?

रंगने में : पत्तो को कूट कर पानी में पकाया जाय तो ललाई लिये हुए हलका भूरा रग प्राप्त होता है। कुछ प्रक्रियाओं के साथ त्रसर (टसर), तूत (mulberry) रेशम और ऊनी धागों को इससे हलके आरक्त अवबभ्रु (reddish fawn) रंग में रंगा जा सकता है। छाल में रञ्जक पदार्थ की मात्रा अल्प है। परन्तु, जहां हलकी छायाएं प्राप्त करना अभीष्ट हो या अन्य रञ्जक पदार्थों द्वारा दिये गए रंगो को थोड़ा-बहुत

परिवर्तित करना हो तो यह उपयुक्त रंग सिद्ध हो सकता है। पक्का काला रंग तैयार करने के लिए बंगाल में इसकी छाल अन्य छालों के साथ मिलाकर बरती जाती है। जड़ के काढ़े में फिटकरी मिला कर सूती कपड़ों को हलके गुलाबी रंग में रंगा जाता है। बौद्ध लोग पीपल की छाल से निकाले हुए रंग को ही काषाय रंग कहते हैं जिससे भिक्षुओं का चीवर रंगा जाता है। पीपल, आम, कटहल और बरगद की छालों से रंग बनाना प्रत्येक भिक्षु जानता था।

चमड़ा बनाने के लिए : चर्म संस्कार में पत्ते काम आते हैं। छाल में चार प्रतिशत शल्कि (टैनीन) होता है और यह कभी-कभार चमड़ा तैयार करने तथा रंगने में इस्तेमाल कर ली जाती है। ड्रूरी ने लिखा है कि अरब लोग इस प्रयोजन के लिए छाल को बरतते हैं।

तन्तु : छाल से रेशे निकाले जाते हैं। बर्मा में, पुराने ज़माने में, कागज बनाया जाता था जिसका उपयोग बर्मा में बनाई जाने वाली खास प्रकार की हरी छतरियों के निर्माण में किया जाता था। इसके तन्तुओं के रस्से भी बनाए जाते हैं। रासायनिक संघटन से पता चला है कि इसके रेशे में आर्द्रता 10.0 है। जलाने पर राख इसकी 6.9 प्राप्त होती है। क्षार में इसे पांच मिनिट तक उबाला जाय तो कमी 22.6 आती है और एक घण्टा उबाला जाय तो 46.8 कमी आती है। इसमें कोशाधु (सेलुलोज) 41.2 प्रतिशत होता है। कोशाधु की प्रतिशतकता बहुत कम होने से क्षार द्वारा शोधन पर भार में बहुत कमी आ जाती है, जिस कारण, रासायनिक दृष्टि से ये तन्तु निकम्मे कहे जा सकते हैं।

दूध : वृक्ष में से एक दूध (latex) निकलता है जिसमें 0.7 से 5.1 प्रति शत प्रघृपि (caouchouc) होती है।

इस दूध से पक्षियों को फंसाने का एक चिपचिपा द्रव्य बनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के बहेले इसे लीसा या ल्हासा कहते हैं। दक्षिण में यह शेलिम के नाम से ज्ञात है। इसे बनाने की विधि यह है—120 ग्राम अलसी के तेल को 250 ग्राम पीपल के दूध के साथ मिला कर आग पर पकाए, हिलाते रहें, पांच मिनट बाद उतार लें और ठंडा होने दें।

गहनों में : चिपचिपा, सफेद आक्षीर (दूध) पड़ा रहने दिया जाए तो जमा कर कठोर गोंद जैसा बन जाता है। इससे एक ऐसा पदार्थ तैयार किया जाता है जो गहनों की खोखली गुहाओं में भरने के काम आता है और समुद्रण-लाक्षा के रूप में प्रयोग किया जाता है। सन्थाल लोग इस दूध को लोरी कहते हैं। मोटर गाड़ियों के टायरों में छोटे छिद्रों को भरने के लिए दूध (आक्षीर) का उपयोग किया जा सकता है।

लाख : मध्य प्रदेश, बंगाल और आसाम में भारतीय लाक्षा-कीट का यह महत्त्वपूर्ण पोषिता-पादप (host-plant) अभिलिखित है। अहमदाबाद में सुनार लाल रंग के लिए पीपल की लाख बरतते हैं।

लकड़ी : पीपल की पीली या भूरी-सी सफेद लकड़ी मामूली कठोर होती है। प्रति घन फ़ुट लकड़ी का भार 13.50 से 20.25 किलोग्राम तक होता है। यह घटिया किस्म की लकड़ी है। इसकी रगें बहुत मोटी होती हैं जिससे रन्दे में सफ़ाई नहीं पकडती। कोई और लकड़ी न मिले तो गांव वाले इनकी कड़िया, तख्ते, चौखट, जगले, बैलगाड़ी के कड़े और जुए भी बना लेते हैं। इस प्रयोजन के लिए पुराना और बहुत मोटा पेड लिया जाता है। इसके तख्ते कभी-कभी सस्ते भरण-आवरणों (पैकिंग केसों) को बनाने में काम आ जाते हैं। कहीं-कहीं इसके कठौते और कडछियां बनाई जाती हैं। दियासलाई की डिब्बियों के लिए यह लकड़ी उपयुक्त कही जाती है। टिकाऊ न होने से यह झोंपड़ियों की बल्लियों, मकानों की शहतीरियों आदि किसी भी स्थायी उपयोग मे प्रायः काम नही आती। संस्कृत का अश्वत्थ (अ+श्व+त्थ) नाम इस गुण को बहुत खूबी से प्रकट करता है; इसका अर्थ है ऐसी लकड़ी जो कल तक भी नही टिकेगी (श्वोऽपि न स्थास्यति)। धार्मिक भावनाओं के कारण हिन्दू इसकी लकड़ी का कोई ऐसा पदार्थ नही बनाते जो पैरो के तले आता हो। रचनाओ के अन्दर आवृत रहे तो यह कुछ टिकाऊ रहती है। पानी के अन्दर अच्छी टिकाऊ रहती है। कुए के आधार में रखे जाने वाले नीमचको (नीव चक्रों) के निर्माण में यह काम आती है।

पवित्र समिधाएं : जलाने के अतिरिक्त अन्य कामों मे लकड़ी प्रायः नही बरती जाती। स्मृतियों द्वारा सम्मत हवन में पीपल की समिधाए ली जाती हैं। आयुर्वेद की शिक्षा लेने के लिए जब शिष्य गुरु के पास आता था अग्निहोत्र के समक्ष उसका उपनयन सस्कार किया जाता था। उस हवन मे डाली जाने वाली समिधाओं मे पीपल की समिधाए भी ली जाती थीं। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने हिन्दुओं के धार्मिक संस्कारों के प्रसग में किए जाने वाले होमों मे पीपल को यज्ञ समिधाओं के लिए उपयोगी बताया है। अग्निपुराण में नवग्रहों की पूजा के लिए जो विधान है उसमें पीपल की एक सौ आठ या अठाईस समिधाओं को शहद, घी और दही में डुबोकर हवन किया जाता है। शान्ति विजय के लिए किए जाने वाले ग्रहयज्ञ मे भी ऐसा ही विधान है। इस प्रकार के यज्ञकर्मों में उपयोगी होने के कारण सस्कृत में इसका एक नाम याज्ञिक भी है।

ईंधन : पवित्र होने के कारण पीपल की लकड़ी को सनातन विचारों के हिन्दू अपनी रसोइयों मे जलाते नही। जिन प्रदेशों मे यह बहुत अधिक परिमाण में उपलब्ध होती है वहा इसे ईंधन के रूप मे बरत तो लेते है परन्तु इसकी आच पर दूध को गरम करना दोष मानते हैं। कछार में पीपल की लकड़ी का कोयला बनाते हैं।

लकड़ी की राख का विश्लेषण यह है :

दहातु (पोटाशियम) और क्षारातु (सोडियम) के घुलनशील सयोग (कम्पाउण्ड्स)	0.15
लोह, चूर्णातु (कैलशियम) आदि के भास्वीय (फ़ौस्फ़ेट्स)	2.25

चूर्णातु प्रांगारीय (कैल्शियम कार्बोनेट)	1.96
भ्राजातु प्रांगारीय (मैग्नीशियम कार्बोनेट)	1.07
सैकजा (सिलिका), रेत तथा अन्य अशुद्धियां	0.05
कुल राख	5.40

कला में · पीपल के पत्तो के ऊपर सुन्दर दृश्यों और विशेषत: महापुरुषों तथा देवों को चित्रित करने की प्रथा बहुत प्रचलित हो गई है। रानी एलिजाबेथ जनवरी, 1961 में जब भारत की यात्रा पर आई थीं तो उनको पीपल के पत्ते पर उन्हीं का चित्र बना कर एक कलाकार ने भेंट किया था जिसे रानी ने बहुत पसन्द किया था।

विगत युद्ध काल में जब कागज का अत्यन्त अभाव हो गया था तो मुझे स्मरण है कि सिनेमा वाले तथा अन्य व्यापारी भी पीपल के पत्तों के ऊपर अपने विज्ञापन छपवा कर वितरित करते थे। मुद्रण कार्य के लिए पीपल के ताजे पत्ते ही काम आ जाते थे।

चित्रण के लिए जालीदार पत्ते काम आते हैं। इस प्रयोजन के लिए परिपक्व पत्ते लेकर उन्हे पानी मे भिगो देते हैं। आठ-दस दिनों में पत्तों के नाड़ीजाल के मध्य का हरितांश गल कर निकल जाता है। गरमियों में यह प्रक्रिया शीघ्र होती है और सरदियो में विलम्ब से। जब नाड़ीजाल बिलकुल स्वच्छ सफ़ेद हो जाता है तो उसे निकाल कर छाया मे सुखा लेते हैं। तब उस पर चित्र बनाते हैं। सम्भवत: पवित्र भावनाओं के कारण भारत रत्न का पदक पीपल के पत्ते के आकल्प (डिज़ाइन) के ऊपर बनाया गया है।

उत्तम चारा : पत्ते रेशम के कीड़ों का भोजन है। आसाम मे गोरी रेशम के कीड़ों को पीपल के पत्ते खिलाये जाते हैं। छोटी शाखाओं और छाल को हाथी चाव से खाते हैं। हाथियों का प्रिय भोजन होने से संस्कृत मे पीपल को गज पत्र, गज भक्षक, गजाशन और कुंजराशन नाम भी दिये गए है। हाथियों के अतिरिक्त भैंसों और सामान्यतया सभी ढोरों तथा बकरियो और ऊंटों का अच्छा भोजन होने से पत्ते और शाखाएं चारे के लिए सब जगह इस्तेमाल होती है। इसे खिलाने से बकरी का दूध बढ़ जाता है।

पत्तों का औसत संघटन यह है :

अपरिष्कृत प्रोभूजिन (crude protien)	13.99 प्रति शत
दक्षु निस्सार (ether extract)	2.71 प्रति शत
उच्छिष्ट तन्तु (crude fibere)	22.36 प्रति शत
भूयाति-मुक्त निस्तार (N-free extract)	46.02 प्रति शत
कुल राख	15.06 प्रति शत
चूना (lime)	4.64 प्रति शत
भास्वर (फौसफ़ोरस)	0.52 प्रति शत

घासों में विद्यमान प्रोभूजिन की मात्रा से पीपल के पत्तों में दो-तीन गुणा अधिक प्रोभूजिन होती है और इस मात्रा की तुलना शिम्बी वर्ग (लेग्युमिनोसी) के चारे वाले पौधों से भली-भान्ति की जा सकती है। अन्य हरे तन्त्वन्तों (roughage) की तुलना में इसका दग्नु निस्सार भी उच्च है। परन्तु उसका बड़ा भाग पर्णशाद (chlorophyll) और रंगाओं (pigments) में मरचित होता है। फलीदार (शिम्बी) चारों की अपेक्षा इन पत्तों में चूना दो-तीन गुणा पाया जाता है। प्रकट रूप में पोषक द्रव्यों की इतनी प्रचुरता होने के बावजूद भी ये पत्ते साधारण खेती किये जाने वाले चारों से घटिया होते हैं क्योंकि अनुपात में इनकी पाच्यता कम है। प्रति पैंतालीस किलोग्राम (नमी रहित मान कर) पत्तों के पचनशील पोषक तत्त्व ये हैं :

अपरिष्कृत प्रोभूजिन	7.00
दग्नु निस्सार	1.19
उच्छिष्ट तन्तु	6.03
भूयाति-मुक्त निस्सार	22.56
कुल पचनशील पोषक द्रव्य	38.27
मण्ड समाहृंता (starch equivalent)	9.90 किलोग्राम
पोषण अनुपात	5.5

बकरियों और ढोरों को खिलाने की परीक्षाएं बताती हैं कि पीपल के पत्ते खाने वाले पशुओं में भूयाति(नाइट्रोजन), चूर्णातु (कैल्शियम) और भास्कर(फ़ॉसफोरस) का सन्तुलन ठीक था। तन्त्वन्त (roughage फोक) और सारवन् (concentrate) दोनों ही रूप में इन पत्तों को आहार में शामिल किया जा सकता है।

फल--पोषक आहार : ढोरों के लिए फल पोषक आहार है। सूखे फलों का विश्लेषण यह है :

आर्द्रता	9.9 प्रति शत
श्वित्याभ (albuminoids)	7.9 प्रति शत
स्निग्ध पदार्थ	5.3 प्रति शत
प्रांगोदीप (कार्बोहाइड्रेट्स)	34.9 प्रति शत
रंजक पदार्थ	7.5 प्रति शत
राख	8.3 प्रति शत
सैकजा (silica)	1.85 प्रति शत
भास्वर (फ़ास्फ़ोरस)	0.69 प्रति शत

आहार : अन्न संकट में तथा दुर्भिक्ष में पत्तों की नई कोंपलों को तथा [illegible] ग़रीब लोग खाते हैं। कैम्पबेल ने दिखाया है कि संथाल लोग फलों को [illegible] हैं, वहां ये सरदियों में पकते हैं। नारायण मिश्र के अनुसार गोंड लोग [illegible] बनाते हैं। पीपल की कोपलों का साग चरक के समय खाया जाता था। [illegible]

साग शरीर पर शीतल प्रभाव करता है। दस्त जब जलन के साथ आते हों तो रोगी को यह साग देना हितकर होता है।

नरहरि पण्डित ने पीपल के पके फलों को हृदय के लिए अतीव हितकर और शीतल बताया है। चरक (सूत्र स्थान 27, 164) ने पीपल के पके फल खटमिट्ठे, कसैले, वायुकारक और भारी बताये हैं। इन फलों से बनाया हुआ एक आसव चरक (सूत्र स्थान 25; 49) के समय पीने का प्रचलन था।

वैदिक-काल का महत्त्वपूर्ण वृक्ष : वैदिक-काल में पीपल फल तापसियों का आहार थे। इन फलों का नाम पिप्पल था और जो लोग इन्हीं को खा कर निर्वाह करते थे उन्हें पिप्पलाद कहते थे। पिप्पलादों में बहुत मेधावी पुरुष हुए जिन्होंने मुख्यतया वेदों के अध्ययन में ही अपने को समर्पित कर दिया था।

अश्वत्थ वृक्ष का पुराने भारत में हमारे लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पीपल के फल जिन दिनों लगते हैं उस काल का नाम पाणिनीय ने अश्वत्थ दिया है। आश्विन की पूर्णिमा को अश्वत्थ शायद इसलिए कहते थे कि तब पीपल के फल पक रहे होते थे। अश्वत्थक नामक एक ऋण का भी अभिलेख मिलता है। यह ऋण तब चुकाया जाता था जब अश्वत्थ (पीपल) वृक्षों पर फल आ जाते थे।

पीपल की लकड़ी से बने बर्तनों का वैदिक काल में प्रयोग होता था। इसकी लकड़ी से बनाए जाने के कारण एक बर्तन का नाम 'अश्वत्थ' ही था। यज्ञ के लिए अरणी अश्वत्थ काष्ठ की बनाई जाती थी। पीपल के काष्ठ की चम्मच में घी लेकर अग्निहोत्रों में आहुति डाली जाती है। यज्ञ का उपभृत नामक पात्र अश्वत्थ का बनाया जाता था।

चरक के समय शौकीन लोग चुरुटों में अनेक प्रकार की दवाएं रख कर धूम्रपान करते थे। चुरुटों में पिए जाने वाले एक नुस्खे में पीपल की छाल भी है।

मूत्र-संहति के रोग : मूत्र संग्रहणीय दस ओषधियों में चरक ने पीपल को गिनाया है। इस गुण के कारण पूयमेह (गनोरिया) में छाल का प्रयोग किया जाता है। चरक के अनुसार मूत्र और प्रजनन संहति के पैत्तिक रोगों में पीपल की छाल के काढ़े में शहद मिला कर देना चाहिए। जिस मनुष्य का शुक्र क्षीण हो गया हो और छाती में जख्म पड़ गए हों उसे पीपल की छाल के काढ़े में पका दूध को जमा कर निकाले घी में चावल पका कर खिलाने चाहिए। पीपल के छह माशा बीजों को हिरण के सींग के घोटने से दौरी में घोट लें। लस्सी का छींटा देने से ये जल्दी बारीक हो जाएंगे। इसमें शहद मिला कर लस्सी के साथ पीने से सभी प्रकार के प्रमेहों में लाभ दीखता है। पेशाब नीले रंग का आना हो तो सुश्रुत रोगी को पीपल की जड़ की छाल का काढ़ा पिलाते हैं।

उत्पादक अंगों के रोग : पीपल की कोंपलों को दूध में पका कर रुचि के अनु-

सार मीठा मिला लें। प्रातःकाल का यह बढ़िया शीतल पोषक पेय है ।[अथर्व वेद के एक वर्णन के अनुसार शमी के ऊपर उगे हुए पीपल का प्रयोग पुंसवन सस्कार में किया जाता था और इससे पुत्र की प्राप्ति होती थी। सुश्रुत कहते है कि पीपल के फल, मूल की छाल और कोंपल को दूध मे पका कर छान लें। शहद और चीनी से मीठा कर के पीने से कुलिंग के समान पुंस्त्वशक्ति बढ जाती है। यूनानी हकीम जड़ की छाल को वाजीकरण और कटिशूल में उपयोगी मानते है। जिन स्त्रियों के बच्चे जीवित नहीं रहते और जिन स्त्रियों का दूध खराब होता है उन्हें पीपल की दाढी घोट कर पिलाते है। बहुत कम पीपल वृक्षों पर दाड़ी निकलती है, इसलिए वैद्यों में इसकी मांग रहती है। पीपल के ऊपर उगे हुए वन्दे को दूध मे पका कर वह दूध स्त्री को पिलाया जाय तो गर्भ ठहरने में सहायता मिलती है। फलों को सुखा कर चूर्ण बना ले। चौदह दिन तक पानी के साथ इसकी फक्की ली जाए तो गर्भ ठहरने की सम्भावनाएं बढ़ जाती है।

योनि के अनेक प्रकार के रोगों में योनि का शोधन करने के लिए पीपल की छाल के काढ़े से योनि का प्रक्षालन किया जाता है।

पेट के रोग : जड़ की छाल के काढे मे नमक और गुड मिला कर पीने से दु सह कुक्षिशूल मिट जाती है। गोविन्द दास और चक्र पाणि बताते हैं कि पीपल की सूखी छाल को जला कर पानी में बुझा लें। इस पानी को छान कर पीने से उलटियों वा उबकाइयो का आना रुक जाता है और प्यास शान्त हो जाती है।

रोग निवारक बस्तियो (एनिमों) में महर्षि चरक छाल का प्रयोग करते हैं। इस प्रयोजन के लिए छाल को पानी मे पका कर छान लेते है। इस काढे में जरा-सा शहद, तेल तथा नमक मिला कर कफ के रोगी को एनिमा देते हैं। काढा हलका गरम रहना चाहिए और रोगी को इसे कुछ देर तक अन्दर रोके रखना चाहिए। पित्त के रोगी को यह एनिमा देना है तो ठण्डा दिया जाता है तथा इसमे शहद और घी मिला लिया जाता है।

स्वर्ण पुञ्ज गोलाणु (staphylococcus aureus) और सामान्य आन्त्रपेत्राणु (escherichia coli) के विरुद्ध छाल के जलीय निस्सार को रोगाणुनाशक पाया गया है।

पैत्तिक ग्रहणी (*sprue*) रोगों में चरक चन्दनादि घृत का सेवन कराते है; इस निर्मिति में पीपल भी एक घटक है। पीपल के अंकुरों के साथ पतली खिचड़ी (यवागू) बना कर दस्तों को रोकने के लिए खिलाना चाहिए। आम (chyme) के पच जाने पर रोगी को छाल के काढे मे पकाया हुआ दूध देना चाहिए। दस्त जब पीले लाल रंग के आ रहे हों तथा जलन के साथ आते हो तो रोगी को कोमल पत्तों का साग देना हितकर होता है। यह स्रावों को रोकता है। पीपल के अंकुरों को दूध में पका कर छान लें। पेचिश (डिसेण्ट्री), गुदा का बाहर निकलना, रक्त स्राव और बुखार मे इसका एनिमा देने से लाभ होता है।

बुखार, चेचक : शीतल गुण के कारण चरक ने पीपल को दाह ज्वर में उपयोगी पाया है। छाल को पूर्णतया जलाने से प्राप्त राख को बारीक कपड़े में छान कर चेचक रोगी के बिस्तर पर बिछाते हैं। सारे शरीर पर जब दाने निकले हुए हों तो रोगी को सामान्य बिछौना भी कष्टकर होता है। इस राख के गद्दे से बिछौना गुदगुदा बन जाता है। दानों में जलन हो तो बरगद की जटा, पीपल की छाल, नीम की छाल और लाल चंदन को घिस कर लेप करते हैं। यह प्रक्रिया केवल मालियों द्वारा ही की जाती है।

खांसी, दमा : सुखाये हुए फलों के चूर्ण को पानी के साथ दमे में खिलाया जाता है और खांसी में शहद के साथ चटाया जाता है।

खून रोकने के लिए : रक्तपित्त की शान्ति के लिए पीपल का अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है। इसकी छाल को घिस कर लेप करते हैं, इस के काढ़े से रोगी को स्नान कराते हैं और टब में काढ़ा भर कर उसमे रोगी को बिठाते हैं। इसके काढे मे घी और तेल को पका कर रक्तपित्ती को प्रयोग कराते हैं। पीपल के अंकुरों को कुचल कर गरम जल में चौबीस घंटे रख छोड़ें। उस पानी को घी में डाल कर पका लें। शरीर के ऊपर या नीचे के छिद्रों से खून जाता हो तो इस घी मे चौथाई शहद तथा चौथाई भाग चीनी मिला कर रोगी को चटाना चाहिए।

गुदा के रोग : सूखी छाल के चूर्ण को नालिका के अग्र भाग मे रख कर गुदा के अंदर फूंक देते हैं जिस मे यह भगन्दर के जख्मों तक पहुच जाय। यह भगन्दर को ठीक करता है और गुदा के अदर विद्यमान सोज को भी कम करता है। खूनी बवासीर मे उपयोगी सुनिषण्णक चांगेरी घृत में चरक पीपल के अंकुरों को डालते हैं।

गठिया : चरक और गोविन्द दास का अनुभव है कि पीपल की छाल के काढे में शहद मिला कर पीने से अति उग्र गठिया (वातरक्त) भी ठीक हो जाता है।

सोज : यूनानी चिकित्सा में छाल का प्रयोग गले की ग्रथिमय सोजों के निवारण के लिए किया जाता है। चरक और वाग्भट छाल को बारीक पीस कर घी में मिला कर शोफ (oedema) पर लेप करते हैं।

विसर्प : महर्षि कश्यप के अनुसार छाल को पीस कर सौ बार धोये हुए घी मे मिला कर विसर्प (एरिसिपलस) मे लेप करना चाहिए। कोमल पत्तों और छाल के सूक्ष्म कल्क को घी में मिला कर लेप करना ही हितकर होता है। छाल का घी के साथ बनाया लेप लगने से विसर्प की जलन शान्त होती है और लालिमा मिट जाती है।

फोड़े, जख्म : निकासे पर पीपल की छाल को सिल पर घिस कर लेप करते हैं। यह उसे पकाने या बैठाने मे सहायता करता है। इस प्रयोजन के लिए पत्तों को गरम करके भी फोड़ों पर बांधते हैं।

पीपल की लाख जख्मों का इलाज है। एक वैदिक ऋषि कहता है—'पीपल के वृक्ष से निकलने वाली हे लाख ! तू घाव को शुद्ध कर के उसे भर देती है। ओ लाख ! हमारे पास आ।' पीपल के काढ़े में जख्मों को धोया जाए तो वे जल्दी भर जाते हैं।

सर्पगन्धा (Rauwolfia serpentina, Benth. ex Kurz)
की फलित और पुष्पित शाखा
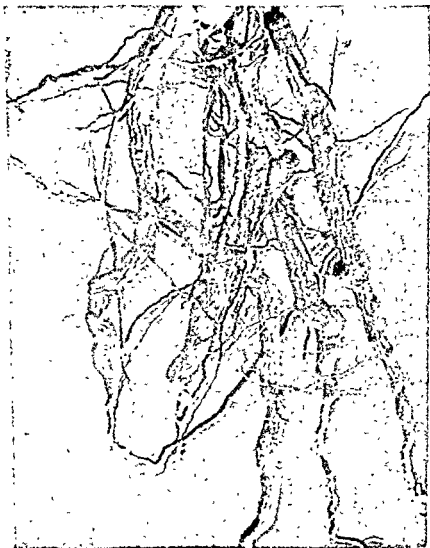
सर्पगन्धा (Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz) की जड़ें

बन काकड़ (Podophyllum hexndrum Royle) का फलदार पौधा

भूटान के सीमा के पास बन काकड़ (पोडोक्राइसम) के फलों की माला
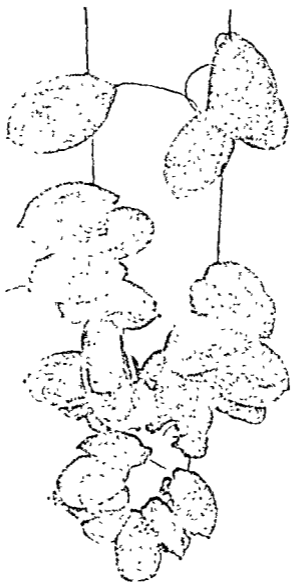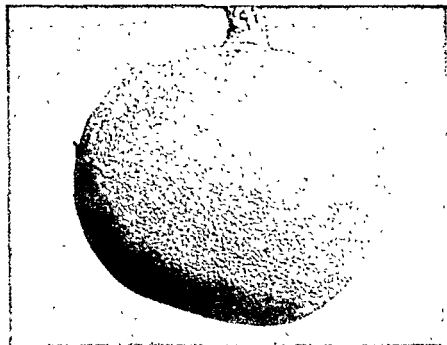
कुष्ठ फल (Gynocardia odorata R. Br.) का फल

कुष्ठ फल (Gynocardia odorata R. Br.) का कटा हुआ फल और बीज

निर्गुण्डी कन्द (Alectra parasitica A. Rich var. chitrakutensis M. A. Rau) का पुष्पित पौधा

निर्गुण्डी कन्द (Alectra parasitica A. Rich var. chitrakutensis M. A. Rau) का सम्हालू की जड़ के ऊपर उगा हुआ पौधा

एरण्ड (Ricinus communis Linn.) का फलों से लदा वृक्ष

पिप्पली (Piper longum Linn.) की फलदार शाखिकाएं

भांग (Cannabis sativa Linn.) का पुष्पित पौधा

ताज़े पत्तों को पीस कर व्रणों पर लेप करने से वे जल्दी ठीक हो जाते है। व्रणों को साफ़ करके कोमल पत्तों को उन पर बांध दिया जाता है। ज़ख्मों के ऊपर खाल न आ रही हो तो छाल के बारीक चूर्ण को छिड़कने से जल्दी ही त्वचा आने लगती है। नई त्वचा पर त्वचा का वास्तविक रंग लाने के लिए पीपल की छाल, ध्यामक, जलवेतस की जड, स्वर्णगैरिक, लाख, नागकेसर, तूतिया और कासीस का लेप करना चाहिए। जल जाने से फोले या ज़ख्म बन गए हों तो उन पर पीपल की सूखी छाल का चूर्ण बुरकना चाहिए। बिवाई मे तथा त्वचा के फट जाने पर पीपल का दूध लगाने से लाभ होता है। हड्डी टूटने पर छाल को बारीक पीसकर बांधना चाहिए। खुजली के रोगी को छाल का काढ़ा पिलाया जाता है।

मुख के रोग : श्रीलंका में छाल का प्रयोग मुख के रोगों में किया जाता है। छाल के काढ़े या फाण्ट से कुल्ले करने से मसूड़े मजबूत होते हैं और दांत के दर्द में आराम मिलता है। बच्चों के मुखपाक मे छाल तथा कोमल पत्तों को खूब बारीक पीस कर शहद के साथ मुख के अन्दर लेप करते हैं।

कान के रोग : कोमल पत्तों को पीस कर तिल के तेल में हल्की आग पर पका लें। कान दुखने पर इसे सुहाता गरम करके कान में डालते है। कान के रोगों मे वाग्भट ने पीपल का यह प्रयोग बताया है—कोमल पत्तों पर तेल चुपड़ कर ज़रा सेंधा नमक लगा दें। एक हाण्डी में भर उसके ढक्कन को गीले आटे से ऐसा बन्द करें कि छिद्र न रहे। कोयले की आग में इसे इतनी देर तक रखें कि पत्ते गल जाएं। इन्हें निचोड़ कर रस निकाल लें। कान के रोगों में इसे कोसा-कोसा ही डालने से आराम मिलता है।

सर्प विष : महर्षि चरक समझते थे कि पीपल के पेड़ के नीचे यदि किसी को सांप काट खाए तो वह बच नही सकता, इसलिए वे ऐसे रोगी का इलाज ही नही करते थे। प्रतिविष (एण्टिविनीन) के आविष्कार के बाद सर्पदंश से मौतों की सम्भावनाएं बहुत कम हो गई हैं।

पीपल की टहनी से लोग सांप का विष झाड़ते है। डण्ठल समेत ताज़े तोड़े हुए पत्तों के डण्ठल कान में डालने से विश्वास किया जाता है कि साप का विष उतर जाता है। वैज्ञानिक पद्धति से सर्पविष और मनुष्य पर उसके कार्यों का अध्ययन करने वाले अनुसंधानकर्त्ता बताते हैं कि सर्पविष जैसे भयंकर और आशुघाती विष की चिकित्सा के लिए इन उपायों पर निर्भर करना खतरे से खाली नही है। म्हस्कर और कायत् (१६३०) ने दिखाया है कि अपने परीक्षणों मे उन्होंने कुत्तो के शरीर मे सूई द्वारा पनियर और दबोइया (रसल्स वाइपर) का विष डालकर पीपल की छाल से चिकित्सा करने के प्रयत्न किये थे। परन्तु, इन दोनों प्रकार के विषों को उदासीन करने, रोकने या उतारने में पीपल कारगर नही पाया गया।

हाथियों के रोग—हाथी को दिये जाने वाले एनिमों (बस्तियों) में चरक ने पीपल को भी उपयोगी पाया है। पालकाप्य के हस्ति-वैद्यक ग्रन्थ के अनुसार हाथी को हृदय का रोग हो जाय तो पीपल की छाल का काढा देने से ठीक हो जाता है।

भांग (Cannabis sativa Linn.) का पुष्पित पौधा

ताज़े पत्तों को पीस कर व्रणों पर लेप करने से वे जल्दी ठीक हो जाते है। व्रणों को साफ़ करके कोमल पत्तों को उन पर बांध दिया जाता है। जख्मों के ऊपर खाल न आ रही हो तो छाल के बारीक चूर्ण को छिड़कने से जल्दी ही त्वचा आने लगती है। नई त्वचा पर त्वचा का वास्तविक रंग लाने के लिए पीपल की छाल, ध्यामक, जलवेतस की जड़, स्वर्णगैरिक, लाख, नागकेसर, तूतिया और कासीस का लेप करना चाहिए। जल जाने से फोले या ज़ख्म बन गए हों तो उन पर पीपल की सूखी छाल का चूर्ण बुरकना चाहिए। बिवाई में तथा त्वचा के फट जाने पर पीपल का दूध लगाने से लाभ होता है। हड्डी टूटने पर छाल को बारीक पीसकर बांधना चाहिए। खुजली के रोगी को छाल का काढ़ा पिलाया जाता है।

मुख के रोग : श्रीलंका में छाल का प्रयोग मुख के रोगों में किया जाता है। छाल के काढे या फाण्ट से कुल्ले करने से मसूड़े मजबूत होते है और दांत के दर्द में आराम मिलता है। बच्चों के मुखपाक में छाल तथा कोमल पत्तो को खूब बारीक पीस कर शहद के साथ मुख के अन्दर लेप करते हैं।

कान के रोग : कोमल पत्तों को पीस कर तिल के तेल में हल्की आग पर पका लें। कान दुखने पर इसे सुहाता गरम करके कान मे डालते है। कान के रोगो में वाग्भट ने पीपल का यह प्रयोग बताया है—कोमल पत्तों पर तेल चुपड़ कर जरा सेंधा नमक लगा दें। एक हाण्डी में भर उसके ढक्कन को गीले आटे से ऐसा बन्द करें कि छिद्र न रहें। कोयले की आग में इसे इतनी देर तक रखें कि पत्ते गल जाएं। इन्हे निचोड़ कर रस निकाल लें। कान के रोगों में इसे कोसा-कोसा ही डालने से आराम मिलता है।

सर्प विष : महर्षि चरक समझते थे कि पीपल के पेड़ के नीचे यदि किसी को सांप काट खाए तो वह बच नही सकता, इसलिए वे ऐसे रोगी का इलाज ही नही करते थे। प्रतिविष (एण्टिविनीन) के आविष्कार के बाद सर्पदंश से मौतों की सम्भावनाएं बहुत कम हो गई हैं।

पीपल की टहनी से लोग साप का विष झाड़ते है। डण्ठल समेत ताज़े तोड़े हुए पत्तो के डण्ठल कान में डालने से विश्वास किया जाता है कि सांप का विष उतर जाता है। वैज्ञानिक पद्धति से सर्पविष और मनुष्य पर उसके कार्यो का अध्ययन करने वाले अनुसंधानकर्ता बताते हैं कि सर्पविष जैसे भयंकर और आशुघाती विष की चिकित्सा के लिए इन उपायों पर निर्भर करना खतरे से खाली नही है। म्हस्कर और कायस् (१६३०) ने दिखाया है कि अपने परीक्षणों में उन्होंने कुत्तो के शरीर मे सूई द्वारा पनियर और दबोइया (रसल्स वाइपर) का विष डालकर पीपल की छाल से चिकित्सा करने के प्रयत्न किये थे। परन्तु, इन दोनों प्रकार के विषों को उदासीन करने, रोकने या उतारने में पीपल कारगर नहीं पाया गया।

हाथियों के रोग—हाथी को दिये जाने वाले एनिमों (वस्तियों) में चरक ने पीपल को भी उपयोगी पाया है। पालकाप्य के हस्ति-वैद्यक ग्रन्थ के अनुसार हाथी को हृदय का रोग हो जाय तो पीपल की छाल का काढ़ा देने से ठीक हो जाता है।

बरगद

सबसे पुराना नाम क्या था ? : हमारे देश में बरगद का सबसे प्राचीन नाम न्यग्रोध है। बाद में इस पेड का नाम वट भी पड़ गया था। ऋग्वेद और सामवेद में न्यग्रोध और वट दोनों ही शब्द नहीं आये। इन दोनों संहिताओं में बड़ का वर्णन नहीं है। यजुर्वेद और अथर्ववेद मे वट शब्द नही मिलता। न्यग्रोध नाम से इन दोनों संहिताओं मे बरगद का उल्लेख मिलता है। इसी तरह इनके बाद के साहित्य शतपथ (800 ईस्वी पूर्व), ऐतरेय (800 ईस्वी पूर्व) आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में; कात्यायन श्रौत सूत्र आदि सौत्र-ग्रन्थों में भी इसका न्यग्रोध के नाम से उल्लेख हुआ है। अब तक इस वृक्ष को वट के नाम से नहीं जाना गया था।

वाल्मीकि के समय (400 ईस्वी पूर्व) इस वृक्ष को कहीं-कहीं वट कहने लगे थे क्योंकि आदि कवि ने रामायण में इस वृक्ष के लिए वट नाम भी दिया है। यह ठीक प्रतीत होता है कि वाल्मीकि ने अधिक स्थलों पर न्यग्रोध नाम ही लिखा है।

विलियम मोनियेर के अनुसार शायद वृत का प्राकृत रूप वट है। वृत का अर्थ घिरा हुआ है। हो सकता है कि वृत का अपभ्रंश वट हो, परन्तु वट (वेष्टने) धातु का अर्थ भी घेरना है।

ईस्वी पूर्व पहली शती में चरक के समय में वट नाम अच्छी तरह व्यवहार मे आ चुका था। चरक में न्यग्रोध और वट दोनों नामों से बरगद के चिकित्सा सम्बन्धी उपयोगों का वर्णन है। इस संहिता में न्यग्रोध शब्द बीस बार और वट पन्द्रह बार आया है।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो में रचे गये काव्य-ग्रन्थो मे यद्यपि दोनो नाम मिलते हैं, परन्तु कवियों का झुकाव सम्भवतः न्यग्रोध नाम की ओर अधिक था। न्यग्रोध की तुलना में वट शब्द अधिक कठोर ध्वनि देता है। साहित्यिक कृतियो के लिए कवियो द्वारा कोमल शब्द के प्रति पक्षपात स्वाभाविक समझा जा सकता है। कविवर भट्ट नारायण (600 ईस्वी पश्चात्) ने वेणीसंहार के चौथे और पांचवें दोनो अंकों में न्यग्रोध नाम दिया है, वट नहीं।

मध्य तथा उत्तरकालीन उपनिषदों में से निम्नलिखित उपनिषदो मे इस वृक्ष

का वट नाम से उल्लेख हुआ—कृष्णोपनिषद्, तारोपनिषद्, सिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्, रामपूर्वतापिन्युपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, महोपनिषद्, शिवोपनिषद्, सामरहस्योपनिषद्, सर्वसारोपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्, दक्षिणामूर्त्ति उपनिषद् और मैत्रि उपनिषद्। इन मे तथा अन्य उपनिषदो में भी न्यग्रोध नाम प्राय नही मिलता। छान्दोग्योपनिषद् और दक्षिणामूर्ति उपनिषद् में एक-दो स्थलों पर न्यग्रोध शब्द का उपयोग हुआ है। उपनिषदो मे सब मिला कर लगभग सत्रह बार वट शब्द आया है और न्यग्रोध केवल दो-तीन बार। यह तथ्य संकेत करता है कि संस्कृत साहित्य मे से अब न्यग्रोध शब्द प्राय: निकल गया था।

संस्कृत में इकतालीस नाम : वैद्यक शब्द सिन्धु और जामनगर के चरक आदि संग्रह ग्रन्थो में बड़ के सब मिला कर इकतालीस नाम सगृहीत है। पृष्ठ 116 की तालिका में यह दिखाया गया है कि ये नाम मूलतः किन-किन ग्रन्थो मे आए हैं। अन्तिम स्कन्ध (कॉलम) में वे नाम रखे गए है, जिन के सम्बन्ध मे हम यह पता नही कर सके कि वे नाम मूलतः किस ग्रन्थ मे आए हैं।

संस्कृत के नामों का अर्थ : परिचयज्ञापक नाम : वट (दूसरे पर लिपट जाने वाला; वटति वेष्टयति मूलेन वृक्षान्तरम्); क्षीरी (दूध वाला पेड़); जटाल (जटाओं वाला); बहुपाद (जिस के बहुत-से पैर—जटाएं होती हैं); रक्तपदा (नई जटाए लाल होती हैं); अवरोही (जटाओ के द्वारा नीचे की ओर बढ़ने वाला); मण्डली (शाखाओ के विस्तार से एक बड़ी परिधि बनाने वाला); विटपी (शाखाओं और पत्तों के बड़े घेरे वाला वृक्ष); महाछाय (बड़ी छाया देने वाला); न्यग्रोध (घूप और बारिश को अपने नीचे गिरने से रोकने वाला; न्यक् अधो देशे रोधनात्); यक्षतरु, यक्षावास, यक्षावासक (यक्षों का आवास—घर); वैश्रवणावास (कुबेर का घर); ध्रुव (स्थिर, सैकड़ों वर्षों तक बना रहने वाला); वनस्पति (वन का राजा); नील (पत्ते गूढे हरे या नीले-काले होते हैं); शृङ्गी, शुङ्गी (नये पत्ते—शृंग—सींग जैसी नोकीली कलिकाओं में लिपटे हुए प्रकट होते हैं); रोहिण, रक्तफल (लाल फल वाला)।

उत्पत्तिबोधक नाम—स्कन्धज, स्कन्धरुह (बड़ी शाखाओं से पैदा हो जाने वाला); शिफारुह (छोटी शाखाओ से उग आने वाला); पादरोही, पदारोही (पैरों—जटाओ के द्वारा उगने वाला); दान्त (जटाओं की विशेष परिचर्या कर के इस की वृद्धि और उत्पत्ति को सधाया जा सकता है)।

अन्य भाषाओं के नाम :

अरबी	कबिरुल् अश्जार।
अंग्रेजी	दि बनियन ट्री।
कन्नड़	आलदमर, गोड़िमर, गोणिमर, बसरिमर (मर—वृक्ष)।

तालिका

अमरकोष 500-800 ईस्वी पश्चात्	धन्वन्तरि निघण्टु ईस्वी 800 पश्चात् से पूर्व	राज निघण्टु 12वीं शती	मदनविनोद निघण्टु 1374 ईस्वी पश्चात्	कैयदेव निघण्टु 1450 ईस्वी पश्चात्	भावप्रकाश 1500 ईस्वी पश्चात्	
1 न्यग्रोध	1 न्यग्रोध	1 न्यग्रोध	1 न्यग्रोध	1 न्यग्रोध	1 न्यग्रोध	
2 वट	2 वट	2 वट	2 वट	2 वट	2 वट	
	3 ध्रुव		3 ध्रुव		3 ध्रुव	
	4 क्षीरी	3 क्षीरी	4 क्षीरी	3 क्षीरी	4 क्षीरी	
	5 शृंगी	4 शृंगी		4 शृंगी	5 शुंगी	शुंग
		5 रोहिणी				
	6 रक्तफल	6 रक्तफल	5 रक्तपदा	5 रक्तफल	6 रक्तफल	
		7 मण्डली				
		8 महाछाय				वृहच्छाय
						जटी
		9 जटाल				जटिल
		10 अवरोही				
		11 पादरोहिण	6 पदारोही	6 पादरोही		
		12 शिफारुह				
		13 स्कन्धरुह				
	7 स्कन्धज		7 स्कन्धज	7 स्कान्धज	7 स्कन्धज	

3 बहुपाद्	8 बहुपाद	14 बहुपाद	8 बहुपाद	8 बहुपाद	8 बहुपाद	बहुपात्
						बृहत्पाद
		15 यक्षवास	9 यक्षावास	9 यक्षवासक		
		16 यक्षतरु				
	9 वैश्रवणावास				9 वैश्रवणावास	
						वैश्रवणालय
						वैश्रवणोदय:
						यमप्रिय
	10 वनस्पति	17 वनस्पति	10 वनस्पति	10 वनस्पति	10 वनस्पति	
						वृक्षनाथ
						कर्मज
		18 विटपी				नन्दी
		19 नील		11 दान्त		भाण्डीर

गुजराती वड वडलो।
तमिल आलमरम् अरसिमरम्।
तेलगु मर्रिचट्टु (चट्टु = वृक्ष)।
पाली नग्गोह, वडरुक्ख।
पुर्तगाली Arbor de Raiz, Albero de laiz. दोनों शब्दों का अर्थ है 'जड़ों वाला वृक्ष'।
पंजाबी बोड, बोहड़।
फ़ारसी दरख्तेरीश।
मराठी वड।
मलयालम् आलवृक्षम्, आलमरम्।
लैटिन फ़िकुस बेंगालेन्सिस लिन. (*Ficus bengalensis*) Linn. बंगाल का प्रोदुम्बर), फ़िकुस इण्डिका, उरोस्टीग्मा बेंगालेन्से (*Urostigma bengalense* Gasp.)।
रूसी फ़ीगोवोए देरेवो।
स्यामी सई।
हिन्दी बड़, बरगद।

प्राप्ति स्थान : भारत के पर्वतीय जंगलों में सब जगह फैला हुआ है। जंगल-प्रदेशों में खूब मिलने वाले वृक्षों में चरक ने बड़ गिनाया है।[1] हिमालय के निचले भूखण्ड में और भारतीय प्रायद्वीप में देशीय है। भारत और पाकिस्तान में प्रायः सर्वत्र बोया हुआ या स्वयं उगा हुआ मिल जाता है।

सोम से प्रादुर्भाव : ब्राह्मण-ग्रन्थों में न्यग्रोध का प्रादुर्भाव इस प्रकार बताया है। प्राचीन काल में देवताओं ने कुरुक्षेत्र के ऊपर यज्ञ करके स्वर्गलोक की प्राप्ति की थी। उस यज्ञ-देश में देवों ने सोमचमस को नीचे की ओर मुख करके स्थापित कर दिया। यह सोमचमस ही न्यग्रोध बन गया।[2] संस्कृत में अधोमुख करके स्थापित करने को न्युब्ज कहते है। इसलिए, इस तरह उद्भूत वृक्ष को न्युब्ज कहने लगे। आचार्य सायण के समय (1400 ईस्वी पश्चात्) में भी कुरुक्षेत्र में न्योग्रोध को न्युब्ज कहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भूमि पर न्यग्रोध के वृक्ष सबसे पहले कुरुक्षेत्र में उत्पन्न हुए। उनसे ही सब जगह न्यग्रोध फैला है।[3]

---

1 चरक संहिता, कल्प स्थान 1;8।

2 न्यग्रोधश्चमसैरिति। यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त त एताश्चमसान्न्योब्जंस्ते न्यञ्चोऽरोहस्तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति। शतपथ ब्राह्मण, 13, 2, 7, 3।

3 यतो या अधिदेवा यज्ञेनेष्ट्वा स्वर्गं लोकमायंस्तत्रैताश्चमसान्न्युब्जंस्ते न्यग्रोधा अभवन्न्युब्जा इति हाप्येनानेतर्ह्याचक्षते कुरुक्षेत्रे ते ह प्रथमजा न्यग्रोधानां तेभ्यो हान्येऽधिजाता.। ऐतरेय ब्राह्मण, खण्ड 4, अ. 35; 30।

वे चमस क्योकि न्यञ्च (अधोमुख) होकर प्रादुर्भूत हुए इस कारण 'न्यंग् रोहति' इस व्युत्पत्ति से इसे न्यग्रोह कहने लगे। बोलचाल में ह का ध बन जाने से न्यग्रोध शब्द बन गया।[1] नीचे की ओर मुख करके रखे गए चमसो के वट वृक्षो के रूप में परिणत हो जाने पर चमसो में विद्यमान रस नीचे की ओर जाने लगा। वह रस विशेष अवरोह (जटाएं) बन गए और जो रस ऊपर चढ़ा वह फल बन गए। ये फल सोमरस के ही रूपान्तर हैं।[2]

शतपथ ब्राह्मण के आलंकारिक वर्णन मे इन्द्र की हड्डियों से गिरी स्वधा द्वारा न्यग्रोध की उत्पत्ति लिखी है।[3]

सामान्य परिचय : दशरोमकुल (उर्टिकेसी) नामक नैसर्गिक वर्ग (नेचुरल ऑर्डर) में वड़ एक बडा फैलने वाला पतनशील पत्तोंवाला (deciduous) वृक्ष है। प्रायः तीस मीटर या इससे अधिक ऊंचा पहुंच जाता है। उत्तर भारत की अपेक्षा बगाल मे इसकी जटाओं तथा शाखाओं की अधिक वृद्धि होती है। परन्तु उत्तर भारत में व सूखे स्थानों पर तने की मोटाई अधिक होती है। तना प्रायः सात से नौ मीटर तक मोटा हो जाता है। प्रतीत होता है कि जंगल में यह इतना अधिक नही फैलता जितना खुले मे।

पत्ते वड़े, चर्म सदृश, गूढे स्निग्ध-हरित, लम्बाई में दस से बीस सेण्टीमीटर और चौड़ाई में पांच से तेरह सेण्टीमीटर तक होते हैं, ये छोटे दृढ़ डण्ठलो के साथ लगे रहते हैं। प्रायः सब ग्रोदुम्बर (fig) वृक्षों की तरह बड़ में भी दो शल्क (scales) होते हैं। पत्र-कलिका को ढकते हैं। पत्ते की वृद्धि के साथ शल्क गिर जाते है और पत्ते के डण्ठल के आधार पर शाखा के चारों ओर छल्ले जैसा एक निशान छोड़ जाते है। नए पत्ते सामान्यतया फ़रवरी और मार्च में प्रकट होते हैं, परन्तु कभी-कभी सितम्बर और अक्टूबर में भी निकलते रहते है। नए पत्तों में एक आकर्षक आरक्त (reddish) आभा होती है।

शुष्क प्रदेशों में यह वृक्ष थोड़े समय के लिए गरमियो मे पत्र रहित हो जाता है परन्तु सामान्यतया यह सदा हरा रहने वाला वृक्ष है।

फल : फरवरी और मई के बीच में फल पक कर दीप्त (bright) रक्त हो जाते हैं। हरिद्वार मे कुछ पेडों पर मैंने सितम्बर तक भी चमकीले लाल फल लगे देखे है। वैसे इस प्रदेश मे इन दिनों वरगद के अधिक वृक्ष फलहीन रहते है। कभी-कभी पीले रंग के फल भी देखे जाते हैं। पक्षी, चिमगादड़ और हिरण आदि वन्यपशुओ की मुहमांगी दावत

---

1 ते यन्न्यञ्चोऽरोहस्तस्मान्यङ् रोहति न्यग्रोहो-न्योग्रोहो वै नाम तन्न्यग्रोह सन्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा.। ऐतरेय ब्राह्मण, खण्ड 4, अ. 3; 30।

2 तेषा यश्चमसाना रसोऽवाङ् तेऽवरोधा अभवन्नथ य ऊर्ध्वस्तानि फलानि।
ऐतरेय ब्राह्मण, खण्ड 5, अ. 35; 31।

3 अस्थिभ्य एवास्य स्वधाऽस्रवत्स न्यग्रोधोऽभवत्।
शतपथ ब्राह्मण, 12, 3, 2, 7; 9।

का यह सुनहरा अवसर होता है। किन्हीं वृक्षों पर तो दिसम्बर तक भी फल मिल जाते हैं।

वृक्ष की बड़ी काया की तुलना में फल बहुत छोटे होते हैं। संस्कृत के एक कवि ने इस पर मजेदार व्यंग्य कसा है—"खूब फैले हुए ओ बरगद! तेरी बड़ी शाखाओं पर सैंकड़ो पक्षी आश्रय लेते हैं और वृक्षों का तू सरदार है। मन में कुढ़े ना तो जरा-सी बात कह दूं! झोपड़ी की छत पर ही फैल जाने वाली छोटे-से घेरे वाली पेठे की बेल अपने फलों से तेरे फलों पर हसती हैं।[1]

संस्कृत का एक सुभाषित इस प्रकार है -न्यग्रोध के कुछ ही फल ठीक तरह पकते है। उन में भी बहुत कम ऐसे होते है जिन मे बीजो से पौदे फूट निकलें। उन में भी विरला ही कोई ऐसा भला पौदा निकलता है जो इतना बड़ा हो जाय कि उस के नीचे गरमी से सताया हुआ आदमी अपनी ग्लानि को दूर करने के लिए दौड़ता हो।[2] यही भाव महोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया है—यह सारा संसार आशा रूपी जाल है और वैसा ही निष्फल है जैसे कि वट के अधिकाश बीज निष्फल होते हैं।[3]

सुभाषितावली में कहा है—न्यग्रोध का बीज मामूली-सा अंकुर बन कर नहीं रह जाता। वह या तो महावृक्ष का रूप धारण कर लेता है या बिलकुल नष्ट हो जाता है।[4]

क्या फूल नहीं होते ? लगता ऐसा है कि बड़ फूल नहीं धारण करता, केवल फल ही पैदा करता है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। फूल सूक्ष्म होते हैं और मांसल ग्राह (receptacle) में तिरोहित रहते हैं। ये ग्राह या फल डण्ठल-रहित होते हैं और लाल प्रबदरों (cherries) की तरह पत्तों के अक्षों के साथ जोड़ों में उगते हैं। नर और मादा दोनो लिंगो के छोटे-छोटे अनेक फूल एक ही ग्राह के अन्दर विद्यमान रहते हैं। नर फूल ग्राह के मुख के पास इकट्ठे लगे रहते है जिन मे चार निदल (sepals) और एक पुंकेसर (stamen) होते हैं।

---

1 विस्तीर्णो दीर्घशाखाश्रितशकुनिशत. शाखिनामग्रणिस्त्व,
न्यग्रोधश्चाधमन्तः प्रकटयसि न चेद्ब्रूमि किञ्चित्तदल्पम्।
जल्पोऽप्येप त्वपाकुटलघुपरिकरा कापि कूष्माण्डवल्ली,
पल्लीपृष्ठप्रतिष्ठा हसति हि फलैन त्वत्फलानां किमन्यत्॥ सुभाषित रत्न भाण्डागार।

2 न्यग्रोधे फलशालिनि स्फुटतर किंचित्फल पच्यते।
बीजान्यकुर गोचराणि कतिचित् सिध्यन्ति तस्मिन्नपि॥
एकस्तेष्वपि कश्चिदङ्कुरवरः प्राप्नोति तामुन्नतिम्।
यामासाद्य निदाघपीडिततनुर्ग्लानिच्छिदे धावति॥
सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृष्ठ 141, 1952।

3 इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम्।
दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वट यथा॥ महोपनिषद्, अ. 5; 133।

4 महातरुर्वा भवति समूलो वा विनश्यति।
कुनाप्रक्रियामेति न्यग्रोधकणिकांकुरः॥ सुभाषितावलि; 788।

फूलों के साथ ही छोटे-छोटे कीट रहते हैं। जिन्हे 'प्रोदुम्बर कीट' (fig insects) कहते हैं। इन कीटों के बिना वृक्ष बीज नहीं पैदा कर सकता। प्रोदुम्बर (Ficus) की प्रत्येक जाति के साथ एक वरट का सम्बन्ध है। सिरे पर अवस्थित छिद्र से वरट अन्दर प्रवेश करता है और फूलो के अन्दर अपने अण्डे रखता है। अण्डो से कीड़े निकल कर परिपक्व हो जाते है। अपने घर को छोड़ते हुए ये नए कीट नर फूलों के पराग से अवधूलित हो जाते है। तब ये दूसरे फल मे घुसते है और उसे निषेचित करते हैं।

बरगद, गूलर आदि दूध वाले पेड़ो मे फूल न आने के लोक-विश्वास के विपरीत महर्षि वाल्मीकि ने इन वृक्षो के फूलो का उल्लेख स्पष्ट किया है। वाल्मीकि ने दिखाया है कि बालि का वध कर के सुग्रीव को जब शासन दिया गया है तो अभिषेक की सामग्री मे बरगद आदि क्षीरी वृक्षो के प्ररोह और फूल भी लिए गए थे।[1] पुराने लेखको के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का यह विशिष्ट उदाहरण है।

नगरों के चारों ओर : पुराकाल में नगरों और गावों के आस-पास बरगद या पीपल को रोपने का खूब रिवाज था। 1908 मे 'इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इण्डिया' की जिल्दों को देखने से पता चलता है कि बहुत से नगरो को ये वृक्ष घेरे खड़े थे। वट वृक्षों के मध्य में बसा होने से बड़ौदा पहले वटोदरा कहलाता था; गुजराती में तो अब भी संस्कृत के वटोदर शब्द का अपभ्रंश वडोदरा उच्चारित होता है।

धर्मग्रन्थो से पता चलता है कि हमारी राज-व्यवस्था मे सीमाओ का निर्धारण करने के लिए ग्रामो और नगरो के चारो ओर सीमावृक्ष के रूप में बरगद और पीपल आदि रोपे जाते थे।[2] स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स मे तथा अन्य स्थानों पर यह पथवृक्ष के रूप में बोया जाता है।

संस्कृत की एक लोकोक्ति में बड़ की छाया को गरमियों मे जहां शीतल बताया है, वहां सरदियो मे गरम बताया है।[3]

बोना : बीजो से या कर्तनों (cutting) से वृक्ष उगाया जा सकता है। पकने के साथ ही बीजो को बो देना चाहिए। गमलो या मजूषाओं (बक्सो) में बोना अच्छा रहता है। ईंट या कोयले के बारीक चूरे के साथ मिला कर बीज बोने चाहिए। दिन की गरमी से बचाने से लिए छोटे पौदो को छाया में रखना चाहिए। कर्तनो से लगाना हो तो 2.40 से 3 मीटर लम्बी कर्तनो को जनवरी से मार्च तक बोना चाहिए। बरसात आने तक इन्हे पानी देना जरूरी होता है। सिचाई की व्यवस्था न हो सके तो जुलाई मे

---

1 सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च। — रामायण, 4, 26; 26।

2 सीमावृक्षांस्तु कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीसालतालांश्च क्षीरीणांश्चैव पादपान्॥ — मनु स्मृति।

3 कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री तरुण दधि।
शीतकाले भवेदुष्ण ऊष्णकाले च शीतलम्॥

बरसात शुरू होने पर बोयें। जनवरी-मार्च में बोई गई कर्तनों की अपेक्षा ये कर्तनें कम सफल होती है। एक तरीका यह भी है कि छोटी कर्तनों को गमलों या टोकरियो में मार्च मे लगा कर अच्छा पानी देते रहें और बरसात शुरू होने पर इन्हे अलग करके यथास्थान रोप दें। बरगद के पेड़ को घर के पूर्व में बोने का विधान है।

अवध के 1907 तथा 1908 के सूखे ने यह सिद्ध कर दिया था कि यह वृक्ष निश्चित रूप से शोष-सहिष्णु (drought-hardy) है। घोर तुहिन पत्तो को क्षतिग्रस्त कर देती है। परन्तु पुन. स्वास्थ्य लाभ करने की शक्ति इस वृक्ष में अच्छी है। 1905 में उत्तर भारत के असाधारण तुहिन मे वृक्ष को बहुत अधिक हानि नही पहुंची थी।

अक्षवयट : संस्कृत के महाकाव्यों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि प्रयाग में ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में बरगद का एक महान् वृक्ष था, जो मध्यकाल तक वहा खड़ा था। चित्रकूट को जाते हुए सीता जब उस वट के पास पहुंची तो उन्होने अनेक वृक्षों से घिरे हुए उस महावृक्ष को नमस्कार किया था और अपने पतिव्रत धर्म को पालन करने की सामर्थ्य उस श्यामवट से मांगी थी। हाथ जोड़ कर सीता ने उस से निर्विघ्नता के लिए आशीर्वाद भी मांगा था।[1] वनवास से जब राम लौट रहे थे तो यह वट चमकीले लाल फलों से सुशोभित हो रहा था। उस के सौन्दर्य से विमुग्ध हो कर श्रीराम सीता को कहते हैं कि 'तूने पहले जिस से याचना की थी वह प्रसिद्ध श्यामवट यह है। नीलम के ढेर मे जैसे पुखराज जड़े हों, फला हुआ श्यामवट उसी तरह दीप्त हो रहा है।[2] श्यामवट के गूढे हरे या नीले रंग के पत्तों की यहां नीलम (गारुड़ मणि) से तुलना की गई है और दीप्त लाल फलो की पुखराज (पद्मराग) से। महर्षि बाल्मीकि (400 ईस्वी पूर्व) ने जिसे श्याम न्यग्रोध और कविगुरु कालिदास (600 ईस्वी पश्चात्) ने जिसे श्यामवट लिखा है आठवीं शती के भवभूति ने भी उसे श्यामवट के नाम से ही उल्लेख किया है। लक्ष्मण कहते हैं कि 'कालिन्दी के तट पर और चित्रकूट को जाने वाली सड़क के किनारे पर अवस्थित जिस श्याम नामक वट को भारद्वाज ने बताया था, वह यहां खड़ा है।[3] उस समय तक के लेखकों ने यद्यपि इसे एक असाधारण वृक्ष समझा था, परन्तु इसे दिव्यता और अलौकिकता प्रदान करने वाले बाद के लेखक प्रतीत होते हैं। मुरारी के समय (1050—1135) यह निश्चित रूप से अद्भुत शक्ति-सम्पन्न ऐसा

---

1 तेषु ते प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्।
श्याम न्यग्रोधमासेदु शीतलं हरितच्छदम्॥
न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिव्रतम्॥ रामायण, अयोध्या काण्ड, 2, स. 55; 23-24।

2 त्वया पुरस्ताद् उपयाचितो य., सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीत·।
राशिर्मणीनामिव गारुडाना, सपद्मरागः फलितो विभाति॥ रघुवंश, 13; 53।

3 अयमसौ भरद्वाजवेदित चित्रकूटयामिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम।
उत्तर रामचरित, अक 1, पृष्ठ 16।

वृक्ष माना जाने लगा था जिस की छाया में रहने वाले परंज्योति के साथ निवास करते हुए विश्वास किए जाते थे।[1]

दो सौ ईस्वी पूर्व के लगभग महर्षि व्यास ने प्रयाग के पास गया पर्वत पर उगे हुए एक वट वृक्ष को अक्षयवट नाम दिया गया था। पांडवो ने वनवास मे एक चौमासा उसी के नीचे बिताया था।[2] यदि यह वही सीता जी वाला श्याम न्यग्रोध था तो न जाने क्यो काव्य-रचयिताओं की कल्पनाओ को अक्षय वट जैसे कल्पनाप्रसूत नाम ने प्रभावित नही किया ? क्योकि काव्यों में तो बहुत देर तक इसे श्यामवट या श्याम न्यग्रोध ही कहते रहे थे। कहीं ऐसा तो नही कि अक्षयवट की महत्ता वाले ये श्लोक व्यास के रचे हुए महाभारत में न हों और बाद के किसी लेखक ने जोडे हों ? महाभारत तथा पुराणो में वर्णित अक्षयवट के आख्यान से प्रेरित होकर अनर्घ राघव के टीकाकार रुचिपति ने यद्यपि प्रयाग के उसी श्याम न्यग्रोध को अक्षयवट नाम दिया तथापि प्रतीत होता है कि काव्यग्रन्थो में इस वृक्ष का नाम श्याम न्यग्रोध या श्यामवट ही रहा, अक्षयवट नही।

अमर कोष (500-800 ईस्वी पश्चात्) के नानार्थवर्ग में श्याम शब्द आया है। अमरकोष के टीकाकार भानु जी दीक्षित (1630 ईस्वी पश्चात्) ने इस की व्याख्या में मेदिनी कोष (1300 ईस्वी पश्चात्) के उद्धरण से उसे प्रयाग का श्याम वट बताया है। हेमचन्द्र (1088-1172 ईस्वी पश्चात्) को उद्धृत करते हुए भी भानु जी दीक्षित ने प्रयाग के वट को श्याम वट लिखा है अक्षयवट नही।

गोस्वामी तुलसी दास जी (1532-1623 ईस्वी पश्चात्) ने प्रयाग के संगम पर उगे हुए बरगद को अक्षय वट नाम दिया है। उस के विशाल छत्र को उन्होने मुनियों के मन को मोहने वाला बताया है।[3]

अक्षयवट का शाब्दिक अर्थ है—न क्षीण होने वाला बरगद। बरगद वृक्षो मे सामान्य रूप से यह विशेपता होती है। जिस बरगद मे यह विशेषता अधिक हो उसे अक्षयवट कह देते थे। इस प्रकार का एक बरगद गया में भी था। प्रयाग और गया दोनो के वटवृक्षो को अक्षयवट के नाम से हिन्दुओ ने अनेक शताब्दियों तक बड़े आदर से देखा है। संस्कृत साहित्य मे प्रयाग तथा गया के अक्षयवट अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। ब्रह्म-पुराण (अध्याय 161; 66-67) में गोदावरी माहात्म्य के अन्तर्गत विन्ध्य के उत्तर में

---

1 श्यामो नाम वटः सोऽयम् एतस्याद्भुतकर्मणः।
छायामप्यधिवस्तव्यैः परज्योतिर्निषेव्यते ॥ अनर्घराघव, अंक 7; 129।

2 तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ॥
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान्।
अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ॥
ये तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः। महाभारत, वन पर्व, 95; 13—15।

3क संगम सिंहासन सुठि सोहा। छत्र अक्षयवट मुनि मन मोहा ॥
ख परसि अक्षयवट हरखहिं गाता। रामचरित मानस।

एक अक्षयवट का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (अध्याय 33; 32-33) में नर्मदा के वट का वर्णन है जहां पुलस्य ऋषि ने तप किया था।

प्रलय में भी अविनाशी : महा प्रलय की कल्पना में विपुल जलराशि के बीच में एक विशाल न्यग्रोध वृक्ष की विस्तीर्ण शाखा पर दिव्य शिशु विश्राम करते हैं।[1] अपने पैर के अंगूठे को वे मुख से चूस रहे होते है।[2] सर्वत्र जल भर जाने से स्थावर और जङ्गम सभी कुछ नष्ट हो जाता है।[3]

न्यग्रोध के पलङ्ग पर सोये हुए आदि-पुरुष से ही पुनः सृष्टि का आरम्भ होता है। महाभारत की इस कल्पना को प्रयाग तथा गया के अक्षयवट में अन्तर्निहित कर दिया गया है। प्रयाग माहात्म्य शती में इस का विस्तृत वर्णन व माहात्म्य है। उस में से कुछ स्थल हम संक्षेप में यहां दे रहे हैं।

गङ्गा और यमुना के सङ्गम पर यह अक्षयवट स्थित है। यह महान् वट एक बड़े आश्चर्य का वृक्ष है।[5]

सफ़ेद व नीली गङ्गा और यमुना नदियां जिस के चंवर है और जिस में बरगद के पेड़ का छत्र इतना बड़ा है कि साक्षात् नीला आकाश बन गया है।[6] बरगद के वृक्षों का राजा जहां सिर के आभूषण के समान विराजमान है।[7] इस वट के नीचे शिवा भी अपने

1क ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसंप्लवे।
न्यग्रोध सुमहान्त वैं विशाल पृथिवीपते॥
शाखाया तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप।
पर्यंके पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसस्तृते॥
उपविष्टं महाराज पूर्णेन्दुसदृशाननम्।
फुलपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत॥ — महाभारत, आरण्यक पर्व, 186; 81-83।

ख ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशांपते।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वैं जगत्॥ — महाभारत, आदि पर्व, 186; 114।

2 जठरेऽखिलमाधाय त्वयि स्वपिति माधवः।
कृत्वा मुखाम्बुजे पादौ नमोऽक्षय्यवटायते॥ — प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 117, 39; 25।

3 यत्र चैकार्णवे शेते नष्टे स्थावरजंगमे।
सर्वत्र जलसम्पूर्णे वटे बालवपुर्हरिः॥ — प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 93, 32; 7।

4 स्वयमेवखिलश्रेष्ठस्ततोऽक्षय्यवटान्वितः।
कालिधाः गगाया वाराया यथोत्तरसमन्वित. — प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 95, 32; 46।

5 अथाप्येक महाश्चर्यं प्रयागे दृष्टमद्य वैं।
एको महान्वटो दृष्टः सर्वाश्चर्यमयो हि सः॥ — प्रयाग माहात्म्य शती, 212, 71; 10।

6 सितासिते यत्र तरंगचामरे, नद्यौ विभातः मुनिभानुकन्यके।
नीलातपत्र वट एव साक्षात्, स तीर्थराजो जयति प्रयागः॥
प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 12; 36।

7 सीतचूडामणिर्यत्र, राजते वटवृक्षराट्।
शूलिताण्डवसंहृष्ट, माधवा वासमंगलः॥ — प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 19; 9।

ताण्डव से माधव को सन्तुष्ट करते है।[1] हरित मणि के समान सुन्दर अक्षयवट की छाया देवताओ को भी हर्ष देती है।[2] सब देवों और ऋषियो से समादृत इस वट मूल मे ब्रह्मा ने दस यज्ञ किये थे।[3]

'माधव उतनी प्रसन्नता से वैकुण्ठ मे नही रहते जितनी प्रसन्नता से तीर्थराज के अक्षयवट पर रहते हैं'।[4] 'इस वट की रक्षा सदा शूलपाणि महेश्वर करते है'।[5] 'उस के मूल में ब्रह्मा बीच में विष्णु और अग्रभाग में शिव निवास करते है'।[6] 'महाप्रलय के समय समस्त संसार के जलमय हो जाने पर माधव के सोने के लिए बरगदो का यह राजा पलग बना था'।[7] 'सब रूपों को समेट कर ब्रह्माण्ड को अपने पेट में रख कर बालरूप धारण कर के इस अक्षयवट पर वे सोते है'।[8] 'कल्पवृक्ष और उसके स्वरूप मे भेद नहीं'।[9] 'ऐसा वृक्ष ब्रह्माण्ड मे दूसरा नही है'।[10] 'इस की पूजा करने से मनोरथ सिद्ध होते है'।[11] 'यात्रा पर आने वाले नर-नारी विशुद्ध चित्त से इस की पूजा करने से अक्षय फल पाते है'।[12] 'सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा को जब सृष्टि बनाने की सामग्री नही मिली तो मनोकामना

---

1 परमो वैष्णवो योगी, शिवोऽपि शिवकृत्ततताम्।
वटमूलं समासाद्य, माधवानुग्रहेच्छया॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 25; 1।

2 अक्षय्यवटसुच्छाया, हरितोपलशोभिता।
हर्षदा देवतादीना, नित्य यत्र प्रसर्पति॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 18; 56।

3 वटमूलेति विख्यातं, सर्वदेवर्षि सम्मतम्
यत्रेष्टं ब्रह्मदेवेन, क्रतूना दशकेन च॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 93, 32; 6।

4 वैकुण्ठेन तथा हृष्टो वसते माधवः प्रभु.।
प्रसन्नस्तीर्थराजे च यथास्त्वक्षय पादपे॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 92, 32; 55।

5 त वटं रक्षति सदा शूलपाणिर्महेश्वरः। प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 100, 34; 20।

6 त्वन्मूले वसते ब्रह्मा तव मध्ये जनार्दनः।
त्वदग्रे वसते शूली तादृश त्वां नमाम्यहम्॥ प्रयाग महात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 112, 39; 26।

7 एकार्णवे महाकल्पे सुपुप्तो माधव प्रभो।
पर्यंक वटराज त्वं गृहाणार्घ्यं नमोस्तु ते॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 118, 39; 38।

8 सर्वरूपाणि सहृत्य बालरूपधरस्तत.।
ब्रह्माण्डमुदरे कृत्वा शयेताक्षय्यपादपे॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 213, 72; 23।

9 तस्याहं कल्पवृक्षस्य स्वरूपं वेद्मि नापर.।
प्रपञ्चबीजभूतस्य तद्ध सर्वं निरूपितम्॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 213, 72; 24।

10 तस्मादेव विधो वृक्षो नास्ति ब्रह्माण्डगोलके।
अतोऽर्च्यन्त्यमुं देवा मनुष्याणा तु का कथा॥
प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 218, 72; 26।

11 तस्मान्मुनिवरा यूयमेनं पूजयताक्षयम्।
येऽन्येऽपि पूजयिष्यन्ति प्राप्स्यन्ते ते मनोगतम्॥
प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 213, 72; 27।

12 यात्रार्थमागता ये वै नरा नार्योऽमलाशयाः।
संपूज्य प्रार्थयन्त्येते लभन्ते फलमक्षयम्॥ प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 214, 72; 28।

पूर्ण करने वाले इस अक्षयवट की उन्होने पूजा की'।[1] 'तीनों लोकों को समेट कर आदि पुरुष इस पर सोता है।[2]

गया का अक्षयवट . गया का अक्षयवट भी तीनों लोकों में प्रसिद्ध था।[3] महाभारत में इस के अनेक उल्लेख आते है।[4] कश्मीर के महाकवि क्षेमेन्द्र (1020-1080 ईस्वी पश्चात्) ने गया के अक्षयवट का वर्णन किया है।[5] वायुपुराण (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1905, पृष्ठ 426-453) के गया माहात्म्य मे हमें वट के निम्नलिखित उल्लेख मिलते है—भस्मकूटाद्रि के पास 'वटो वटेश्वर:' (पृष्ठ 437), गृध्रकूट के पास 'गृध्रवट' (पृष्ठ 437), सीताद्रि के पास 'वटोवटेश्वर' (पृष्ठ 438), गृध्रकूट के पास 'गृध्रेवट' (पृष्ठ 438) और भस्मकूट, गृध्रकूट, फल्गुतीर्थ आदि के साथ 'अक्षयवट' (पृष्ठ 440)। गया के अक्षयवट के नीचे श्राद्ध करने के तथा विविध प्रकार के दान देने के फल की महिमा बताते हुए उस वट के अग्रभाग में योगशायी बालरूपधर भगवान की स्तुति की है।[6]

पण्डों का चमत्कार : सैकड़ो वर्षों तक प्रयाग का अक्षय वट तीर्थ पुरोहितों की जादूविद्या का चमत्कार मात्र रहा। अक्षयवट देखने के लिए इलाहाबाद के किले के भीतर

---

1 सृष्टिकर्ता यदा ब्रह्मा न लेभे सृष्टिसाधनम्।
तदाक्षयवटं चैन पूजयामास कामदम्॥ प्रयोग, माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 214, 72; 29।

2 सशेते वै पुमानाद्य· संहृत्य भुवनत्रयम्।
पादागुष्ठं करे धृत्वा पिबन्नास्त्यत्र बालक:॥ प्रयाग माहात्म्य पूर्वार्द्ध, 214, 72; 35।

3 ततो गया समासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय।
अश्वमेधमवाप्नोति गमनादेव भारत॥
तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुत:।
पितृणा तत्र वै दत्तमक्षयं भवति प्रभो॥
महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत्पितृदेवता:।
अक्षयान्प्राप्नुयाल्कोकान् कुल चैव समुद्धरेत॥ महाभारत, आरण्यक पर्व, 72-73।

4 एष्टव्या बहव: पुत्रा: यद्येकोऽपि गया व्रजेत्।
यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वट:॥ महाभारत, अनुशासन पर्व, अ. 13, 88; 14।

5 गणोद्भव त्रिनयनप्रिया वाराणसीं पुरीम्।
ता चाक्षय्यवटोपेतां पितृसतारिणीं गयाम्॥ भारत मञ्जरी, आरण्यक पर्व, 654-655।

6 कृते श्राद्धेऽक्षयवटे अन्नेनैव प्रयत्नत:।
पितृन्नयेद्ब्रह्मलोकमक्षय तु सनातनम्॥
वटवृक्षसमीपे तु शाकेनाप्युदकेन वा।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवन्ति भोजिता.॥
देय दानं षोडषकं गयातीर्थपुरोधसे।
वस्त्रं गन्धादिभि: पुत्रै: सम्यक् सपूज्य यत्नत:॥
एकार्णवे वटस्याग्रे य. शेते योगनिद्रया।
बालरूपधरस्तस्मै नमस्ते योगशायिने॥ वायु पुराण, गया माहात्म्य, पृष्ठ 449।

जाना पड़ता था। यद्यपि किले के द्वार पर सन्तरी रहता था परन्तु अक्षयवट का मन्दिर और वहां तक जाने का मार्ग जनता के लिए खुला था। किले के द्वार से मन्दिर एक फर्लांग से भी कम दूरी पर है। मन्दिर भूमि के अन्दर है। उसकी छत किले की भूमि के समतल मे है। अन्दर प्रकाश जाने के लिए मन्दिर की छत में खुला स्थान छूटा है जिसे चारों ओर से घेर कर रोशनदान बनाया गया है। इस प्रकार मन्दिर में धीमा प्रकाश पहुंचता है। मन्दिर में उतरने के लिए सीढ़ियां है। कुछ पण्डे मन्दिर दिखाने का ही काम करते थे। वे दीपक जलाकर मूर्तियां और अक्षयवट अच्छी तरह दिखाते थे। भीतर बड़ा पुजारी अक्षयवट के पास बैठा रहता था। एक छोटा दीपक जलता रहता था। हाथ भर से कम व्यास का कुंदा वहां ज़मीन से निकला हुआ दिखाई पड़ता था। जिस की दो शाखाएं हो कर छत से जा मिलती थीं। इसी को अक्षयवट कहते थे। इस के अधिक भाग को कपड़े से ढके रखते थे। लीडर समाचार-पत्र में तथा अन्य पत्रों में भी सन् 1953 मे बहुत वाद-विवाद छपा था जिस से एक बात प्रत्यक्ष हो गई थी कि जल चढ़ाते-चढ़ाते जब मन्दिर में रखा कुंदा सडने लगता था तो पुजारी रात के समय चुपके से सड़े कुंदे को निकाल कर उसके बदले दूसरा कुंदा रख देता था। प्रतिदिन नये आने वाले भक्तों और यात्रियों के सामने तो यह सचमुच उस अक्षयवट के रूप में प्रस्तुत किया जाता था जिस का नाश प्रलयकाल में भी नही होता। यदि कोई जिज्ञासु इस के छोटे आकार को देख कर विस्मय प्रकट करे तो पण्डे उस का सन्तोष यह कह कर करते थे कि चारों ओर से घिरा होने के कारण इस को न धूप लग पाती है और न स्वस्थ हवा पर्याप्त मिलती है, इसी से इस की वृद्धि अत्यन्त मन्द है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि असली अक्षयवट वह जीता-जागता वृक्ष है जो किले के मैदान मे अन्यत्र खडा है। परन्तु, प्रतिद्वन्दियों का कहना है कि यह एक बहाना है जिस से पूजा पुराने स्थान से उठ कर नवीन स्थान में होने लगे और नवीन पुजारियों को पैसे मिलने लगें। यदि इसे वही श्यामन्यग्रोध मान लिया जाए जिस के नीचे सीता ने अञ्जलि-बद्ध हो कर मंगल की याचना की थी तो सैकड़ों वर्षों के समय में यह बहुत अधिक फैला हुआ होना चाहिए था। इसके वर्तमान आकार-प्रकार को देखकर इसे ह्य़ुएन्त्सांग के समय (सातवीं शती ईस्वी पश्चात्) का वह वृक्ष भी नही माना जा सकता जिस के ऊपर से हिन्दू लोग कूद कर प्राण-त्याग किया करते थे। जो लोग इसे अक्षयवट बताते हैं वे इसके छोटे रहने का कारण यह बताते हैं कि पहले जब यह खुली हवा में था तो नदी की बाढ़ों से धीरे-धीरे इसके चारों ओर मिट्टी का भराव होता गया और इस तरह नई बनी भूमि के ऊपर वृक्ष का बहुत थोड़ा भाग ही शेष रहा। यदि यह कथन भी स्वीकार कर लिया जाए तो मानना पड़ेगा कि किला बनने के बाद से इस पर और अधिक मिट्टी नही चढ़ी होगी। तब से अर्थात् लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों मे यह 490 मीटर से अधिक परिधि का पेड़ बन जाना चाहिए था, क्योंकि कलकत्ते का बरगद लगभग एक सौ सत्तर वर्षों में प्रायः 263 मीटर की परिधि में बढ गया था।

किया जाता। अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद किला भारतीय सैनिकों के अधिकार में आ गया। भारतीय सैनिकों की अनुमति से 20 जून 1951 को शाखा बदली गई। 24 जून 1951 के दैनिक लीडर और भारत में इस घटना का समाचार इस प्रकार छपा— 'इलाहबाद के किले में भूगर्भस्थ पातालपुरी मन्दिर में अक्षयवट के रूप मे जिस पुराने तने की पूजा की जाती थी, उस के स्थान पर एक नई शाखा स्थापित की गई है। प्राप्त सूचना के अनुसार तथा जिस की पुष्टि सरकारी माध्यम द्वारा हो चुकी है, यह कहा गया है कि मन्दिर के प्रधान पुरोहित ने अधिकारियों से लिखित प्रार्थना की थी कि यह शाखा बहुत पुरानी हो गई है और इस के स्थान पर नई शाखा स्थापित करने की आज्ञा दी जाय। धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुंचाने के उद्देश्य से और पुजारियों के रिवाज न टूटने के विचार से उन्हें शाखा परिवर्तन की आज्ञा दे दी गई। छत्तीस पण्डो तथा बीस मजदूरों ने उसी ढग की एक वृक्ष की शाखा ला कर उस स्थान पर स्थापित कर दी। यह कार्य अन्धेरी रात को आठ बजे सम्पन्न किया गया। इस अवसर पर पुरोहित ने किले के भीतर के व्यक्तियों को तथा त्रिवेणी तट के व्यक्तियों को प्रसाद वितरित किया।'

इस से यह तो स्पष्ट हो गया कि काण्ड को इसी प्रकार राजकीय अधिकारियों की अनुमति से दीर्घकाल से समय-समय पर बदला जाता रहा है।

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद 1860 में अंग्रेजी पढ़े-लिखे एक बंगाली भोलानाथ चन्द्र ने जो तीर्थ यात्राएं की उस का विवरण 'एक हिन्दू की यात्राए' (1869 में प्रकाशित) नामक पुस्तक में है। उनके वृत्तान्त से पता चलता है कि पातालपुरी का मन्दिर भी कुछ वर्षों तक जनसाधारण के दर्शन के लिए बन्द था और सैनिक अधिकारी उसे कोयला आदि भण्डारित करने के काम मे लाते थे। वट का वृत्तान्त उन्होंने इस प्रकार दिया है—'शुष्क दो नोक वाला वृक्ष दिखलाई पड़ा, जिस का सूखा हुआ तना कई सौ वर्षों से वहां विराजमान है। यही अक्षयवट या अमरवट है, जिस में आज भी रस तथा जीवन-तत्त्व है।'

प्राचीन लेखकों ने असली अक्षयवट की दो बड़ी शाखाओं का वर्णन किया था जो गंगा और जमुना की धाराओं पर झुकी हुई थीं। इस के आधार पर पण्डे लोग भी दो शाखाओं वाला तना पूजा के लिए स्थापित करते थे।

पातालपुरी मन्दिर सम्भवतः सन् 1845 के लगभग जनता के लिए बन्द कर दिया गया और बाबू भोलानाथ चन्द्र के अनुसार लगभग 1865 या 1866 में खोल दिया गया।

पातालपुरी मन्दिर में किसी वट काण्ड की अक्षयवट के रूप में पूजा की सम्पुष्टि हमें अनेक यात्रियों के द्वारा मिलती है। एक डच धर्मप्रचारक टिफेन थालर 1765 की फ़रवरी और सितम्बर में इलाहाबाद आये थे। भारत के भूगोल विषयक उन की जर्मन भाषा मे लिखी पुस्तक का फ्रांसीसी में अनुवाद हुआ। वे बताते है कि इस की शाखाएं दो समान भागों मे विभक्त है। इस में पत्तियां नहीं हैं, फिर भी इस मे रस है और यदि चाकू

रख कर आग जला दी गई। आग कई दिन जलती रही। कुछ समय के बाद जले हुए वृक्ष में से फिर नई शाखायें फूटी तो बादशाह चकित हो गया। इम्पीरियल गजेटियर मे भी जहांगीर द्वारा अक्षयवट को जलाने की बात लिखी है। नये खोजे गए वृक्ष पर जलाये जाने के चिन्ह भी है।

मौत का पेड़ : ह्यु्एन्त्सांग (सातवी शती ईस्वी पश्चात्) के भ्रमण वृत्तान्त मे प्रयाग का अक्षयवट मौत का पैगाम देने वाला पेड़ बन गया है। इस के नीचे वह मनुष्यो की हड्डियों का ढेर देखता है। पेड़ के ऊपर से कूद कर जो लोग अपने प्राण विसर्जन करते थे उन की देहों को नरभक्षी राक्षस खा जाते और हड्डियो का ढेर वहां छोड़ देते थे। धार्मिक भावनाओ से प्रेरित हो कर आत्म-घात करने के इरादे से लोग उस के ऊपर चढ़ जाते और अपने विश्वासों के आधार पर उन्हे दीखता कि 'स्वर्गीय ऋषि वायुमण्डल में बाजे बजाते हुए हमें बुला रहे है।' ऐसे पुनीत स्थान से गिर कर प्राण त्यागना धन्य समझा जाता था। स्त्रियों की सती प्रथा से इस प्रथा की तुलना की जा सकती है। ह्यु्एन्त्सांग के अनुसार वट से कूद कर प्राणोत्सर्ग करने की यह प्रथा बहुत पहले से प्रचलित थी।[1] शब्द रत्नावली में वट का एक नाम यम प्रिय भी मिलता है।

ह्यु्एन्त्सांग के कथन का समर्थन हमे पौराणिक साहित्य मे अनेक स्थलों पर मिल जाता है।

'प्रयाग माहात्म्य शताध्यायी' में कहा है कि मरने के बाद जो अपनी उत्कृष्ट गति चाहता है उसे इस वट के नीचे स्वेच्छा से या अनिच्छा से शीघ्र ही प्राण त्याग देने चाहिएं।[2]

कूर्म पुराण[3] के अनुसार इस वट मूल के नीचे प्राण त्यागने वाले स्वर्ग लोक से भी ऊपर रुद्रलोक में जाते हैं। पद्म पुराण और मत्स्य पुराण[4] ने भी इसी मान्यता का समर्थन किया है।

आत्मबोधन का साधन : छान्दोग्योपनिषद् के एक संवाद में श्वेतकेतु को आत्म ज्ञान देते हुए आरुणि बतलाते हैं कि जिस प्रकार न्यग्रोध फल के एक बीज के अन्दर महान् वृक्ष विद्यमान है किन्तु वह दीखता नही उसी प्रकार प्रकृति मे परमात्मा व्याप्त

---

1 ह्यु्एन्त्सांग का भ्रमण वृत्तान्त, पृ॰ 249-250। इण्डियन प्रेस, सन् 1929।

2 अकामो वा सकामो वा वटमूले मुनीश्वरः।
शीघ्रं प्राणान् प्रमुच्येत यदीच्छते परमा गतिम्॥
प्रयाग माहात्म्य शती, पूर्वार्द्ध, 110, 37; 16।

3 वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणान् परित्यजेत्।
स्वर्गलोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति॥
कूर्म पुराण, 1, 37; 8-9।

4 वटमूलं समासाद्य यस्तु प्राणान् विमुञ्चति।
सर्वलोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति॥
मत्स्य पुराण, अध्याय 104; 10।

है।[1] यह भाव अन्य उपनिषदों में भी इसी प्रकार आया है—वटबीज में जैसे महान् वृक्ष प्रतिष्ठित है उसी तरह जगत् का कारण अग्नि और सोम का रूप राम-बीज में प्रतिष्ठित है।[2] राम पूर्वतापिन्युपनिषद् में चराचर जगत् वटबीजस्थ महान द्रुम की तरह रामबीज में स्थित बताया गया है।[3] दत्तात्रेय उपनिषद् वटबीज में स्थित वृक्ष की तरह सारे जगत् को दत्तात्रेय में अवस्थित बताती है।[4] सर्वसारोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार वटकणिकाओं में वृक्ष विद्यमान होता है उसी तरह इन चारों कोशों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय) में आनन्दमय कोश रहता है।[5] आत्मतत्त्व के रहस्य का उद्घाटन करने वाली उपनिषदों में इसी प्रकार वटवृक्ष का अनेक स्थलों पर दृष्टान्त दिया गया है।

काव्यों में: वनस्पतियों में न्यग्रोध क्षत्रिय जाति का वृक्ष है। इस की तुलना राजा से की जाती है। राजा जैसे अपनी राजधानी में स्थिर रहता हुआ भी सारे राष्ट्र में घूमता रहता है उसी प्रकार न्यग्रोध भी यद्यपि एक स्थान पर स्थिर है परन्तु अपने अवरोहों से निरन्तर फैलता चला जाता है।[6]

रावण को सुग्रीव के सचिवों का बल दिखाते हुए शुक ने बताया है कि गंगा के तट पर पैदा हुए न्यग्रोध वृक्षों की तरह वे स्थिर हैं।[7] कालिदास (380-413 ईस्वी पश्चात्) ने भी वशिष्ठ आदि बूढ़े मन्त्रियों के चेहरे पर बढ़ी हुई दाढ़ियों की तुलना बरगद की जटाओं से की है। दाढ़ियों में बालों के गुच्छे आपस में लिपट कर बरगद की दढ़ियों की तरह चेहरों पर लटक रहे हैं।[8]

---

1 न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति? अण्व्य इवेमा धाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति? न किंचन भगव इति ॥ 1 ॥ तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ 2 ॥ छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक 6, खण्ड 12; 1-2।

2 अग्निषोमात्मकरूपं रामबीजे प्रतिष्ठितम्।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ॥ राम रहस्योपनिषद्, 5; 9।

3 कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमो गुणैः।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्। राम पूर्वतापिन्युपनिषद्, 2; 2।

4 वटबीजस्थमिव दत्तबीजस्थं सर्वं जगत्। दत्तात्रेयोपनिषद्, 1; 2।

5 एतत्कोशचतुष्टयं संसक्तं स्वकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदावर्तते तदानन्दमयः कोश इत्युच्यते। सर्व सारोपनिषद्, 1; 17।

6 क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः क्षत्रं राजन्यो वितत इव हीह क्षत्रियो राष्ट्रे वसन्भवति प्रतिष्ठित इव वितत इव न्यग्रोधोऽवरोहैर्भूम्यां प्रतिष्ठित इव। ऐतरेय ब्राह्मण, अ॰ 35, 5; 3।

7 न्यग्रोधानिव गाङ्गेयान्। रामायण, युद्धकाण्ड 6, खण्ड सर्ग 29; 2।

8 श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च।
प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ॥ रघु वंश, सर्ग 13; 71।

राजा भोज ने विश्व की एक न्यग्रोध से तुलना की है। वे कहते हैं कि घने श्यामल पत्तों वाले व्योम रूपी न्यग्रोध वृक्ष की नीचे आती हुई जटाएं, मानो वर्षा की धाराएं पृथ्वी पर आ लगी हैं।[1]

संस्कृत-साहित्य के प्राचीन कवियों ने इसे अतिशय शोभावान् वृक्ष की तरह वर्णन किया है। श्रीहर्ष (12वीं शती) के नैषध में पुष्करद्वीप का सौन्दर्य तो बरगद ही है जिस की शाखाओं और पत्तों का बड़ा छत्र आकाश से गिरने वाली धूप आदि से द्वीप को बचाता है। इतना बड़ा छाता अपने भार को अपने अवरोहो से स्वय उठा रहा है। इस के पके हुए लाल फलों की और नीले पत्तो की रक्त-नील द्युति से वह द्वीप जगमगा रहा था।[2]

हमारे देश की अन्य भाषाओं में भी वट की बड़ाई पर बहुत कविताएं लिखी गई हैं। नर्मदा का वट गुजरात के अनेक कवियों का प्रिय विषय रहा है। शान्त एकान्त द्वीप में खड़े उस महाकाय वट से इन कवियों ने शिव जी की तपश्चर्या का गान किया है। बरगद की जटाएं शिव जी की जटाओं से कितनी अधिक मिलती है।

योरोप के अनेक कवियों की प्रतिभा को बरगद की महानता, भव्यता और पवित्रता ने उद्बुद्ध किया है। मिल्टन की ये पंक्तियां देखिए :

So counselled he, and both together went
Into the thikest wood; there soon they choose
The fig-tree, not that kind for fruit renown'd;
But such as at this day, to Indians Known,
Ir Malabar on Deccan spreads her arms,
Branching so broad and long, that in the ground
The bended twigs take roots, and daughters grow
About the mother tree, a pillard shade
High over-arch'd, and echoing walks etween.[3]

विलियम्सन की 'प्राच्य क्षेत्र मृगया' (ओरियेण्टलफ़ील्ड स्पोर्ट्स, 2, 113) के विवरण के आधार पर लिखी साउदी (1810) की एक कविता इस प्रकार है :

---

1 घनश्यामलपत्रस्य व्योमन्यग्रोधशाखिन.।
प्ररोहा इव लक्ष्यन्ते वारिधारा धरागताः ॥ — चम्पू रामायण, किष्किन्धा काण्ड 29।

2 न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादेर्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः।
त तस्य पाकिफललली दलद्युतिभ्या द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम् ॥
नैषधीय चरित 11; 30।

3 Paradise Lost IX ,1101.
वार्टन ने संकेत किया है कि ये पंक्तियां लिखते हुए मिल्टन (1667) को जिरार्ड (Gerard) के वटवृक्ष का वर्णन अवश्य ध्यान में होगा।

In the midst an aged Banian grew.
It was a goodly sight to see
That venerable tree,
For over the lawn, irrigularly spread,
Fifty straight columns propt its lofty head;
And many a long depending shoot,
Seeking to strike its roots;
Straight like a plummet grew towards the ground
Some on the lower baughs which crost their way,
Fixing their bearded fibres, round and round
With many a ring and wild contortion wound;
Some to the passing wind at times with sway
Of gentle motion swung;
Others of younger growth, unmoved, were hung
Like stone-drops from the cavern's fretted heigh[1]

विनाशकारी वृक्ष पवित्र क्यों ?. पररोही उपज का वटवृक्ष एक विशिष्ट उदाहरण है। पुरानी दीवारों तथा वृक्षों पर पक्षियों द्वारा गिराये बीजों से सामान्यतया वृक्ष उद्भूत होता है। दून के जंगलों में प्रतीत होता है कि वट के पररोहण के लिए हल्दू अतिशय प्रिय पोषिता (होस्ट) है। किसी पक्षी द्वारा निकाला गया बीज पहले किसी पेड़ पर टिकता है और यहीं पर जम कर लम्बी जड़ें प्रकट हो जाती हैं जो शीघ्र ही मोटी तथा मजबूत हो जाती है और अन्त में अपने आश्रय-पादप का दम घोट देती हैं। दूसरों का विनाश कर के जीने वाला पेड़ भला पवित्र क्यों होगा ? शीतल छाया तथा सुखद आश्रय देना और असंख्य कीड़ों, पक्षियों पशुओं तथा प्राणियों को प्रचुर भोजन प्रदान करना—सम्भवतः ऐसे उपकारी कार्यों के कारण ही यह वृक्ष हिन्दू-धर्म में पवित्र माना जाता है।

बहुत से धार्मिक अनुष्ठानों का इस वृक्ष के साथ सम्बन्ध है। इस के नीचे दीक्षा दी जाती है।[2] प्राचीन काल मे गुरुजन अपने शिष्यों के साथ वटवृक्ष के नीचे ही डेरा डाल कर रहते थे।[3] इस विश्वास से इस को सींचा जाता है कि शाखा-प्रशाखाओं से जिस तरह यह खूब बढ़ जाता है उसी तरह पुत्र-पौत्रों से यह हमारी सदा वृद्धि करता

1 Southey (1810) Curse of Kehama, xiii, 51.
2 वटवृक्षाधो दीक्षा भवति। बृ० 1, उ. 2, प्रक. (राजेन्द्राभिधान में उद्धृत)।
3 वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

रहेगा ।[1] धर्मग्रन्थों में इस के पास श्मशान बनाने का निषेध किया गया है ।[2] मनु महाराज (200 ईस्वी पूर्व) ने क्षत्रिय को बरगद की लाठी रखने का आदेश दिया है ।[3] राज्याभिषेक में राजा का तीसरा अभिषेचन न्यग्रोध की जटा के बने पात्र से राजा का क्षत्रिय मित्र करता था । सूखी शाखाएं पवित्र समझी जाती हैं और यज्ञाग्नि में समिधाओं के रूप में काम आती हैं । सुजाता ने तपस्वी सिद्धार्थ को बरगद का देवता समझ कर खीर दान की थी । बुद्धवंश के अनुसार गौतम बुद्ध से पहले जो बीसवें बुद्ध हुए थे उन का बोधिवृक्ष बरगद था । बरगद के नीचे तप करते हुए उन्होंने ज्ञान पाया था । उस समय यह पवित्र माना जाता था और इस की पूजा होती थी ।[4]

आयु, आरोग्य, सौभाग्य, सम्पत्ति और सन्तति की कामना से जो नारी वट-सावित्री का व्रत रखती है अथवा इन की सिद्धि के लिए उद्यापन करती है उसे यथेष्ट फल मिलता है ।[5] इस की पूजा करने से स्त्रियों का सुहाग बढ़ता है; पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों से उन के कुल की वृद्धि होती है ।[6] सन्तान और सब प्रकार की सम्पत्ति को बढ़ाता है ।[7]

पद्म पुराण के अनुसार वट रुद्र का रूप है ।[8] श्रीहर्ष (12वीं शती) ने न्यग्रोध

---

1 वट सिञ्चामि ते मूलं सलिलैरमृतोपमैः ।
यथा शाखाप्रशाखाभिः प्रवृद्धोऽसि महीतले ।
तथा पुत्रैश्च पौत्रैश्च प्रवृद्धा कुरु मां सदा ॥ जयसिंह कल्पद्रुम ।

2क न भूमिपाशमभिविद्ध्यात् ।·· न न्यग्रोधस्य ··॥ शतपथ ब्राह्मण 13, 8, 2; 16 ।

ख आरात्यः ॥ न्यग्रोधाश्वत्थतिल्वकहरिद्रु स्फूर्जकविभीदकपापनामभ्यश्च ॥
कात्यायन श्रौतसूत्र, अ. 21, कं. 3; 19-20

3 ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवोदुम्बरौ वैश्यः दण्डानर्हन्त् यथा क्रमम् ॥ मनुस्मृति

4 नैयग्रोधपादं भवति । तेन मित्र्यो राजन्योभिषिञ्चति पद्भिर्वैन्यग्रोधः प्रतिष्ठितो मित्रेण वै राजन्यः प्रतिष्ठितस्तस्मान्नैयग्रोधपादेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति ।
शतपथ ब्राह्मण, 5, 3; 5-13

5 आयुरारोग्यसौभाग्यसंपत्सन्ततिकाम्यया ।
या नारी वटसावित्री व्रतमत्र करिष्यति ॥
गृहीत तत्र सिद्ध्यर्थमुद्यापनमथापि वा ।
यथाशक्ति यथावित्त सा तत्फलमवाप्स्यति ॥
प्रयाग माहात्म्य शतो पूर्वार्द्ध, 214, 72; 46-47 ।

6 पुत्रपौत्रप्रपौत्राश्च कुलवृद्धिः प्रजायते ।
सौभाग्यं लभते नारी पूजनाज्जन्मजन्मनि ॥ प्रयाग माहात्म्य शतो पूर्वार्द्ध, 214, 72; 32 ।

7 यान्यानभीप्सते कामांस्तान्सर्वान् प्रदहात्यसौ ।
सन्तानवर्धनं चापि सर्वसंपत्करोति च ॥ प्रयाग माहात्म्य शतो पूर्वार्द्ध, 214, 72; 34 ।

8 रुद्ररूपो वटस्तद्वत्······················
दर्शनस्पर्शन सेवासु ते वै पापहराः स्मृताः ।
दुःखापद्व्याधिदुष्टानां विनाशकारिणो ध्रुवम् । पद्मोत्तर खण्ड, अ. 160 ।

है। यह शब्द जड़ों के इस गुण को सम्यक्तया सूचित करता है। इस का अर्थ है 'वह वृक्ष जो अपनी जड़ों से दूसरों को अच्छी तरह लपेट ले (वटति वेष्टयति मूलेन इति वट:)।'

हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास ऐसे आवाञ्छनीय स्थितियो मे भी उगे हुए पौदो को नष्ट करने से रोकते है। पवित्र होने से वे इसे कभी नही काटेंगे। गैम्बल (1902) आदि वन के अधिकारी बताते है कि धार्मिक भावनाओ के कारण अनेक बार बरगद के पेड़ कटवाने के लिए श्रमिक मिलने कठिन हो जाते है। मद्रास एन्जीनियर्स के थौमस मार्स्डेन (1771) ने अपने सस्मरणो मे एक अजीव आपबीती लिखी है—'त्रिपलासोर (बाद मे इसे Marsden's Bastion कहते थे) के किले पर एक सैनिक कार्य का का निर्माण करने के लिए मैं नियुक्त था। बरगद के एक पेड़ को कटवाना आवश्यक हुआ। वहा के ब्राह्मण इस से इतने उत्तेजित हो गए कि उन्होंने मुझे विष देने की ठान ली।' इस प्रकार इस इन्जीनियर को अकाल मे ही मौत की झाकी मिल गई।

गैम्बल (1902) आदि विद्वानो ने जगलो मे से इस का सफाया करने के लिए यह युक्ति दी है कि जंगलो मे यह व्यर्थ ही बहुत-सी जगह घेरे रहता है और लकड़ी की दृष्टि से यह व्यापारिक महत्त्व का पेड़ नही है, इसलिए इसे काट गिराना चाहिए और अधिक मूल्यवान् वृक्षो को उस जगह पर पनपने का अवसर देना चाहिए।

तने के बिना भी बढ़ रहा है: ताड़ और खजूर के वृक्षो पर लिपटे हुए बरगद तथा पीपल के पेड़ प्राय: दीख पड़ते है। इस का कारण यह है कि इन के पत्तो के आधार पर एक प्राकृतिक प्याला-सा बन जाता है, जिस मे बीज को टिकने और उगने मे अनुकूलता होती है। अन्ततोगत्वा ये आश्रयदाता को पूर्णतया आवद्ध कर लेते है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लेते है। कलकत्ता की राजकीय वनस्पति वाटिका मे ससार के सब से महान् वटवृक्षो मे से जो बरगद है उस के सम्बन्ध मे भी फ़ाल्कोनर (Falconer) ने निर्णीत किया था कि वह भी इसी तरह एक खजूर के वृक्ष पर पड़ने से सन् 1782 में उद्भूत हुआ था। फ़ाल्कोनर ने 1834 मे, हूकर ने 1847 मे तथा बैल्फूर ने 1863 में इस की परीक्षा की थी और इस के नाप आदि लिए थे। 1863 मे इस का फैलाव 92 मीटर और ऊंचाई 24 मीटर थी। 1864 और 1867 के अन्धड़ो मे इस ने बहुत क्षति उठाई। बाद में इस ने क्षतिपूर्ति कर ली। 1886 मे इस का फैलाव 260 मीटर हो गया था और इस के तने की गोलाई 12.60 मीटर थी। 1900 के नवम्बर मे डौक्टर प्रेन ने इस के नाप ये बताए थे—उत्तर-दक्षिण में 86.40 मीटर, पूर्व-पश्चिम मे 90 मीटर, तने की परिधि 15.30 मीटर, मुकुट की परिधि 285.40 मीटर, ऊंचाई 25.50 मीटर, जटाओ के तनों की संख्या 464। इस का केन्द्रीय मूल तना अब मर चुका है। मुख्य तने के बिना ही यह केन्द्र से बाहर की ओर फैल रहा है। इस से प्रतीत होता है कि जटा के जमीन मे गढ़ जाने के बाद प्रत्येक बड़ी शाखा और उसकी जटा मिल कर एक स्वतन्त्र वृक्ष बन जाते हैं, जिन्हें अपने जनक स्कन्ध से पोषण लेने की विशेष आवश्यकता नही।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि एक ही वृक्ष के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न समयों में फूलते हैं और पर्ण उत्पन्न करते हैं। इस तथ्य से यह माना जाना चाहिए कि सैकड़ों जटाओं वाला सम्पूर्ण वृक्ष एक ही पौदे से उद्भूत नहीं है, अपितु रोपण (grafting) से मिलती-जुलती एक प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा अलग-अलग पौदे मिलकर एक साथ उग रहे हैं।

बीस हजार लोगों का घर : कलकत्ते वाले वृक्ष से भी बड़े वटवृक्ष भूतकाल में अनेक स्थानों पर विद्यमान थे। 1882 में सतारा के बरगद के बारे में वार्नर ने लिखा था कि यह वृक्ष कलकत्ते के वटवृक्ष से कहीं बड़ा है। इस की परिधि 484 मीटर थी। मुख्य तने से उत्तर-दक्षिण में यह 153.50 मीटर तथा पूर्व-पश्चिम में 134.60 मीटर तक चला गया था।

आन्ध्र घाटी में एक प्रसिद्ध वृक्ष 610 मीटर की परिधि में फैला हुआ था जिस के तीन हजार से अधिक तने या वायव्य मूलें थी। इस की छाया के नीचे बीस हजार लोग आश्रय ले सकते थे। हमारे देश के दसियों गांवों की आबादी को मिलाने से यह बड़ी संख्या बनती है। पुराकाल में जंगलों के अन्दर रहने वाली यक्ष, गन्धर्व आदि जातियां वास्तव में वटवृक्षों को घर बनाकर रहती थीं।[1] सिद्ध पुरुष इनकी शीतल छाया में निवास करते थे और राहगीर अक्सर इस के नीचे पड़ाव डाल लिया करते थे।[2]

सामरिक कार्यों के लिए : बेन जोनसन (1624) ने अपनी कविता में सारे वृक्ष को ऐसी ड्योढी के सदृश समझा है जो कई सेनाओं की छावनी बन सकता है।[3]

एक सेना के प्रयाण के समय कबीर के बरगद ने सात हजार आदमियों को आश्रय दिया भी था। सामरिक कार्यों के लिए न्यग्रोध का उपयोग करने के अन्य उदाह-

---

1 एते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः। — शतपथ ब्राह्मण 1, 5, 4, 1।

2 ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम्।
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्याम सिद्धोपसेवितम्॥
तस्मिन्सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषो कियाम्।
समासाद्य च त वृक्ष वसेद्वाति क्रमेद् वा॥

रामायण, अयोध्या काण्ड 2. सर्ग 55; 6-7।

3 '...The goodly bole being got
To certain cubits' height, form every side
The boughs decline, which, taking root afresh,
Spring up new boles, and these spring new and newer,
Till the whole tree become a porticus,
Or arched arbour able to receive
A numorous troop.'

Ben Jonson, *Neptune's Triumph*.

रेण भी मिलते हैं ।[1] युद्ध क्षेत्र में श्रान्त वीरो के विश्राम करने के लिए न्यग्रोध वृक्ष उचित आश्रय समझा जाता था। घायल हो जाने पर दुर्योधन को न्यग्रोध के नीचे ले गए थे, जिस से तालाब के कमलों को हिंडोले देने वाली सुगन्धित शीतल-समीर से मन्द-मन्द हिलते हुए बरगद के कोमल तथा घने पत्तों की छाया में मूर्छा दूर हो जाय। सीता को ढूंढने के लिए हनुमान जब अशोक वाटिका मे गए तो वे श्रीकृष्ण की तरह न्यग्रोध के पत्तो में छिप गए थे।[2] यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण में अश्व की न्यग्रोध से रक्षा करने का विधान मिलता है।[3] निश्चय ही थके-मादे घोड़े के लिए न्यग्रोध की छाया श्रमहर का कार्य करती होगी।

तीन हजार तनों वाला बरगद : नर्मदा का बरगद भी ऐतिहासिक संस्मरणो का वृक्ष बन गया है। विदेशी पर्यटको के लिए यह बड़े कुतूहल की चीज थी। अठारहवी शताब्दी के यूरोपियन उसके नीचे समूचा दिन बिताने में आनन्द मानते थे। हमारे देश मे रहने वाले यूरोपियन शासक उन्नीसवी शताब्दी मे भी उस की शीतल छाया, विशालता और भव्यता का निमन्त्रण स्वीकार करते थे और अपने आमोद-प्रमोद के समयो मे वहां जाते थे। बीसवी सदी के आरम्भ की इंगलिश रीडरों मे इस महान् वट पर एक पाठ था। भड़ोंच से कोई बीस किलोमीटर उत्तर-पूर्व में नर्मदा के एक द्वीप मे यह खड़ा था। अप्रैल 1825 में हेबर नामक पादरी ने इसे संसार के सबसे बड़े कुञ्जों मे गिना था, यद्यपि तब यह बहुत-कुछ बहाया जा चुका था। सन् 1834 में फ़ोर्ब्स ने अपने 'प्राच्य संस्मरणों' (ओरिएन्टल मेमोयर्स, दूसरा संस्करण, 1; 16) मे इस का निर्देश किया है। वे लिखते हैं—'इस असाधारण वृक्ष के बड़े भाग को ऊंची बाढों ने बहा दिया है। परन्तु अब भी जो कुछ वहा विद्यमान है वह परिधि में 610 मीटर के आस-पास है। मुख्य तने के चारो ओर की दूरी का यह नाप है। इसके नीचे शरीफ़े तथा दूसरे फलो के अनेक वृक्ष उगे हुए है। इस एक ही पेड़ के बड़े तने तीन सौ पचास है और छोटे तनो की सख्या तीन हजार से ऊपर पहुंचती है।' फ़ोर्ब्स का यह वर्णन क्षतविक्षत वृक्ष का है। जब यह पूर्ण अवस्था में होगा तो कल्पना कीजिए कि आन्ध्र-घाटी के बरगद से कितना विस्तृत होगा और कितने लोगों तथा पशु-पक्षियो को आश्रय और भोजन देता होगा।

1908 (दि इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ इण्डिया, जिल्द 9, 1908, पृष्ठ 19) में इस की यह ख्याति नही रही थी, यह नष्ट हो चुका था।

कबीर की दातुन से उद्भूत : नर्मदा के बरगद के बारे में फ़ोर्ब्स ने कहा था कि एक प्राचीन हिन्दू सन्त के नाम से यह प्रसिद्ध है। पी देल्ला वाल्ले हैकलुएट सोसा-

---

1 अये, अयमसौ सरसीसरोजविलोलनसुरभिशीतलमातरिश्वसवाहितसान्द्रकिसलयो न्यग्रोधपादपः। उचिता विश्रामभूमिरियं समरव्यापारखिन्नस्य वीरजनस्य. — बेणी सहार, अक 4।

2 तत्र तत्पत्रसंच्छन्नगात्रः पुत्रो नभस्वतः।
न्यग्रोधदलसंलीन. जनार्दनदशां दधौ ॥ — चम्पू रामायण, सु.. कां.; 16।

3 न्यग्रोधश्चमसैः (अवतु) — यजुर्वेद, अ. 23; 13।

इटी, 1, 35) ने 1623 में इस बरगद का बड़ा रोचक और विस्तृत वर्णन किया है और ग्रे ने इसी को कबीर का बरगद बतलाया है। कोपलैंड ने 1818 में (Tr. Lit. Soc. Bo.i. 290) हिन्दुओं में प्रसिद्ध इस लोकवार्ता का जिक्र किया है कि महात्मा कबीर ने एक दिन दांत साफ करके दातुन को जमीन में गाड़ दिया। अकस्मात् वह जड़ पकड़ गई और इस विशाल रूप को धारण कर गई। 1672 में फ़ायर के उल्लेख से पता चलता है कि सूरत के बरगद की वाकायदा पूजा होती थी। 1726 में इस के नीचे एक मन्दिर खड़ा था जो किसी बनिये ने बनवाया था। वालेन्तिज्न (1726) ने देखा था कि 'दिन-रात वहां जोतें जागती हैं और इस देव को अर्घ्य समर्पण करने के लिए बनियों की धार्मिक टोलियां निरन्तर आती रहती हैं।'

अनन्त विस्तार : वनस्पति जगत में पर्ण की सब से बड़ी मूर्धा वास्तव में भारतीय वटवृक्ष बनाता है। इतना विशाल और विस्तृत वृक्ष अपनी भारी भरकम शाखाओं के बोझ को कैसे सभाले? प्रकृति ने इस का प्रबन्ध बड़ा सुन्दर किया है। शाखा जब बड़ी हो जाती है तो उस में एक वायव्य जड लटक पडती है जो नीचे की ओर बढ़ती हुई जमीन मे धंस जाती है। शाखा के बोझ को संभालने में यह अब एक खंभे का काम करती है। इन जटाओं (वायव्यो मूलों) से बने खम्भों का एक घेरा मूल तने के चारों ओर बन जाता है। शाखा जब और आगे बढती है और अपना भार संभालने में अपने को असमर्थ पाती है तो फिर वायव्य जड़ छोड़ देती है जो पहले की तरह धरती तक पहुंच जाती है। इस प्रकार खम्भो के एक नए घेरे की सृष्टि हो जाती है। धरती मे पहुंची हुई जटायें, मुख्य तने से बहुत दूर चली गई शाखाओ को सीधा पोषण देना शुरू कर देती हैं। दीर्घ और भीमकाय सैंकड़ों शाखाओ को मुख्य तना स्वयं ठीक तरह पोषण पहुंचाने में असमर्थ था, इसलिए नया प्रबन्ध बड़ा संतोषजनक रहता है। शाखाओं के बढ़ने और जटाएं छोड़ने का क्रम कभी समाप्त नही होता। इस प्रकार यह वृक्ष अपना असीमित विस्तार करता जाता है। इसीलिए बरगद अनन्तता का प्रतीक समझा जाता है।

बनियों का वृक्ष : पर्शिया के समुद्र तट पर ओरमुज़ (Ormuz) शहर के पास गोम्ब्रून में 1623 में पी. डेल्ला वाल्ले (हैक्लुएट सोसाइटी, 1, 35) ने एक बरगद देखा था। पर्शियन लोग इसे लूल कहते थे। टैवर्नीर (1650) के अनुसार उस द्वीप में बरगद का एक ही पेड़ उग रहा था। वालेन्तिज्न (Valentijn, 1691) जब इसे देखने गया था तो उस के साथ बनियों ने एक देवालय खड़ा कर लिया था जिस मे प्रतिष्ठित मूर्ति की वे पूजा किया करते थे। व्यापार के लिए देशाटन करने वाले हिन्दू बनियो का यह अड्डा बन गया था। बनियों का निवास होने से पर्शिया की खाड़ी में उगे हुए इस वटवृक्ष को लोग 'बनियों का वृक्ष' कहने लगे। तभी से अंग्रेज़ीसाहित्य में बरगद के लिए सामान्य नाम 'बनियन ट्री' पड़ गया। इस से पहले के साहित्य मे हमे यह नाम नही मिलता। प्लीनी (70 ईस्वी पश्चात्) ने बरगद को 'भारतीय प्रोदुम्बर वृक्ष' (इण्डियन फिग ट्री) नाम दिया है।

पर्शिया की खाड़ी वाला 'बनियो का वृक्ष' 1758 में भी आंग्ल-कारखाने के पास आधा मील के अन्दर ही खड़ा था। एडवर्ड आइव्स (ए वौयेज फ्रौम इंगलैण्ड टु इण्डिया इन दि इयर 1754-1773) ने उसे देखा था। इंगलैण्ड की एक महिला टिकेल (1717) द्वारा लिखित और एविग्नोन को भेजी यह कविता उस ने उद्धृत की थी :

The fair descendents of thy sacred
Wide-branching o'er the Western World shall spread,
Like the fam'd Banian, Tree, whose pliant shoot
To earthward bending of itself takes root,
Till like their mother plant ten thousand stand
In verdant arches on the fertile land;
Beneath her shad the tawny Indians rove,
Or hunt at targe through the wide-echoing grove.

भेद : रामायण में बरगद के विभिन्न नामों के लिए चार शब्द आये हैं— न्यग्रोध, श्याम न्यग्रोध, वट और भाण्डीर। प्रयाग में कालिन्दी के पास जो बरगद था उसे वाल्मीकि (रामायण, अयोध्या काण्ड 2, सर्ग 55; 6 और 23) ने 'श्यामन्यग्रोध' लिखा है। पम्पा के किनारे जो बरगद थे उन के लिए रामायण (अरण्य काण्ड 3, सर्ग 75; 23) में वट और भाण्डीर नाम मिलते है। चरक में भाण्डीर शब्द नहीं आया है। सह्य पर्वत पर बरगद के जिन वृक्षों पर बन्दर आनन्द मनाते थे उन का केवल न्यग्रोध नाम से ही उल्लेख हुआ है।[1] मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि केवल छन्द की सुविधा के लिए नहीं अपितु जानबूझ कर अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया गया है और वाल्मीकि ऋषि बरगद के ये चार भेद स्पष्ट रूप से जानते थे। बाद के संस्कृत लेखकों ने इन भेदों को एक दूसरे के साथ मिला दिया था और यहां तक कि वट तथा न्यग्रोध शब्द को पर्याय-वाची नाम समझने लगे थे। वनस्पतिशास्त्र के आधुनिक विद्वानों ने बरगद के कई स्पष्ट भेदों का पता लगाया है। सब से मुख्य भेद जटाओं का है। कुछ में जटाएं बहुत कम होती हैं या होती ही नहीं। चरक के टीकाकार चक्रपाणिदत्त के अनुसार इस भेद को वट कहना चाहिए और जटाओं वाले बरगद को न्यग्रोध।[2]

पत्तों में भी कुछ भिन्नताएं हैं। एक सुन्दर भेद के नये पत्ते आरक्त (reddish) होते हैं और वसन्त में जब अभिनव पर्ण प्रकट होते हैं तो वृक्ष को सुन्दर ताम्रवर्ण में परिवर्तित कर देते हैं।

---

1 अशोकांश्च करञ्जांश्च प्लक्षन्यग्रोधपादपान्।
जम्बूकामलकान्नागान्भजन्ति स्म प्लवगमाः॥ रामायण युद्धकाण्ड 6, सर्ग 4; 72।

2 चरक, चिकित्सा स्थान, अध्याय 3, श्लोक 258 की चक्रपाणिदत्त की टीका इस प्रकार है—
निष्प्ररोहो वटः न्यग्रोधस्तु प्ररोहवान्।

नदीवट नाम : नरहरि पण्डित (1235-50 ईस्वी पश्चात्) ने बरगद का एक भेद नदीवट लिखा है। संस्कृत में इसके आठ नाम इस प्रकार हैं—नदी वट (नदियों के किनारे होने वाला बरगद); वटक, वटी (छोटा बरगद); क्षीर काष्ठा (जिस की लकड़ी मे दूध निकलता है); सिद्धार्थ (सिद्ध लोगों द्वारा चाहा जाने वाला); अमरा जो कभी मरता न हो); सगिनी (दूसरों के साथ उग आने वाला वृक्ष)। यज्ञवृक्ष(यज्ञ मे काम आने वाला वृक्ष)।

कृष्ण वट : बरगद (फिकुस बंगालेन्सिस) का एक असाधारण प्रकार कृष्ण-वट है। वनस्पति-शास्त्र के आधुनिक विद्वानों ने जिसे कृष्ण वट या कृष्ण न्यग्रोध माना है वह पत्तों के रग-भेद के कारण नहीं अपितु रचना भेद के कारण माना है। कलकत्ते के बगीचों मे यह कदाचित् मिल जाता है। हरिद्वार के आस-पास नहीं मिलता। वन अनुसधान-शाला, देहरादून की वाटिका मे इस के वृक्ष विद्यमान हैं। इस भेद में आधार के पास पत्ते नीचे की ओर घूम जाते हैं जिस से दोने के आकार की या प्यालीनुमा रचना बन जाती है। संस्कृत मे इस रचना को पुट कहते है। भागवत् (नवीं शती ईस्वी पश्चात्) तथा दूसरे मध्यकालीन साहित्य मे वट के इसी पुट में श्रीकृष्ण के सोने की कल्पना की है।[1] इसी से इस भेद का नाम कृष्ण वट पड़ गया था। इस सम्बन्ध में दूसरी प्रचलित आख्यायिका के अनुसार भगवान् कृष्ण ने इन पत्तों को प्याले का रूप दे दिया था जिस से पीने के काम आ सकें। सन् 1901 मे डि कैण्डोल ने इस वृक्ष को पृथक् जाति वर्णन किया था और श्रीकृष्ण के नाम पर ही इस का वैज्ञानिक नाम फ़िकुस कृष्णी (*Ficus krishnae* C de C.) अर्थात् कृष्णवट रखा था। परन्तु 1935 (करेण्ट साइन्स, जि. 3, सं. 9, मार्च 1935) में कलकत्ते के राजकीय वनस्पति-उद्यान के अधीक्षक के. विश्वास ने दिखाया था कि यह वृक्ष बरगद (फिकुस बंगालेन्सिस) के एक भेद के सिवाय पृथक् जाति नहीं है।

रासायनिक संघटन : फल के एक सूखे नमूने का संघटन यह है :—जल 11.4 प्रति शत; श्वित्याभ (एल्ब्युमिनॉयड्स) 7.1 प्रति शत; तेल 4.0 प्रति शत; प्रांगोदीय (कार्बोहाइड्रेट्स) 35.2 प्रति शत; रेशे 36.8 प्रति शत; राख 5.5 प्रति शत।

कलकत्ते में इकट्ठा किये गए ताजे फलों के एक नमूने को अंशतः सुखा कर विश्लेषण किया गया। इस का संघटन यह था : जल 12.9 प्रति शत। श्वित्याभ 8.1 प्रति शत, इस में नेत्रजन 2.31 प्रति शत थी। तेल 6.1 प्रति शत, प्रांगोदीय 35.5 प्रति शत, इसमें रंजक पदार्थ 7.7 प्रति शत था। रेशा 31.0 प्रति शत, राख 6.4 प्रति शत, इसमें सिलिका (सैकजा) 0.35 और प्रस्फुरक अम्ल 0.53 प्रति शत थे।

1क तस्मिन् पृथिव्यां ककुदिप्ररूढं वटं च तत्पर्णपुटेशयानम्।
तोकं च सप्रेमसुधास्मितेन निरीक्षितोऽपांगनिरीक्षणेन ॥ भागवत्, स्कन्ध 12।

ख करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि ॥

सुषविक निस्सार (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) में एक मधुमेय (ग्लूकोसाइड) और अत्यल्प अम्ल होते हैं परन्तु शल्कि (टैनीन) या क्षाराभ (एल्कलोयड) का पर्याप्त परिमाण नहीं होता। गहरे नीलारुण (purple) क्षारीय घोल से आरक्त वभ्रु (reddish brown) निक्षेप के रूप मे रंजक पदार्थ निक्षिप्त हो जाता है जो सूख कर प्राय. काला चूर्ण बन जाता है। हूपर (1906-1907) ने आक्षीर (latex) की फुट्टियों (*clots*) मे 76 तथा 82 प्रति शत रुयास (resin) और शुद्ध घृषि (caoutchouc) केवल 12 और 21 प्रति शत पाई।

गुण : आयुर्वेद के विद्वानों के अनुसार वट शीतल, रूक्ष, कसैला, मीठा, भारी, ग्राही, स्तम्भक, कफपित्तहर; योनि के विकारो को दूर करने वाला, रङ्ग निखारने वाला; ज्वर, दाह, उलटियां आना, बार-बार प्यास लगना, बेहोशी, खून बहना आदि कष्टों को हरने वाला; विसर्प, व्रण और शोथ को ठीक करने वाला है।

नदी वट के गुण : छोटा बरगद या नदीवट कसैला, मीठा, ठण्डा, पित्त को हरने वाला, प्यास तथा दाह को शान्त करने वाला, थकान उतारने वाला, बलटियां, दस्त और सांस के कष्टों को हटाने वाला है।

यूनानी द्रव्यगुण विज्ञान में बरगद पहले दर्जे मे शीत और दूसरे दर्जे मे खुश्क है। बरगद का दूध तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है।

राजाओं का भोजन • नये अकुर, कोमल पत्ते और फल अकाल के दिनों में कहीं-कहीं खाये जाते हैं। पुराकाल में फल और जटाओ के कोमल अंकुर राजाओ और क्षत्रियों का भोजन था। क्षात्र गुणों का आधान करने के उद्देश्य से सोमरूप मे इन का सेवन किया जाता था। यह समझा जाता था कि 'यज्ञ करता हुआ जो क्षत्रिय न्यग्रोध के अवरोहों तथा फलो को खाता है वह वनस्पतियों में से क्षत्रत्व को अपने में स्थापित कर रहा होता है। जैसे न्यग्रोध अपने अवरोधों द्वारा भूमि में प्रतिष्ठित रहता है वैसे ही राजा राष्ट्र मे प्रतिष्ठित रहता है। उस का राष्ट्र तेजस्वी बनता है। उस राष्ट्र मे कोई गड़बड़ी नहीं कर सकता।[1] 'जो क्षत्रिय न्यग्रोध के अवरोहों को और फलो को खाता है वह अपना उचित भोज्य खा रहा होता है। न्यग्रोध के रूप में वह सोमपान कर रहा होता है।[2]

---

1 तद्यत्क्षत्रियो यजमानो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि च भक्षयत्यात्मन्येव तत्क्षत्रं वनस्पतीना प्रतिष्ठापयति क्षत्र आत्मानम्। क्षत्रे ह वै स आत्मनि क्षत्र वनस्पतीनां प्रतिष्ठापयति न्यग्रोध इवावरोधैर्भूम्यां प्रति राष्ट्रे तिष्ठत्युग्र हास्य राष्ट्रमव्यथ्यं भवति य एवमेत भक्ष भक्षयति क्षत्रियो यजमानः ॥ ऐतेरय ब्राह्मण अ. 35, ख. 5; 31।

2 एष ह वाव क्षत्रिय. स्वाद्भक्षान्नैति यो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फल नि च भक्षयत्युपाह परोक्षेणैव सोमपीथमाप्नोति नास्य प्रत्यक्ष भक्षितो भवति परोक्षमिव ह वा एष सोमो राजा यन्न्यग्रोधः परोक्षमिवैष ब्रह्मणो रूपमुपनिगच्छति यत्क्षत्रियः पुरोधयैव दीक्षयैव प्रवरेणैव।

ऐतरेय ब्राह्मण, अ. 35 ख. 5; 31।

उपयोग : पत्तों से पत्तलें बनती है। शाखाएं और पत्ते ढोरों के लिए अच्छा चारा है। हाथी का उपयोगी भोजन होने से कुछ स्थानों पर इसे काटना मना है। कहा जाता है कि बरगद के लाल फल घोड़ों के लिए विषैले होते हैं।

छाल से और लटकने वाली वाल जड़ों से स्थूल तन्तु प्राप्त किया जाता है जो मन्दमाचिसों में और रज्जु-निर्माण में काम आता है। असामी लोग छाल से एक प्रकार का कागज तैयार करते है।

बरगद के दूध मे चौथाई भाग सरसों का तेल मिला कर पकाने से एक चिप-चिपा लेस बन जाता है जिसे चिड़ीमार पक्षियों को पकड़ने के काम में लाते है। घटिया किस्म के रबड़ बनाने में दूध का प्रयोग होता है।

बरगद पर से कभी-कभी लाख इकट्ठी की जाती है। वैदिक काल में यह लाख का अच्छा स्रोत रहा होगा क्योंकि अथर्ववेद (काण्ड 5, सूक्त 5; 5) के एक मन्त्र में लाख पैदा करने वाले पिलखन, पीपल, खैर आदि वृक्षों के साथ इसे भी गिनाया है।

मुख्य तने की लकड़ी रन्ध्री (porus), धूसर (grey), मामूली कठोर और पानी के अन्दर टिकाऊ है। कूप निर्माण मे यह काम आती है। साधारण उपस्कर(फ़र्नीचर), मंजूषाओं, झोपड़ियों के द्वारों, द्वारपट्टों, मूसलों, शकट डण्डों, जूओं आदि में भी इसे बरत लेते है। सावधानी से काटा और संशोषण (season) किया जाए तो इस के वयन (grain) अच्छे बनते है। तब इसके बनाये उपस्कर बुरे नही रहते। पर्याप्त टिकाऊ न होने से इस की अधिक मांग नही है। प्रति घन फुट 0.028 घन मीटर का भार लगभग 16.65 किलोग्राम होता है।

जटाओं की तथा जटाओं से बने तनों की लकड़ी मुख्य तने की लकड़ी की तुलना में अधिक कठोर है। वायव्य टेकनें तम्बुओं की टेकनों के लिए, पालकियों और बंहगियों के डंडों के लिए, गाड़ी के जूओं के लिए, हाथ के डण्डों के लिए और छतरियों के हत्थों के लिए विशेष रूप से पसन्द की जाती हैं। विशिष्ट समारोहों के लिए बनाए जाने वाले छत्रों के हत्थों के लिए जटाएं विशेष रूप से अच्छी मानी जाती है।

चिकित्सा में उपयोग : भारतीय चिकित्सक बरगद का किस तरह उपयोग करते हैं, यह आगे बतलाया गया है। मलय में यह वृक्ष अधिक नहीं होता; इसलिए भारत की तरह वहां इस के चिकित्सोपयोग ज्ञात नहीं हैं।

गर्भ के लिए हितकर : रजस्वला होने पर बरगद की जटा को पीस कर पुष्य नक्षत्र के शुक्ल पक्ष में खा लिया जाय तो बांझ औरत को भी गर्भ ठहर जाता है। पुंसवन कर्म मे गर्भवती स्त्री को बरगद का सेवन कराने की विधि चरक ने यह बताई है— गौओं के बाड़े में पैदा हुए बरगद की पूर्व और उत्तर की शाखाओं से दो उत्तम अंकुर लेकर उड़द के दो बढ़िया दानों या सफेद सरसों के दानों के साथ दही मे डाल कर पुष्य नक्षत्र में पिलाएं। जिन्हें गर्भपात की आशंका रहती है वे बरगद की छाल, कोपल या जटा को पानी मे घोंट कर पी लें तो लाभ होगा। गर्भिणी को चौथे महीने यदि खून आता

दिखाई दे तो चरक ने बताया है कि कोमल बिछौने पर लिटा कर बरगद आदि के खूब ठंडे काढ़े से उसे नाभि के नीचे सब जगह परिषेक करना चाहिए। बरगद आदि के नव-पल्लवो से पकाये हुए दूध या घी में तर फोये को योनि मे धारण करना चाहिए और इन्ही को छह ग्राम से बारह ग्राम तक खिलाना चाहिए। पथ्य में बरगद के अंकुरो को बकरी के दूध के साथ पिला देना चाहिए। ऐसा करने से गर्भ ठहर जाता है। कोपलो के काढ़े में दूध और मीठा मिला कर गर्भस्थापक ओषधि के रूप में दिया जाता है। गर्भपात की सम्भावना प्रतीत होने पर झट दे देने से बड़ा लाभ करता है।

प्रदर : छाल या कोंपलों का काढ़ा ग्राही तथा शीतल है और रक्त प्रदर आदि में दिया जाता है। इसमें दूध मिलाकर और चीनी से मीठा करके भी दे सकते हैं। बर-गद की जटा के काढ़े और कल्क में पकाये घी को रक्तप्रदर में पिलाना श्रेष्ठ होता है। श्वेतप्रदर में बरगद की छाल के काढ़े के साथ लोध का कल्क पीना चाहिए। छाल का काढ़ा जिसमें दस प्रति शत टैनीन (शल्कि) होता है, श्वेतप्रदर मे संकोचक प्रक्षालन द्रव के रूप में बरतने से लाभ होता है। बरगद की जटा के लेप करने से स्तन कठोर होते हैं।

पेट के रोग : बरगद के कोपलों को या जटा को चावलों के माण्ड से पीस कर लस्सी के साथ पी जाएं तो दस्तों के कष्ट से छुटकारा मिल जाता है। हाथी के अनीमा में बरगद और पीपल का प्रयोग अधिक होता है। शल्कि (टैनीन) की बड़ी प्रतिशतकता के कारण बालकलिकाओं का फाण्ट अतिसार और प्रवाहिका (पेचिश) मे उपयोगी है। बरगद की जटाओं के कोमल सिरे दारुण वमन में उपयोगी है।

प्यास, दाह : नये ठीकरे को अथवा काली मिट्टी या रेत को तपा कर लाल कर लें। वट-अंकुरों के पानी में इसे डालकर बुझा लें। ठण्डा हो जाने पर पैत्तिक तृष्णा (प्यास) मे पिलाया जाता है। बरगद की जड़ के निर्यूह में घी डालकर ज्वर की जलन की शांति के लिए पिलाना चाहिए।

बरगद के पत्ते जब पीले पड़ जाते है तो उन को भूने हुए चावलों के साथ पका कर काढ़ा बना लेते हैं। बुखार उतारने के लिए इसे पिलाया जाता है।

खांसी : बरगद के गीले अंकुरो को समान भाग मैनसिल के साथ पीस कर घी में मिला लें। खांसी वाले जिस रोगी के जख्मों में छाती में दलने की तरह पीड़ा होती है उसे इसका धूम्रपान करना चाहिए। कोमल पत्तो में श्लेष्मा को नष्ट करने का गुण होता है।

शोधन के उपद्रव : शोधन कर्म में वमन विरेचन के अतियोग से पैदा होने वाले विकारो को दूर करने के लिए वट आदि क्षीरी वृक्षों के नवीन पत्रांकुरों से तैयार की गई पेया को शहद मिला कर देना चाहिए और मल-संग्राहक ओषधियों से पकाया दूध तथा अन्य भोजन देना चाहिए। पित्त विकार वाले को यदि बहुत अम्ल या गरम या तेज नमक वाला अनीमा दे दिया गया है तो वह गुदामार्ग मे क्षोभ तथा सोज पैदा करता है और अन्य उपद्रव उत्पन्न करता है। गुदा से अनेक रंगों का खून और पित्त

आने लगता है और रोगी इस कष्ट से मूच्छित भी हो जाया करता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा चरक बताते है कि बरगद आदि के गीले पत्तों को कुचल कर घी में पका लें। इसे बकरी के दूध मे मिला कर ठण्डा कर लें। इस का अमीना दें। (*चरक, संहिता, सिद्धि स्थान 7; 61*)। बवासीर मे बरगद के दूध को बताशे मे रख कर खिलाते हैं।

मूत्र और वीर्य रोग : चरक के मूत्र-संग्रहणीय महाकषाय (सूत्र स्थान, अध्याय 4) मे और कषाय स्कन्ध (सूत्र स्थान, अध्याय 8) में तथा सुश्रुत के न्यग्रोधादि गण (विमान स्थान, अध्याय 38) में बरगद पढ़ा गया है। बहुमूत्र में छाल का काढा और मधुमेह मे फल दिए जाते हैं। फल शीतल, ग्राही और मूत्ररोधक हैं। जटा-क्वाथ प्रमेह मे दिया जाता है। मधुमेह की चिकित्सा में छाल का फाण्ट शक्तिशाली बल्य औषध समझा जाता है। रुधिर स्थित शर्करा को कम करने में इसका कहते हैं कि विशेष प्रभाव है। एम. एल. गुजराल, एन. के. चौधरी और आर. एस. श्रीवास्तव (दि इण्डियन मेडिकल गज़ट, मार्च 1954) ने अपने परीक्षणों में जामुन के बीज, बरगद, पीपल-छाल और नीम के अभिनव पत्तों का रस खरगोशों पर प्रयोग किया है। इन अन्वेषकों ने यह पाया है कि खरगोशों पर इन में से किसी भी औषध का प्रभाव नहीं है।

कोपलों और जटाओं को सुखा कर उस से बनाए चूर्ण को शुक्रमेह में खिलाते हैं। अफ़ीम, जायफल आदि को बरगद के दूध से घोट कर वीर्य-स्तम्भन के लिए गोलियां बनाते हैं। दूध की चार-पांच बूदें बताशा मे टपका कर स्वप्नदोष, शीघ्रपतन आदि वीर्य-विकारों मे देते हैं। छाल भी स्तम्भक मानी जाती है।

पञ्जाब में पूयमेह के लिए जटाओं के तन्तुओं का उपयोग होता है और ये सार्सापरीला के समान कार्य करने वाले समझे जाते है।

गठिया : सूखे पत्ते स्वेदजनक है। वेदनाओं तथा सोजों पर इन के काढ़े से पसीना लाने के लिए धोना चाहिए। जटा के काढ़े को गठिया (वातरक्त) में पिलाते हैं। दूध वेदनाहर समझा जाता है। आमवात (र्हूमेटिज्म) में, कमर तथा जोड़ों के दर्दों मे तथा अन्य वेदनाओं में वटक्षीर का स्थानीय लेप किया जाता है।

फोड़े-ज़ख्म : बरगद का क्षीर वेदनास्थापन और व्रणरोपण है। हाथ-पांव के तलों का फटना और शोथ पर, विशेषकर वंक्षणशोथ पर वटक्षीर का लेप करते हैं। पैर की दुखती बिवाइयों मे इसे भरते है। *विद्रधियों और फोड़ों पर पत्तों का सेक कर अकेला या पुल्टिस के साथ बांधते है। बरगद के अंकुरों के काढे से ज़ख्मों को धो कर और उन्हीं* को पीस कर लेप करने से सोज उतरती है। अथर्ववेद मे यह प्रबल कृमिनाशक माना गया है। ज़ख्म में कीड़े इतने पैदा हो गए हों कि उन का जाल-सा बिछा हुआ दीखता हो, तो सुबह, दुपहर और रात को बरगद का दूध लगाना चाहिए। बरगद के कोंपलों आदि का घी के साथ लेप, व्रण की शिथिलता और सुकुमारता को दूर करता है। कर्नल चोपड़ा के अनुसार वटदुग्ध क्षतों और व्रणों पर उपयोगी संकोचक का काम करता है।

विसर्प : विसर्प मे शरीर की अन्दर से शुद्धि हो जाने पर भी जिन रोगियों के

त्वचा और मांस में विकार विद्यमान हों उन के लिए अथवा पहले से ही जो अल्प विकार वाले रोगी है उन के लिए बाहरी चिकित्सा के रूप में यह लेप बहुत अच्छा रहता है— बरगद की कोमल जटा, केले के तने का अन्दर का मृदु भाग और भिस को हजार बार धोये हुए घी में पीस कर बनाया हुआ लेप करना भी अच्छा रहता है। (चरक संहिता, चिकित्सा स्थान 21; 83)।

कुष्ठ : बाल पर्ण कुष्ठ के लिये अच्छे समझे जाते हैं। कुष्ठ और रोमक बढ कर चाहे हड्डी तक भी पहुच गये हों, सात रात बरगद के दूध का लेप करने और उस पर बरगद की छाल का कल्क बांधने से शान्त हो जाते है। जटा के बाल तन्तुओ का काढ़ा बना कर सारिवा के साथ रक्त दोषों के निवारण के लिये दिया जाता है।

खून बहना : खून बहने (रक्तपित्त) में बरगद का चन्दन के साथ प्रयोग हितकर होता है। बरगद के पत्तों को रगड़ कर शहद से चटाया जाता है। कोमल पत्तों या छाल के काढ़े को खून को रोकने के लिए पिलाते है। विशेष करके गुदा से बहते हुए खून (रक्तपित्त) में जटाओं या कोंपलों के साथ पकाया हुआ दूध देना लाभदायक होता है। रक्तपित्ती को कब्ज रहता हो तो बरगद के काढे में मुर्गे का मांस पका कर देना चाहिए। छोटी शाखाओं का फाण्ट तक्सीर (haemoptysis) में उपयोगी है। विषैला जीव जब काट खाये और खून निकालने की प्रक्रियाओ मे अधिक खून बह निकले तब बरगद आदि के शीतल लेप करके रोकना चाहिये। (चरक संहिता, चिकित्सा स्थान 23; 41)।

सर्प-विष : मण्डली सांपों (vipers) के विष में बरगद की कोपलों को रगड़ कर चरक पिलाते हैं। कायस् और म्हस्कर (इण्डियन मेडिकल रिसर्च मेमोयर्स, नम्बर 19, जनवरी 1931) के परीक्षणों के अनुसार बरगद फनियर (दर्वीकर) और दबोइया (मंडली) दोनों प्रकार के सर्प-विषों की चिकित्सा के लिये निरुपयोगी है। शरीर में डाले गये सांप के विष को यह न तो नष्ट करता है और न ही आगे फैलाने से रोकता है। इन अन्वेषकों ने छाल और कोपलों को परीक्षा के लिए लिया था।

मूर्धा के रोग : यूनानी-चिकित्सा मे बरगद उत्तमाङ्ग-बलदायक माना जाता है। कोपलो का लेप करने से व्यङ्ग नष्ट हो जाता है। कपूर को बरगद के दूध में घोट कर आंजने से बहुत बढ़ा हुआ फूला भी नष्ट हो जाता है। कर्णगत व्रण और कृमि-कर्ण में बरगद का दूध कान में टपकाते हैं। सड़े हुए दांतों में बरगद का दूध भरने से पीड़ा शान्त होती है। दन्त-वेदना में दांत और उस के चारो ओर मसूड़े पर दूध का लेप कर देना चाहिये।

बरगद का दूध विशेष रूप से बल्य समझा जाता है। बीज भी शीतल और बल-दायक माने जाते हैं।

धातुओ के मारण में : तांबे आदि धातुओं की भस्में बनाने में काम आता हैं। अभ्रक भस्म में रंग लाने के लिए कोंपलों के काढ़े से भावना देते है।

: पांच .

बड़ा गोखरू

नाम हिंदी—बड़ा गोखरू, फ़रीद बूटी।

संस्कृत—गोक्षुर (गौ के खुर के समान फल वाला), गजदंष्ट्री।

लैटिन—पेडालिउम मुरेक्स लिन (*Pedalium murex* Linn).

नैसर्गिक वर्ग पेडालिआसी (Pedaliaceae)

प्राप्ति स्थान दक्षिण भारत, श्रीलंका और कोंकण में समुद्र तट पर बहुतायत से मिलता है। रास्तों के किनारे खेतो और बगीचों के आस-पास बाढ़ों में रेतीली तथा दलदल वाली जगहों, नदियो के किनारे और समुद्र के किनारे रेतीले स्थानों में, मुख्यतया कोरोमण्डल के समीप यह उगता है। यह कुछ-कुछ आर्द्र और रेतीली जमीन पसन्द करता है।

वर्णन : यह एक सुन्दर छोटी, मासल या गूदे वाली (succulent), शाखामय, मौसमी (annul) वनस्पति है। वर्षा ऋतु में बहुत उग आती है। एक डेढ़ बालिश्त तक ऊँचा बढता है अथवा इसकी शाखाएँ जमीन पर बिछी हुई होती है। मूल शाखायुक्त, रंग गहरा नारंगी या केशरिया। काण्ड प्रायः कर कोई नही होता और शाखाएं बहुत होती हैं। शाखाओं पर छोटे रोएँ और छिलके से ढकी हुई ग्रन्थियां होती हैं। पत्ते शाखाओं पर एक दूसरे के सन्मुख 1.25 से 3.75 सेण्टीमीटर लम्बे। बहुत छोटे और मुड़े हुए पुष्प-दण्डों पर गंधक जैसे पीले रंग के फूल लगे होते हैं। फूलों को मसला जाय तो कस्तूरी जैसी गंध देते हैं। फल 1.25 से 2 सेण्टीमीटर लम्बे; निचला भाग पतला और मोटे छोटे डण्ठल पर लगा हुआ।

रासायनिक विश्लेषण : फलों में एक हरे-से रंग की वसा, गोंद, मद्यसारीय सत्त्व (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) मे एक क्षारीय तत्त्व और थोड़ी मात्रा में रेजिन होते हैं। वायु में सुखाए फल की राख 5.43 प्रतिशत होती है।

प्रभाव तथा उपयोग : शाखा सहित ताजे पत्तों को ठंडे पानी मे डुबो कर हाथ से थोड़ा मसलें तो सारा पानी अण्डे की जर्दी के समान एक गाढ़े लेसदार द्रव में बदल जाता है। यह निर्गन्ध और नि.स्वाद होता है। इस प्रकार बनाये हुये शीत कषाय या फाण्ट को दक्षिण के लोग पूयमेह और मूत्रकृच्छ की एक उत्तम दवा समझते हैं। ताजे पत्ते और

शाखाओं का स्वरस या शीतकषाय एक प्रभावकारी मूत्रल है। इससे मूत्रल कार्य शीघ्र और पर्याप्त होता है। कई लेखकों का मत है कि किसी दूसरी औषधि के मिश्रण के बिना भी यह पूयमेह को अच्छा करने का गुण रखता है। लेसदार बनाया हुआ पानी शीघ्र अपने स्वाभाविक द्रव रूप में बदल जाता है इसलिये यह देने से पूर्व प्रत्येक बार ताजा तय्यार करना चाहिए। लगभग आधा पाइण्ट स्वरस या फाण्ट प्रतिदिन प्रातःकाल लिया जाय तो कहा जाता है पूयमेह में मूत्रत्याग के समय होने वाली जलन दस दिन मे हट जाती है। मूत्र के प्रवाह को बढ़ा देने के कारण यह कुछ प्रकार की श्वयथु में लाभकर प्रतीत होता है। पूयमेह और पूयमेह जन्य आमवात में चूर्णित पत्ते दो ड्राम की मात्रा में दूध और खाण्ड के साथ पिये जाते है। ताजा पौदा सुलभ न हो तो शुष्क फल का कषाय दिया जाता है। शुक्रमेह, क्लैब्य और मूत्रकृच्छ्रता में लगभग एक पाइण्ट बीजों का फाण्ट (बीस में एक) प्रति दिन दिया जाता है। फल का क्वाथ मूत्र संस्थान के अंगों के क्षोभ में लाभकर है। इसके देने से कहते हैं कि पथरी कट कर निकल जाती है। यह आम तौर पर खाण्ड के साथ दिया जाता है। रस एक अच्छा गण्डूप है। पत्तों का रस निर्बल बच्चों के मुह में हो जाने वाले छालो पर लगाया जाता है। पौदे की पुल्टिस अच्छी बनती है। व्रणों के इलाज के लिये इसके पत्ते बहुत लगाये जाते है।

फल का रस रजः प्रवर्त्तक है और प्रसव रोगो मे दिया जाता है। यह प्रसवोत्तर-कालिक स्राव को बढाता है। प्लीहा वृद्धि में पत्तों का शाक बनाकर खिलाया जाता है। मूलकषाय पित्तहर है।

फलों में लेपक, उद्वर्तहर और वाजीकरण गुण माना जाता है। औषधि की रात्रि-स्राव (स्वप्नदोष) और क्लीव रोग में भी परीक्षा की गई। ताजे पत्ते और नई कोंपल को उबलते हुए दूध मे डाल कुछ मिनट रखते हैं। दूध लेसदार और कुछ कड़वा होने पर उतार लिया जाता है, यह क्लीव रोग में वाजीकर रूप मे दिया जाता है। चूर्णित मूल को घृत शर्करा तथा कुछ सुगन्धित द्रव्यो और दीपक पाचक औषधियो के साथ मिला कर पौष्टिक रसायन बनाया जाता है। यह दूध के साथ सेवन किया जाता है।

: छः :

पुनर्नवा

विविध नाम : हिन्दी : सांठ, विषखपरा, गदहपूर्णा।

संस्कृत नाम परिचय ज्ञापक संज्ञा : वर्षाभू (वर्षा काल में होने वाली); वर्षाङ्गी (जिसके अंग वर्षाकाल में प्रकट होते हैं); पुनर्नवा (वर्षाकाल मे फिर नई हो जाने वाली), पुनर्भू (फिर-फिर होने वाली); श्वेतमूला, सितवर्षाभू, श्वेत पुनर्नवा (सफेद फूल तथा मूलवाली और वर्षा में फिर नई होने वाली); रक्तपुष्पा, रक्तकाण्डा, रक्त-वृन्तक, रक्तपत्रिका, रक्तवर्षाभू, रक्त पुनर्नवा (लाल पुष्प, लाल काण्ड, लाल वृन्त और लाल पत्तों वाली, वर्षा में फिर नई हो जाने वाली); क्षुद्रवर्षाभू (सफेद की अपेक्षा छोटी); जटिला (जटाकार मूल वाली); पृथ्वी (जमीन पर फैल जाने वाली); विशाल (अनेक शाखाओं वाली); मण्डल पत्रक (गोल पत्तों वाली); क्षुद्र पत्रक (छोटे पत्तों वाली); दीर्घपत्रक (बड़े पत्तों वाली)।

गुण प्रकाशक संज्ञा : सद्यविशेष (ताजी प्रयोग करने योग्य); शोफघ्नी (शोफ नाशक); शोथघ्नी (शोथ नाशक); वृश्चीक (बिच्छू आदि कीटविष नाशक); क्रूरक (रोगों के मर्दन करने में जो क्रूर है); जटिला (जटिल रोगो को नाश करने वाली)।

पंजाबी : विषखपरा, सट्टी। बंगाली : गादापुण्या। मराठी : घेंटुली, पांढरी। गुजराती : मोटो साटोंगे। बिहारी : गदपुन्नो। लैटिन : बोएरहाआविआ डीफ्फुसा लिन. (*Boerhaavia diffusa* Linn) पर्याय बोएरहाआविआ रेपेन्स लिन. (*Boerhaavia repens* Linn)। कुल नीक्टागिनासी (Nyctaginaceae)।

वर्णन : यह पौदा वर्षा ऋतु में सब जगह पाया जाता है। जड़ से बहुत-सी शाखायें निकलती हैं, जो 90 से 180 सेण्टीमीटर तक लम्बी, पतली, जमीन पर फैल जाने वाली या आसपास की झाड़ियो पर चढ़ जाने वाली, प्राय: ससदार, स्निग्ध, गांठो पर मोटी, जामुनी रंग की लाल और सूक्ष्म रोओं से ढकी होती है। पत्ते मोटे, मांसल, रस-मय प्रत्येक गांठ पर असमान जोड़ों में, 1.25 से 3.75 सेण्टीमीटर तक लम्बे अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार, ऊर्ध्व पृष्ठ पर हरे, स्निग्ध, निम्न पृष्ठ पर प्राय: श्वेत, आधार गोल या अर्धहृदाकार, और किनारे प्राय: लाल रंग के होते हैं। वृन्त की लम्बाई पत्ते की लम्बाई से कम होती है। अवृन्तक (sesile) लाल पुष्प चार से दस तक इकट्ठे साल भर खिलते

रहते हैं और फलते रहते है। फल समाकार (oblong), मटियाला, हरा या भूरा-सा होता है। जड़ बहुवार्षिक (perennial), मजबूत तकुआकार कड़वी और जी मिचलाने वाली होती है। भूमि मे दबी हुई मूल वर्षा होते ही नये अंकुर छोड़ती है और ज्यों-ज्यों वर्षा होती है यह फलती और फूलती है। वर्षा की समाप्ति पर क्षुप सूख जाता है, परन्तु मूल हरी रहती है।

प्राप्ति स्थान और भेद : भारत मे सर्वत्र, पंजाब से असाम तक और दक्षिण में त्रावणकोर तक उगती है। यह तीन प्रकार की होती है— लाल, सफ़ेद और नीली। तीनो मे से लाल जाति सब से अधिक बहुतायत से पाई जाती है। इसका क्षुप सफेद की अपेक्षा बड़ा, पत्ते छोटे और गोल, शाखायें अपेक्षाकृत कठिन और फूल पत्ते तथा शाखायें प्रायः लाल रंग की होती है। यह कंकरीली ज़मीन मे अधिकता से होती है। सफेद जाति रेतीली ज़मीन में पाई जाती है। औषधिप्रयोग मे यह श्रेष्ठ समझी जाती है। वर्षा शुरू होते ही खेतों में खर पतवार के रूप मे उग आती है। प्रथम वर्षा के बाद ही इसके छोटे-छोटे दो पत्तों वाले असंख्य सघन पौदे उग आते है। इनकी वृद्धि बहुत शीघ्र होती है। जल्दी ही पौदा बड़ा हो कर फूलता तथा फलता है और सूख जाता है। असंख्य छोटे-छोटे बीज भूमि पर गिर पड़ते है और वर्षा होने पर या पानी मिलने पर फिर उग आते है। इस प्रकार एक ही वर्षा मे इसकी अनेक फसलें हो जाती हैं। श्वेत पुनर्नवा वर्षा के बाद सर्वथा नहीं मिलती, पर लाल मिल जाती है। सफ़ेद की अपेक्षा लाल अधिक कठोर पौदा है। इसकी मूल भूमि में बहुत दूर गई होती है। इसे खोदना भी कठिन काम है। शाखायें और जड़ कठिन होने से इसका नाम कठिल्लक पड़ गया है। श्वेत पुनर्नवा की जड़ें भूमि मे अधिक गहराई तक नही जाती, अतः उसे उखाड़ना सुगम होता है।

सफ़ेद पुनर्नवा के फूल सफ़ेद होते है। इनके परागच्छत्र (anthers) सुन्दर गुलाबी रंग के होने से फूल के बीच मे गुलाबी रंग सुन्दर मालूम देता है। लाल पुनर्नवा की तरह इसके फूल गुच्छो में नही लगते, अपितु एकाकी लगते हैं। सुबह खिलते हैं और दोपहर तक बन्द हो जाते है। पत्ते, शाखायें, जड़ आदि पौदे का प्रत्येक भाग लाल जाति की अपेक्षा मुलायम होता है। शाखाओ का भूमि की ओर का पृष्ठ चिकना, चमकदार और हलके रंग का होता है। ऊर्ध्वपृष्ठ गहरा और सूक्ष्म श्वेत रोओ से आकीर्ण होता है। मूल छोटी, पतली और श्वेत वर्ण की होती है।

पहले दिये गये नाम, संस्कृत नामो को छोड़ कर, लाल पुनर्नवा के हैं। सफेद पुनर्नवा को हिन्दी और बंगाली में विषखपरा कहते हैं, पंजाबी में इट्सिट्, मराठी में खापरा और गुजराती में वखखापरा। यह जाति आकार-प्रकार मे लाल से मिलती जुलती है, परन्तु फूलों की दृष्टि से आधुनिक वर्गीकरण में यह लाल पुनर्नवा के वर्ग में नही आती। यह फिकोइडासी (Ficoidaceae) वर्ग का पौदा है। इसका वैज्ञानिक ट्रिआन्थेमा पोर्टुलाकास्ट्रम लिन. (*Trianthema portuacastrum* Linn.), पर्याय ट्रिआन्थेमा मोनोगीना लिन. (*Trianthema monogyna* Linn.) है। संस्कृत के नाम

पहले दिये जा चुके हैं।

तीसरी नीले रंग की पुनर्नवा का वर्णन भी मिलता है। इसके संस्कृत नाम हैं—नील पुनर्नवा, नीला, श्यामा, नीलिनी, कृष्णाख्या, नीलवर्षाभू आदि। तिब्बी साहित्य में भी इस पुनर्नवा का वर्णन मिलता है, परन्तु यह सुप्राप्य नहीं है।

उपयोगी भाग . पञ्चांग विशेषकर मूल।

रासायनिक विश्लेषण : घोषल (1910) ने विश्लेषण द्वारा इसमें निम्न लिखित तत्त्वों का पता लगाया है : 1 क्षाराभ (alkaloid) की प्रकृति का एक गन्धित, 2 वसा की प्रकृति का एक वेढौल तैलीय पदार्थ, 3 राख में गन्धित और हरित तथा अत्यल्प मात्रा में नत्रित और हरित।

क्षाराभ का परिमाण बहुत कम था। क्षाराभ के गन्धित के छोटे-छोटे सूच्याकार स्फटिक होते हैं। समुदाय में रंग मैला-सा सफ़ेद मालूम होता है। स्वाद फीका या हलका तिक्त अशुद्ध कुनैन गन्धित से मिलता है।

कर्नल चोपड़ा और उनके सहायक कार्यकर्ताओं ने क्रियाशील तत्वों के रासायनिक विश्लेषण और प्रभाव का विस्तृत अध्ययन किया। ताजे हरे पौदे में जल की प्रतिशतकता बहुत अधिक होती है, इसलिये वायुशुष्क पौदे को क्रियाशील तत्त्व को निकालने के लिये लेना चाहिए।

पौदे में पोटाशियम नत्रित बहुत अधिक मात्रा में पाया गया। औषधि का मूत्रल प्रभाव कुछ अंश में इस लवण की उपस्थिति के कारण प्रतीत होता है। पौदे में विद्यमान संपूर्ण पोटाशियम समास का परिमाण देखा गया। चूर्णित औषधि में सम्पूर्ण पोटाशियम की पोटाशियम नत्रित के रूप में मात्रा लगभग 6.41 प्रति शत थी। इसमें सम्भवतः पोटाशियम के अन्य लवण भी हों। इन लवणों के अतिरिक्त एक क्षाराभ बहुत कम मात्रा में शुष्क पौदे के भार का लगभग ·01 प्रति शत विद्यमान होता है। यह इतनी पर्याप्त मात्रा में पृथक् कर लिया गया था कि उसके कार्य की परीक्षा की जा सके। इसका स्वाद कड़ुवा होता है। उद्हरित स्फटिक रूप में प्राप्त किया गया और उसे पुनर्नवीन (punarnavine) नाम दिया गया।

निर्मितियां : 1 पुनर्नवादि घृत (भैषज्य रत्नावली, शोथाधिकार, श्लोक 72, 73, 76 तथा चक्रदत्त, मदात्यय चिकित्सा, श्लोक 9); 2 पुनर्नवादि तैल (भैषज्य रत्नावली, पाण्डुरोगाधिकार, श्लोक 90-95 तथा शोथाधिकार, श्लोक 66-71; 3 पुनर्नवा गुग्गुलु (भैषज्य रत्नावली, वातरक्ताधिकार, श्लोक 101-105); 4 पुनर्नवावलेह (चक्रदत्त, शोथ चिकित्सा, श्लोक 41-43); 5 पुनर्नवा मण्डूर (चरक चिकित्सा स्थान, अध्याय 16, श्लोक 92-95); 6 पुनर्नवासव (भैषज्य रत्नावली, शोथाधिकार, 166-170); 7 पुनर्नवाद्यरिष्ट (चरक चिकित्सा स्थान, अध्याय 12, श्लोक 33-37); 8 पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह (चरक चिकित्सा स्थान, अध्याय 26, श्लोक 45-46)।

भैषजिकीय कार्य : लालमोहन घोषल (1910) ने पहले इस औषधि पर गवेषणा प्रारम्भ की। अपने परीक्षणों में उन्होने सम्पूर्ण औषधि का जलीय सत्व प्रयुक्त किया। उसके मुख्य परिणाम निम्नलिखित थे :

1 क्रियाशील तत्त्व मूत्रल है। हृदय द्वारा वृक्क के धमनीगुच्छों (glomeruli) पर मुख्यतया कार्य करता है। हृदय की धमन और शक्ति को बढाता है। परिणामत. प्रान्तिक रक्तदबाव अधिक हो जाता है। नलिकाओं या कोशिकाओं (tubules) के कोष्ठों (cells) पर बहुत थोड़ा या नहीं के बराबर असर करता है। यदि करता भी है तो यह प्रारम्भिक और तुलनात्मक है।

2 श्वास संस्थान पर इसका प्रभाव बहुत कम या नही होता। वनस्पति में पाये जाने वाले स्निग्ध तत्त्व के कारण सम्भवतः थोडा असर होता है।

3 यकृत् पर इसका प्रभाव मुख्यतया गौण रूप से होता है, वह भी अन्य औषधियों के सम्मिश्रण से।

4 अन्य भागो पर औषधि का क्रियात्मक रूप में कोई प्रभाव नही होता।

कर्नल चोपड़ा और उनके सहायक कार्यकर्ताओ ने परीक्षणात्मक कार्य मे क्षाराभ (एल्कलौयड) के उद्हरित (hydro-chloride) का प्रयोग किया। अक्षत त्वचा और श्लैष्मिक आवरण (mucous membranes) पर इसका क्षोभक कार्य बहुत कम या नही के बराबर है। अधस्त्वक्-सूचावेध स स्थानिक प्रतिक्रिया विशेष नही होती। खरगोश के पृथक् किये हुये आन्त्रखण्डो की जलौका गति और शक्ति पर इसका कुछ-कुछ मान्द्यकर प्रभाव होता है। परीक्षणात्मक प्राणियो मे क्षाराभ का सिरासूचीवेध श्वास-प्रश्वास की क्रिया को उत्तेजित कर देता है, परन्तु श्वासप्रणाली की मासपेशियो की शिथिलता नही होती, जैसी कि एड्रिनलीन देने से होती है। रक्तदबाव (blood pressure) मे स्पष्ट और स्थिर रूप से वृद्धि नजर आती है, सभवतः हृदय की मासपेशी पर औषधि के सीधा कार्य करने से ऐसा होता है। कुत्ते और बिल्ली को मूत्रल प्रभाव की परीक्षा के लिए सिरासूचीवेध दिये गये। मूत्रप्रणाली में केनुला (cannula) लगा कर मूत्रप्रवाह का रिकॉर्ड किया गया। मूत्रप्रवाह मे पर्याप्त वृद्धि नजर आई। एड्रिनलीन घोल की 1000 मे 1 की 1/20 सी०सी० देने से देखा गया कि यद्यपि रक्तदबाव बहुत बढ़ गया परन्तु तुलना मे मूत्र बहुत कम निकला। इससे मालूम होता है कि मूत्रोत्पत्ति की प्रक्रिया केवल रक्तदबाव के अधिक होने के कारण ही हो ऐसी बात नही है। इसलिये यह परिणाम निकाला जा सकता है कि क्षाराभ का प्रभाव सम्भवतः मुख्यतया वृक्क की एपिथीलियम पर होता है। प्राणियो को क्षाराभ बड़ी-बड़ी मात्राओं मे दिया गया, इसका कोई विपरीत प्रभाव नही दिखाई दिया, जिससे विदित होता है कि क्षाराभ विषैला नही है।

उपयोग : नरहरि ने राज निघण्टु में श्वेत पुनर्नवा को अनुलोमक और रसायन गुण वाला लिखा है। उसने निम्न लिखित रोगो मे भी इसकी उपयोगिता स्वीकार की है—शोथ, पाण्डु, हृद्रोग, विष, कास, आन्त्रशूल, उदरकृमि आदि। लाल पुनर्नवा तिक्त

है; शोथ, रक्तस्राव, प्रदर, पाण्डु तथा पैत्तिक विकारों के लिये इसकी बहुत प्रशंसा की गई है। नीली पुनर्नवा तिक्त और रसायन है; पाण्डु, हृद्रोग, शोथ, और कास मे लाभदायक है।

सफ़ेद और लाल जाति की पुनर्नवा के गुणों में बहुत समानता है, इसलिए यहां हम दोनों के उपयोग पुनर्नवा नाम से दे रहे हैं। जहां जाति विशेष अभीष्ट होगी वहां लाल या सफ़ेद विशेषण दिया जायेगा।

चरक (सूत्र स्थान 4; 14-50) ने वयःस्थापक औषधियों में पुनर्नवा को गिनाया है। उदावर्त और मलबन्ध में आस्थापन के लिये पुनर्नवा का प्रयोग करना चाहिये। (चरक, सूत्र स्थान 2, 11-12)। स्निग्ध वस्ति मे उपयोग किये जाने वाले द्रव्यो में पुनर्नवा प्रयुक्त होती है (चरक, सूत्र स्थान 4, 14-26)। मूल का चूर्ण एक ड्राम की मात्रा मे अथवा मूल का कषाय या फाण्ट अनुलोमन के लिये दिया जा सकता है। अधिक मात्रा में दी जाय तो अपने वामक गुण के कारण वमन उत्पन्न करती है। श्वासप्रणालियों के दमे मे मूल उपयोगी समझी जाती है। यह श्वासमार्ग के कफ को निकालती है। चरक (सूत्र स्थान 4, 14-36) ने कासहर दश औषधियो मे पुनर्नवा का उल्लेख किया है।

अनेक लेखकों ने इसे श्रम, निद्रानाश, आमवात, और आंख के रोगो मे प्रयोग करने की सिफारिश की है। पजाब में यह नेत्ररोगों के लिए अच्छी समझी जाती है। नेत्रकण्डू, नेत्रस्राव, रात्र्यन्धता, नेत्रपुष्प आदि रोगो मे स्त्रीदुग्ध से पुनर्नवा मूल चूर्ण की वर्ति बना कर शहद से घिस कर कुछ दिन आंखों मे लगाने से आराम होता है। पुरातन नेत्रशोथ और नेत्रपुष्प में पत्ररस के साथ मधु मिला कर आंखो में डाला जाता है। जड़ को रगड़ कर घी में मिला कर आंखों मे लगाने से फूला नष्ट होता है। शहद के साथ मिला कर लगाने से अक्षिस्राव बन्द होता है। केवल जल मे घिस कर आंजने मे तिमिर रोग नष्ट होता है। गौ के गोबर के रस और पीपल के साथ मिला कर आंजने से रात्र्यन्धता दूर होती है। ऊर्ध्वजत्रुगत रोगो मे उपयोगी एक योग महामायूर घृत मे चरक ने (चिकित्सा स्थान 26; 165-173) पुनर्नवा का पाठ किया है। मदात्यय की चिकित्सा मे चक्रदत्त ने इसका उपयोग बताया है। उनका कहना है कि पुनर्नवादि घृत के सेवन से मद्यपानजनित शक्तिहीनता नष्ट हो कर शरीर सुदृढ़ हो जाता है।

वृश्चिक दंश पर इसका अन्तः और बहिः प्रयोग होता है। सुश्रुत ने सर्पविष और मूषकदंश के संक्रमण मे इसके उपयोग का वर्णन किया है। पुष्य नक्षत्र वाले दिन सफ़ेद पुनर्नवा की जड़ को तण्डुलोदक के साथ पीस कर पीने से एक साल तक सांप के काटने का भय नहीं रहता (चक्र दत्त, विष चिकित्सा, 4)।

तिब्बी चिकित्सक दमा, कामला और जलोदर में इसके प्रयोग की राय देते हैं। वे इसके मूत्रल गुणो का वर्णन भी करते हैं तथा इसे उदर कृमिहर और ज्वरहर रूप मे एवं मूत्रमार्ग शोथ मे देते है। मूत्रल होने से पत्र स्वरस गोआ मे मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह मे

दिया जाता है। पूयमेह में इसका प्रयोग पुर्तगाल वालों से प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। पूयमेहजन्य सन्धिशोथ, नाडीशोथ और श्वासमार्ग के शोथों में पुनर्नवा के योग दिये जाते हैं। मूत्र कम मात्रा में आता हो तो उसकी उत्पत्ति बढ़ाने के लिए औषधि दी जाती है। यह वृक्क के सब रोगो मे दी जा सकती है। मूत्रकृच्छ्र और मूत्राश्मरी चिकित्सा मे चरक, ने पुनर्नवा का थोड़ा व्यवहार किया है। पुनर्नवा, लौह भस्म, हल्दी, गोखुरू, मूली, प्रवाल भस्म, दर्भ के फूल को वह एक माशा की मात्रा में दूध, जल, मद्य या ईख के रस से अच्छी प्रकार पीस कर अश्मरी और मूत्रशर्करा (मधुमेह) में पीने के लिए देता है (चरक चिकित्सा स्थान 26; 62)। वातज अश्मरी में दोनों प्रकार की पुनर्नवा के क्वाथ से सविधि सिद्ध मांसरस देना हितकर होता है। पित्त की अधिकता हो तो इन्ही के क्वाथ मे सिद्ध किया हुआ दूध या घी मात्रा में रोगी को देना चाहिये। कफ की अधिकता मे इन्ही के क्वाथ से सिद्ध यूष आदि अन्नपान हितकर होता है। तीनो दोषो के संसर्ग से उत्पन्न शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में उक्त तीनो दोषों में लाभकारी क्रम किया जाता है (चरक, चिकित्सा स्थान 26; (9-70)।

औषधि हृदय के कार्य करने के समय और शक्ति को बढ़ा देने के कारण हृदय से सम्पूर्ण रक्त को बाहर फेंक सकती है। इसलिए यह कपाटियो की सब अवरुद्ध अवस्थाओ में लाभदायक हो सकती है। हृद्दौर्बल्य या हृदय की शिथिलता के कारण श्वयथु या जलोदर हो तो इस औषधि के देने से वृक्क का रक्तसंचार बढ़ जाता है और शरीर मे संचित अधिक जलीय भाग मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकल जाता है। चरक ने हृद्रोगों की चिकित्सा में (चिकित्सा स्थान 26; श्लोक 69-70) एक तेल लिखा है। वातिक हृद्रोग मे इसका प्रयोग मालिश के लिए और पीने के लिये किया जाता है। वाग्भट इसकी वस्ति भी देते हैं (अष्टांग संग्रह, चिकित्सा स्थान 6)।

जलोदर, कामला, सर्वांग श्वयथु, मूत्राघात और अन्त.शोथो मे यह प्रयुक्त की जाती है। पत्रस्वरस कामला आदि यकृत् विकारो मे दिया जाता है। वृक्को का मूत्रस्राव बन्द हो गया हो, यकृत् वृद्धि, हृदय या वृक्क के कारण जलोदर हो तो इसका उपयोग किया जाता है। पार्श्वशूल (प्लूरिसी) और इसी प्रकार के कुछ अन्य रोगो में, जिन में गुहाओं मे द्रव भर गया हो, औषधि को मूत्रराशि बढ़ाने के लिये देना लाभप्रद हो सकता है।

बम्बई में श्वयथु मे पुनर्नवा का प्रयोग किया जाता है। हृदय तथा वृक्क की निर्बलता से उत्पन्न श्वयथु रोग के लिए यह उत्तम औषध है। इस की निमितिया या इसके कषाय में दस-बारह ग्रेन शोरक और यवक्षार डाल कर दिन में दो-तीन बार पिलाते हैं। मूलकषाय को चिरायता, सोंठ और लगभग पन्द्रह ग्रेन पोटाशियम नत्रित के साथ देते हैं। श्वयथु रोगी को इसका घृत और ताजी पुनर्नवा का शाक दिया जाता है। रोग की हलकी अवस्थाओ में बिना किसी औषध-प्रयोग के केवल भोजन के साथ प्रतिदिन इसका शाक दिया जाय तो आराम हो जाता है। पुनर्नवा का शाक कफ पित्त को हरने वाला है

(चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 27; 94-95)।

पुनर्नवा के शोथघ्न गुण के कारण संस्कृत लेखकों ने अनेक शोथहर योगों में इसका अन्तः और बाह्य प्रयोग किया है। कई योगों में पुनर्नवा का यद्यपि बहुत कम अंश है फिर भी उनका नाम पुनर्नवा पर रखा गया है। चरक ने श्वयथु के चिकित्सा प्रकरण में पुनर्नवा का बहुत प्रयोग नहीं किया। कुल चार पांच योगों में यह उपयोग की गई है। वातज, पित्तज और कफज तीनों शोथों में वह हरड, सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा के चूर्ण को गोमूत्र से देते हैं (चिकित्सा स्थान, अध्याय 12; 21)। वातिक शोथ में पुनर्नवा, सोंठ और मोथे के कल्क को एक तोला की मात्रा में दूध के साथ पिलाते हैं (चिकित्सा स्थान 12; 22)। शोथ पर लगाने वाले बाह्य लेपों में एक लेप में पुनर्नवा भी डाली गई है (चिकित्सा स्थान 12; 70-71)। यहां भी पुनर्नवा का प्रयोग मुख्य नहीं गौण है, क्योंकि इसके साथ अठारह द्रव्य और है।

इससे विदित होता है कि अग्निवेश और चरक के समय में पुनर्नवा का शोथघ्न गुण उस समय के चिकित्सकों को स्पष्ट ज्ञात नहीं था। शोथनाशक (चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4; 14 (38) और मूत्रल (चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4; 14(35) दस-दस औषधियों के समूहों में इस महत्त्वपूर्ण पौदे को कहीं स्थान नहीं दिया गया। शोथ में चरक ने मुख्यतया चित्रक का प्रयोग किया है। इस प्रकरण में अनेक ऐसे योग है जिनमें केवल चित्रक ही है या जिनमें चित्रक की प्रधानता है। केवल एक योग है जिसमें हम पुनर्नवा को मुख्यता दे सकते हैं। वह है पुनर्नवाद्यरिष्ट। सूक्ष्मता से इस योग का विश्लेषण किया जाय तो मालूम होगा कि इसमें डाली जाने वाली काष्ठ औषधियों का सम्पूर्ण परिमाण 240 तोला है जिसमें पुनर्नवा का परिमाण 48 तोला है।

चक्रपाणि और शिवदास ने शोथ में पुनर्नवा का उपयोग किया है। पुनर्नवा के क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत वे शोथ में देते हैं। आठ सेर पुनर्नवा को चौसठ सेर जल में पका कर सोलह सेर क्वाथ बचा लें। इसमें एक सेर पुनर्नवा का कल्क और चार सेर गौ का घी डाल कर विधि पूर्वक सिद्ध किया हुआ घी चौथाई से एक तोला की मात्रा में सेवन करना चाहिये। (चक्र दत्त, शोथ चिकित्सा, 30 तथा भैषज्य रत्नावली शोथाधिकार; 75)। पुनर्नवा, सोंठ, निवृत, गिलोय अमलतास का गूदा, हरड़ और देवदारु के कल्क में चार रत्ती शुद्ध गुग्गुलु मिला कर सेवन करने से अथवा इनके कषाय में गोमूत्र डाल कर सेवन करने से शोथ दूर हो जाता है (चक्र दत्त, शोथ चिकित्सा 7)। पुनर्नवा की जड़, कैथ फल, देवदारु, गिलोय तथा चित्रक की जड़ के अर्द्ध अवशिष्ट क्वाथ में दशमूल का कल्क डाल कर मास रस, यवागू, दुग्ध तथा यूप बना कर शोथ रोग में प्रयोग कराया जाता है (चक्र दत्त, शोथ चिकित्सा; 23)। पुनर्नवा, देवदारु, गिलोय, पाठा, विल्वमूलत्वक्, गोखुरू, बड़ी और छोटी कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, चीते की जड़, और बासे को सम परिमाण में ले कर बनाए चूर्ण को गोमूत्र के साथ सेवन करने से सर्वाङ्ग में व्याप्त विविध प्रकार के शोथ और शोथ से सम्बद्ध आठ प्रकार के उदर रोग दूर होते हैं (चक्र-

दत्त, उदर चिकित्सा; 52-53)। पुनर्नवा, नीम की छाल, पटोलपत्र, सोंठ, कटुकी, गिलोय, देवदारु और हरड़ के कषाय को पीने से सर्वांगगतशोथ, उदर और पाण्डुरोग नष्ट होते हैं (चक्रदत्त, शोथ चिकित्सा; 10)। शिवदास इसे श्वास और पार्श्वशूल में भी देता है (भैषज्य रत्नावली, शोथाधिकार; 6)।

पुनर्नवा के कषाय व कल्क से शोथ पर स्वेद और उपनाह किया जाता है। गर्भाशयशोथ में इसके क्वाथ की उत्तरवस्ति (vagin_l douche) व योनिस्वेद लाभकारी होता है। पसीना लाने वाली औषधियों में चरक सफ़ेद और लाल दोनों पुनर्नवाओं का उपयोग करता है (सूत्र स्थान 4; 14 (22)। पुनर्नवा शरीर के अन्तःशोथ को हटाती है। सूजी हुई ग्रन्थियों और सन्धियों पर इसके पत्तों की पुल्टिस या निम्नलिखित चीजों के चूर्ण को कांजी के साथ पीस कर कोसा लेप करने से लाभ होता है—पुनर्नवा, देवदार, सोंठ, शोभाञ्जन की छाल और सफ़ेद सरसों (भैषज्य रत्नावली, शोथाधिकार; 38)। कफ़ वातज शोथ पर पुनर्नवा, देवदारु, शोभाञ्जन की छाल, दशमूल और सोंठ को पीस कर लेप किया जाता है (भैषज्य रत्नावली, शोथाधिकार; 10)।

पुनर्नवा की जड़ को दही में घिस कर कुष्ठ पर लेप किया जाता है (चरक, चिकित्सा स्थान 7; 124)। चरक ने कुष्ठघ्न औषधियों में इसका पाठ नहीं किया (चरक सूत्र स्थान, अध्याय 4; 14 (13)।

' ?सात :

नीम

द्रव्यगुण के पुराने लेखकों में पौदे का वानस्पतिक वर्णन करने की परिपाटी न थी। पौदे की विशेषताओं को बताने वाले शब्दों को वे पर्याय कह देते थे। नीम की विशेषताओं को बताने वाले इस प्रकार के तेतीस शब्द संस्कृत में मिलते हैं जिन्हें नीम के नाम या पर्याय कहते हैं।

एक से अधिक पौदों में यदि एक जैसी विशेषताएं मिलती थीं तो उन विशेषताओं को प्रकट करने वाले शब्द उन उन पौदों के नाम के रूप में एक समान प्रयुक्त हो जाते थे। चिकित्सा प्रकरणों में जब इस प्रकार के नाम आते हैं तो कई बार चिकित्सक दुविधा में पड़ जाता है। यह समझना कठिन हो जाता है कि अरिष्ट शब्द से नीम लिया जाय या लहसुन। इस उलझन से बचने के लिए ऐसे सब पर्यायों को नामों में से निकाल देना चाहिए। इन्हें पौदे का परिचय या गुण जानने का साधन ही समझना चाहिए।

कुछ नाम ऐसे हैं जो पौदे के बिलकुल सामान्य गुणों की ओर संकेत करते हैं। जैसे नीम के सुभद्र, प्रभद्र, प्रभद्रक, सर्वतोभद्र, परिभद्र, नियमन, नेता आदि नाम किन्हीं विशेष गुणों का प्रतिपादन नहीं करते। नीम के अतिरिक्त भी सैंकड़ों वनस्पतियों को कल्याणकारी (सुभद्र आदि नाम) और रोगों को नष्ट करने में अग्रणी (नेता, नियमन) कहा जा सकता है। ये नाम नीम के गुणों को जानने के लिए या नीम के स्वरूप को पहिचानने में कोई सहायता नहीं करते। इसलिए ऐसे नामों को पर्यायों में तो रखना ही नहीं चाहिए वानस्पतिक वर्णन में भी इन्हे रखने की आवश्यकता नहीं।

अगले पृष्ठों में चिकित्सा सम्बन्धी उपयोगों की पाद टिप्पणियों में संस्कृत के मूल उद्धरण दिये गये हैं उन में पाठक देखेंगे कि पहले के चिकित्सक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में निम्ब नाम का ही मुख्यतया प्रयोग किया है। अधिक नामों की उलझन से बचने के लिए हमारी सम्मति में, भविष्य के लेखकों को भी केवल इसी एक नाम का व्यवहार करना चाहिए।

संस्कृत के तेतीस पर्याय : संस्कृत के प्रधान ग्रन्थों मे नीम के निम्नलिखित नाम आये है :

तालिका

अमर कोष (500-800 ई.प.)	धन्वन्तरि निघण्टु	राजनिघण्टु (12वीं शती)	मदनविनोद निघण्टु (1374 सन्)	कैयदेव निघण्टु (1450 सन्)	भाव प्रकाश (1550 सन्)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
1 निम्ब	1 निम्ब	1 निम्ब	1 निम्ब	1 निम्ब	1 निम्ब
2 पिचुमर्द				2 पिचुमर्द	2 पिचुमर्द
	2 पिचुमन्द	2 पिचुमन्द	2 पिचुमन्द		3 पिचुमन्द
			3 सुतिक्त		4 सुतिक्त
	3 सुतिक्तक			3 सुतिक्तक	
		3 वरतिक्त			
	4 नियमन		4 नियमन	4 नियमन	5 नियमन
	5 नेता	4 नेता	5 नेता	5 नेता	
3 अरिष्ट	6 अरिष्ट	5 अरिष्ट	6 अरिष्ट	6 अरिष्ट	6 अरिष्ट
		6 अरिष्टफल			
	7 प्रभद्र	7 प्रभद्र		7 प्रभद्र	
			7 प्रभद्रक		
					7 पारिभद्र
	8 पारिभद्रक	8 पारिभद्रक	8 पारिभद्रक	8 पारिभद्रक	
				9 सुभद्र	

(क्रमशः)

तालिका (क्रमश.)

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
4 सर्वतोभद्र	9 सर्वतोभद्र	9 सर्वतोभद्र	9 सर्वतोभद्र	10 सर्वतोभद्र	
			10 कुष्ठहा		
				11 कृमिघ्न	
			11 देवदत्त		
			12 रविसन्निभ		
			13 सूर्यंक		
5 हिङ्गुनिर्यास		10 हिङ्गुनिर्यास			8 हिङ्गुनिर्यास
		11 काकफल			
		12 कीरेष्ट		12 शुकप्रिय	
		13 वमन			
		14 अग्निवमन			
		15 विशीर्णपर्णी			
		16 पवनेष्ट		13 पवनेष्ट	
		17 पीतसारक			
		18 शीत			
		19 छर्दन		14 छर्दन	
6 मानक		20 ज्येष्टामलक			

बहेडा (Terminalia belerica Roxb.) की फल और फूल वाली शाखिका

आंवला (Emblica officinalis Gaertn.) का फलों से लदा वृक्ष

आंवला (Emblica officinalis Gaertn) की फलदार शाखा

हरड़ (Terminalia chebula Retz.) की पुष्पित शाखिका

हरड (Terminalia chebula Retz) की फलदार शाखिका

संस्कृत के पर्यायों का अर्थ : परिचयज्ञापक शब्द : सुमन (सुन्दर, मन को अच्छा लगने वाला); शीर्षपर्ण (शाखाओं के सिरो पर पत्ते गुच्छों में लगते है); विशीर्णपर्णी (झड़ने वाले पत्तों का वृक्ष); पवनेष्ट (वायु का प्रिय वृक्ष); कीरेष्ट, शुकप्रिय (तोतो को फल प्रिय होता है), काकफल (कौए फलो को चाव से खाते हैं); मालक (कौए, तोते आदि पक्षियों से फल की चाहना में घिरा रहने वाला वृक्ष; माल्यते, वेष्ट्यते काकैः शुकैर्वा); हिङ्गुनिर्यास (हींग की-सी गन्ध वाला या आकार वाला गोंद देने वाला वृक्ष); पीतसारक (पीली अन्तः काष्ठ वाला वृक्ष)।

गुण प्रकाश शब्द : निम्ब (स्वास्थ्य को समृद्ध करने वाला; निम्बति स्वास्थ्यम्, णिवि सेचने); नियमन (रोग नियन्ता); नेता (रोगों को नष्ट करने में अग्रणी); सूर्यक, रविसन्निभ (सूर्य के समान स्वास्थ्य प्रदान करने वाला); देवदत्त (देवों से प्रदत्त विशेष गुणों वाला); मालक (शरीर में बल धारण कराने वाला; मलते, मल धारणे); सुभद्र, प्रभद्र, प्रभद्रक (उत्तम लाभकारी); सुभद्र, सर्वतोभद्र, पारिभद्र, पारिभद्रक (सब प्रकार से कल्याणकारी वृक्ष अथवा जिसका प्रत्येक भाग उपयोगी है); तिक्तक, सुतिक्त, सुतिक्तक, वरतिक्त (खूब कड़वा); शीत (शीतल); वरत्वच (श्रेष्ठ गुणकारी छाल वाला); अरिष्ट (अहिंसित, इसमें कीड़े नही लगते); अरिष्ट फल (निमोली कीड़ों का शिकार नहीं होती); कृमिघ्न (कृमिनाशक); छर्दन (वामक); कुष्ठहा (कुष्ठ नाशक); पिचुमर्द (कुष्ठ के एक भेद पिचु को नष्ट करने वाला; पिचु कुष्ठभेदं मर्दयति); पिचुमन्द (कुष्ठ को शांत करने वाला)।

अन्य भाषाओं तथा स्थानों में नाम :

इण्डोचीन	साउ दाउ, स्दाओ, क्सोअान दाउ।
उड़िया	काकोफोलो, लिम्बो, निम्बू, निमू।
अंग्रेजी	इण्डियन लिलैक, नीम, मार्गोसा। अंग्रेजी का मार्गोसा नाम वास्तव में इसका पुराना पुर्तगाली नाम है।
कम्बोडिया	स्दाओ।
कर्णाटकी	वेविना, वेवू, हेव-वेवू, किरि वेवू।
कुमाऊं	बेतैन, नीम।
केनरीज़	बेमू, वेविना, वेवू, कमवेवू, कयपे बिवू, निम्ब, ऑल्लेबवू।
कोचीन चीन	चा दो।
कोंकणी	नीम।
गुजराती	घनुझाड़, कोहम्ब, लिबाडो, लिम्ब, लीम्बड़ो, लिम्बा।
जावा	इम्बा, मिम्बा।
तमिल	अरुलुण्डि, कडुपगई, किन्जी, मलुगम, निरियासम, पिसिउम, सेग्गुमरु उरुगन्धम, वेम्बू, वेम्पू वेपा, वेप्पू, वरुत्तम।

कलकत्ते के ऐतिहासिक विशाल वट वृक्ष का एक भाग

संस्कृत के पर्यायों का अर्थ : परिचयज्ञापक शब्द : सुमन (सुन्दर, मन को अच्छा लगने वाला); शीर्षपर्ण (शाखाओं के सिरों पर पत्ते गुच्छों में लगते हैं); विशीर्णपर्णी (झड़ने वाले पत्तों का वृक्ष); पवनेष्ट (वायु का प्रिय वृक्ष); कीरेष्ट, शुकप्रिय (तोतों को फल प्रिय होता है); काकफल (कौए फलों को चाव से खाते हैं); मालक (कौए, तोते आदि पक्षियों से फल की चाहना में घिरा रहने वाला वृक्ष; माल्यते, वेष्ट्यते काकैः शुकैर्वा); हिङ्गुनिर्यास (*हींग की-सी गन्ध वाला या आकार वाला* गोंद देने वाला वृक्ष); पीतसारक (पीली अन्तः काष्ठ वाला वृक्ष)।

गुण प्रकाश शब्द : निम्ब (स्वास्थ्य को समृद्ध करने वाला; निम्बति स्वास्थ्यम्, णिवि सेचने); नियमन (रोग नियन्ता); नेता (रोगों को नष्ट करने में अग्रणी); सूर्यक, रविसन्निभ (सूर्य के समान स्वास्थ्य प्रदान करने वाला); देवदत्त (देवों से प्रदत्त विशेष गुणों वाला); मालक (शरीर में बल धारण कराने वाला; मलते, मल धारणे); सुभद्र, प्रभद्र, प्रभद्रक (उत्तम लाभकारी); सुभद्र, सर्वतोभद्र, पारिभद्र, पारिभद्रक (सब प्रकार से कल्याणकारी वृक्ष अथवा जिसका प्रत्येक भाग उपयोगी है); तिक्तक, सुतिक्त, सुतिक्तक, वरतिक्त (खूब कड़वा); शीत (शीतल); वरत्वच (श्रेष्ठ गुणकारी छाल वाला); अरिष्ट (अहिंसित, इसमें कीड़े नहीं लगते); अरिष्ट फल (निमोली कीड़ों का शिकार नहीं होती); कृमिघ्न (कृमिनाशक); छर्दन (वामक); कुष्ठहा (कुष्ठ नाशक); पिचुमर्द (कुष्ठ के एक भेद पिचु को नष्ट करने वाला; पिचु कुष्ठभेदं मर्दयति); पिचुमन्द (कुष्ठ को शांत करने वाला)।

अन्य भाषाओं तथा स्थानों में नाम :

इण्डोचीन	साउ दाउ, स्दाओ, क्सोआन दाउ।
उड़िया	काकोफोलो, लिम्बो, निम्बू, निमू।
अंग्रेज़ी	इण्डियन लिलैक, नीम, मार्गोसा।
	अंग्रेज़ी का मार्गोसा नाम वास्तव में इसका पुराना पुर्तगाली नाम है।
कम्बोडिया	स्दाओ।
कर्णाटकी	वेविना, वेवू, हेव-वेवू, किरि वेवू।
कुमाऊं	बेतैन, नीम।
केनरीज़	बेमू, बेविना, वेवू, कमवेवू, कयपे विवू, निम्ब, ऑल्लेवबू।
कोचीन चीन	चा द्दो।
कोंकणी	नीम।
गुजराती	घनुझाड़, कोहम्ब, लिंबाडो, लिम्ब, लीम्बड़ो, लिम्ब्रा।
जावा	इम्बा, मिम्बा।
तमिल	अरुलुण्डि, कडुपग्गाई, किन्जी, मलुगम, निरियासम, पिसिउम, सेन्गुमर उक्कगन्धम, वेम्बू, वेम्पू वेपा, वेप्पू, वरुतम।

तेलगू	निम्बमु, तरुक, वेमु, वेपा, या या, येपु, येप्पा, वेम्पा।
पर्शियन	आजादद्रस्त हिन्दी, नीब, निब।
पालामाऊ	अगस।
पुर्तगाली	अमरगोसीरा, मार्गोसा, निम्बो।
पंजाबी	नीम।
बम्बई	बलनिम्ब, नीम।
बर्मा	बौतमक, कमक, तमविन, तमक, थमक, थिन, थिन्बो-तमक थिनबोरो-तमख।
बाली	इन्तरन।
बंगाली	नीम, नीम गाछ।
मध्यभारत	लिम्बो।
मराठी	बालन्त निम्ब, कडू खजूर, कडू निम, लिम्ब, लिम्बछ झाड़, निम्बम।
मलयालम	अरितिक्त, आर्यवेप्पू, निम्बम, पिसुमर्दम, रावेजप्पु, वेप्पु।
लैटिन	आजाडिराच्टा इण्डिका ए. जुस्स. (*Azadirachta indica* A. Juss.)।
सन्थाली	नीम।
सिन्धी	निमुरी।
सिंहाली	कोहोम्बा, कोहुम्ब, निम्बुनिम्बगह।
स्यामी	सदाओ, दाओ।
हिन्दी	नीम।

लैटिन नाम कैसे बना? : लीनियस ने नीम का लैटिन नाम मेलिआ आजाडिराच्टा (*Melia azadirachta* Linn.) और बकायन का मेलिआ अज़ेडाराच रखा था। दोनों पौदों को इस तरह मेलिआ गण के अन्दर रखा जाता रहा। बाद के वनस्पति शास्त्र वेत्ताओं ने नीम को अलग गण आजाडिराच्टा में रखा और जुसू (Jussieu) ने इसे आजाडिराच्टा इण्डिका जुस्स (*Azadirachta indica* Juss.) नाम दिया। मेलिआसी नैसर्गिक वर्ग के अन्दर आजाडिराच्टा गण में यह अकेला पौदा ही है। ब्रैंडिस (1874) की सम्मति मे मेलिआ और आएज़ाडिराच्टा ये दो अलग-अलग गण रखने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है। वे इन दोनों गणों को मिलाने के पक्ष में है। इसके लैटिन नाम के बारे में वे कहते हैं कि लीनियस के नीम के लिए मेलिआ आज़ाडिराच्टा लिन. और बकायन के लिए मेलिआ आज़ेडाराच लिन. नाम तो एक ही शब्द को स्पेलिंग करने के दो तरीके हैं, ये नाम साथ-साथ नहीं रह सकते। इस युक्ति के आधार पर ब्रैंण्डिस ने जुसू के जातिवाचक नाम इण्डिका को ले लिया और नीम को मेलिआ इण्डिका नाम दे दिया परन्तु अब तक भी वनस्पति शास्त्र के आधुनिक लेखकों में इस विषय में निश्चित मत नहीं हो सका है। वैसे आजकल इसका अधिक मान्य नाम आजाडिराच्टा इण्डिका ही है।

रोबर्ट वेण्ट्ले और हेनरी ट्रीमेन (1880) के अनुसार मेलिआ शब्द ग्रीक है और आज़ाडिराच्टा शब्द पर्शियन शब्द आज़ादद्रख्त से बना है। भारत मे मुसलमानों के आगमन पर नीम के उपयोगी गुणों की ओर जब उनका ध्यान गया तो उन्होने इसका नाम 'भारत का स्वतन्त्र वृक्ष' (आज़ाद द्रख्त हिन्दी) रख दिया क्योंकि यह उनके बकायन से मिलता था जिसे वे अपने देश में आज़ाद द्रख्त कहते थे (थियोडोर कुक, 1903)। 'आज़ाद द्रख्त हिन्दी' का रूपान्तर ही लैटिन नाम आज़ेडिरेक्टा इण्डिका है। अमार्गोसो (Amargoso) पुर्तगाली नाम है जिसका अर्थ कड़वा होता है। अमार्गोसो से मार्गोसा शब्द बना है।

प्राप्ति स्थान : भारत के अधिक भागों मे यह वृक्ष सब स्थानों पर बोया हुआ या बोये हुए वृक्षो से स्वतः उगा हुआ मिलता है। उत्तर-पश्चिम के शुष्क जलवायु में और श्रीलंका में सर्वत्र बोया जाता है। हिमालय के निचले भागो मे, कर्णाटक और दक्षिण के कुछ भागों में, इरावती घाटी के शुष्क प्रदेश में, प्रोम ज़िले में योमा और आवा की उच्चतर श्रेणियों में, ब्रिटिश फ्रण्टियर से परे और सम्भवत. बर्मा के अधिक जंगलो में यह जंगली वृक्ष है। देहरादून और सहारनपुर जिलो में जंगली और बोया हुआ दोनों रूपों में मिलता है। सतलुज के पश्चिम तक मिल जाता है और यहा पर यह अपेक्षाकृत कम है, आकार में भी छोटा हो गया है। जेहलम से परे यह सर्वथा लुप्त हो गया है। कुमायू मे 1,524 मीटर से भी ऊपर पहुंच गया है। उत्तरी और पश्चिमी भारत (पाकिस्तान) में गांव की चौपालों, धर्मशालाओं, गांव के बाहिर जोहड़ो, घरों और बगीचों के आसपास तथा सड़कों के किनारे बहुधा बोया जाता है।

भारत का पौदा नहीं है ? : लीनियस (स्पिसीज प्लाण्टेरम, 1753, पृष्ठ 385) ने नीम को भारत का निवासी बताया है। डिकैण्डोल (मोनोग्राफ़ी फैनेरोगैमैरम, 1893. पृष्ठ 460) इसे पाण्डिचेरी, श्रीलंका और जावा मे उगने वाला पौदा बताते हैं। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934) में इसे जो 'भारत, श्रीलंका और मलयद्वीप समूह में देशीय' कहा गया है उससे अनेक विद्वान सहमत नही है। थियोडोर कुक (बौम्बे फ्लोरा, 1903) के अनुसार यद्यपि 'बम्बई प्रेसिडेन्सी में सब जगह मिल जाता है। परन्तु कही पर भी वस्तुतः जंगली नही है।' 'इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नही है कि यह कुमाऊं में वास्तव में स्वयंजात वृक्ष है' (ओस्मैस्टन, ए. ई.; ए फ़ौरेस्ट फ्लोरा फौर कुमाऊं, 1927)। प्रायः सब वनस्पति शास्त्र वेत्ता इसे उत्तर-पश्चिम भारत मे कही पर भी नैसर्गिक वनों में वास्तविक जंगली नही मानते। उत्तरीय या पश्चिमीय भारत के गावो के आसपास तथा बगीचों और झुरमुटो मे ही पाया जाता है (ब्रैण्डिस, ए मैनुअल औफ़ इण्डियन टिम्बर्स, 1902)। यदि 'भारत के कुछ स्थानो पर जगली है' (बर्किल, ए डिक्शनरी औफ़ दि इकोनोमिक प्रौडक्ट्स औफ़ मलय पेनिन्सुला, 1935) 'तो सम्भवत. कर्नाटक और दक्षिण के कुछ भागो में वनो मे जंगली होगा' (ब्रैण्डिस, 1902)। भारत मे सर्वत्र यह इतना अधिक बोया जाता है और बोये हुए वृक्षो से इतना तेज़ी से फैल जाता

है कि अब इसका अमल निसर्गगृह निश्चय करना असम्भव हो गया है। भारत में यह सर्वत्र प्राकृतिक उपज बना लिया गया है (डी. ब्रैण्डिस, इण्डियन ट्रीज, 1906)।

'सम्भवतः ब्रह्मा के कुछ शुष्क वनों मे जंगली है' (ब्रैण्डिस 1902)। 'प्रोम से ऊपर की ओर इरावदी घाटी के शुष्क प्रदेश में जंगली है' (ब्रैण्डिस, 1906)। 'जावा तथा छोटे सुण्डा द्वीपों मे जंगली है और मलय प्रायद्वीप में, मलक्का में, बाहर से लाया गया है' (बर्किल, 1935)। रीड्ली (1922) के अनुसार निस्सन्देह भारत से मलय प्रायद्वीप मे गया है (फ्लोरा ऑफ दि मलय पेनिन्सुला, हेन्री एन. रीड्ली, 1922)। जोहोर में भी यह भारत या जावा से गया प्रतीत होता है क्योंकि बर्किल (1935) ने प्रकट किया है कि 'जोहोर में इसकी छाल प्राप्त करना सम्भवतः कठिन है इसलिए इसके ये उपयोग जावा या भारत से ज्ञात हुए होंगे।'

बहुधा बोये हुए रूप में वृक्ष की प्राप्ति के कारण आधुनिक वनस्पतिशास्त्रवेत्ता इसके वास्तविक उद्‌गम स्थान को भारत मानने में सन्देह प्रकट करने लगे हैं।

ऐतिहासिक साक्षी : पुरातत्त्व अन्वेषकों को मोहञ्जोदड़ो की खुदाई से प्राप्त कुछ ताबीजों पर नीम वृक्ष मिला है (अर्नेस्ट मैके, 1948, अर्ली इण्डस सिवीलिज़ेशन्स, पृष्ठ 59)। जातकों मे इसके अत्यन्त कड़वे गुण को बताते हुए वर्णन आता है कि नीम को चाहे शर्बत और घी से सींचें वह मीठा नही हो सकता। भारतीय चिकित्सा के प्राचीनतम शास्त्रों चरक, सुश्रुत में हम ताज़े पत्तों, फलों, फूलों और छाल आदि पौदे के प्रत्येक भाग को कषाय, कल्क आदि विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता हुआ देखते हैं। इससे पता चलता है कि उस समय यह सुगमता से प्राप्त था और सर्व-साधारण तथा चिकित्सकों की पहुंच में था। यद्यपि निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि तब यह केवल बगीचो में और मानवीय निवासो के पास-पड़ौस मे ही लगाया हुआ मिलता था या अरण्य मे स्वयंजात था। खयाल है कि यह बस्तियों के आसपास खूब फैल चुका होगा।

धर्म, लोक विश्वास : सिन्धु घाटी की सभ्यता का मनुष्य जिस प्रकार बुरी शक्तियों को दूर रखने के उद्‌देश्य से नीम को आदर से देखता था उसी प्रकार आज का देहाती मनुष्य भी भूत पिशाच की बाधाओं से बचने के लिए नीम का आश्रय लेता है। शरीर के किसी अंग विशेष मे विद्यमान रोग मे और सर्वांग व्यापी रोगो मे भी हरी कोमल शाखाओं से रोग को झाड़ कर निकाल देने का रिवाज भारत मे सब जगह अशिक्षित वर्ग में पाया जाता है। उनकी दृष्टि में रोगों को उत्पन्न करने में कारण समझे जाने वाले भूत-पिशाच इससे भाग जाते हैं। मारवाड़ में तथा भारत मे अन्य स्थानों पर भी मृतक के अन्तिम संस्कार के बाद जब श्मशान से लौटते हैं और सम्बन्धियों को आश्वासन देने जाते हैं तो विदाई के समय द्वार पर खड़े नाई या ब्राह्मण के हाथ से नीम की एक-एक पत्ती लेते जाते हैं। मुंह का स्वाद जरा कड़वा करके पत्ती फेंक दी जाती है। जॉर्ज वाट (1891) ने भी लिखा है कि 'कुछ जातियो मे श्मशान से लौटने पर शोक के प्रतीक रूप मे पत्तियां मुख में रखी जाती हैं।'

मांगलिक समारोहों में नीम काम आता है। विवाहोत्सवों मे तोरण को पत्तो से सजाना व्यापक प्रथा है। मारवाड़ में विवाह के बाद जब दुलहिन घर आती है तो दम्पति एक खेल खेलते है जिसे सोटसोटकी कहते है। इसमें नीम की टहनी ही बहुधा बीच का उपकरण बनती है। बरात मे नाई नीम की शाखा अपने साथ रखता है। मैसूर यात्रा के विवरण में बुकानन ने एक मनोरजक उत्सव का उल्लेख किया है—'दो-तीन वर्ष मे एक बार गांव के कोरमा चन्दा कर के पीतल का एक बरतन खरीदते है जिसमे नीम की पांच शाखाएं और नारियल रखते है। इस पर फूल चढ़ा कर चन्दन जल छिड़कते है। तीन दिन तक यह छोटे से मण्डप में पड़ा रहता है। इस बीच में लोग दावतें उड़ाते हैं और पीते है, शिव की पुत्री मरीमा को मेमनों और मुर्गियो की बलि चढाते है। तीन दिन बाद उत्सव की समाप्ति पर बरतन को प्रवाहित कर दिया जाता है।' दिनाजपुर के आकड़ों (स्टैटिस्टिक्स ऑफ़ दिनाजपुर) में यही लेखक एक स्थान पर लिखते है कि पुनीत जन अपने मोहक सौन्दर्य को स्थिर रखने के लिए पत्तों का बहुत उपयोग करते हैं।' फ़ार्माकोग्राफ़िया इण्डिका के लेखक इस पर लिखते हैं कि 'भारत के अन्य भागों में इस प्रथा को घटस्थापन कहते है और दुर्भाग्य तथा रोग को निकालने के विचार से यह किया जाता है।'

लिस्बोआ के अनुसार शालिवाहन शक के वर्षारम्भिक उत्सव मे हिन्दू पत्तों को खाते हैं जिससे रोग से बचे रहे।

बम्बई की यात्रा (टूर इन बौम्बे) में होव ने बताया है कि 'गण्टूर के लोग नीम की पूजा करते हैं। दूसरे प्रान्तो मे जिस तरह पीपल की उपासना की जाती है उसी तरह गण्टूर मे बांझ स्त्रियां प्रतिदिन सुबह अपने व्रत तथा धार्मिक परिक्रमाएं आदि इसके चारो ओर करती है।'

संस्कृत के मुहाविरों में नीम : आयुर्वेद शास्त्र के अतिरिक्त अन्य संस्कृत साहित्य में भी नीम का उल्लेख मिलता है। इसके कड़वेपन, फलों की निरर्थकता आदि को दिखाने वाली अनेक उक्तियां मिलती हैं। छोटी-छोटी उक्तियों (मुहाविरों) का प्रयोग तो हम हिन्दी मे भी कर सकते है। कुछ उक्तियां हम यहा देते हैं :

नीम का पेड़ चाहे बहुत पुराना भी हो जाय मीठा नहीं होता है।[1] नीम को जो कुल्हाड़े से काटें, जो घी और शहद से सीचें और जो सुगन्धित पदार्थों से सींचें तथा पूजा करें उन सबके लिए यह कड़वा ही है।[2] चाहे जो भी सत्कार करें नीम आम नहीं बन

1क सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शर्करायते। चाणक्य सूत्र, अध्याय 5।
ख सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शङ्कुलायते। चाणक्य सूत्र।
2 यश्च निम्ब परशुना यश्चैन मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः।

सकता।[1] अरे नीम, अधिक क्या कहें, तेरे फल भी बेकार हैं, क्योंकि जो पक जाते हैं उन्हें कौए ही समाप्त कर डालते है।[2] नीम के फलों को कौए खाते हैं।[3] अरे, अरे, गजब हो गया! बड़ा गजब हो गया!! विधाता ने क्या मजेदार चीज बनाई कि नीम के पके फल खाने योग्य बना दिये और उस पर यह कि उन फलों को खाने की कला के पारखी कौए बना डाले।[4] जिस आम से कामना करने वाला मनोभिलषित फल को पाकर प्रसन्नता से मुग्ध हुआ-हुआ अपने बन्धु-बान्धवों के साथ अनेक प्रकार के भोगों का आनन्द लेता था उस पेड़ को दुर्भाग्य से किसी विवेकशून्य मन वाले ने काट कर उसके स्थान पर नीम लगा दिया है जिस पर कौए रहते हैं।[5] देखो इस सुन्दर मेल को— आम का बौर खिलते ही भवरे मंडराने लगते हैं और नीम का फूल आने पर कौओं के झुण्ड व्याकुलता से नीम पर धावा बोल देते है।[6]

कृषि : नीम बहुत प्रकार की जमीनों में पैदा हो जाता है। काली कपास की जमीन पर अच्छा पनपता है और चिकनी मिट्टी वाली जमीन पर बुरा नही होता। सूखी पथरीली, कम गहरी और उसके नीचे कम जल वाली जमीन में यह अच्छा होता है।

स्थान : सूखे और अपेक्षाकृत कुछ कम सूखे स्थानों में जहां की वर्षा पैंतालीस से एक सौ बारह सेण्टीमीटर तक होती है और जहा का उच्चतम तापमान 120° फ़ार्नहाइट होता है, यह अच्छा फूलता-फलता है। अधिक ठण्ड को यह सहन नही कर सकता।

प्राकृतिक उत्पत्ति : प्राकृतिक अवस्थाओं में बीज बरसात मे भूमि पर गिरते हैं। एक-दो सप्ताह मे उनमें अंकुरोत्पत्ति हो जाती है। कंटकाकीर्ण छोटी-बड़ी झाड़ियां प्रारम्भ में नवजात पौदों की रक्षा करती हैं और धीरे-धीरे यह अपने बल पर खड़ा हो जाता है।

1क सुसस्कृतोऽपि पिचुमन्दो न सहकारः। — चाणक्य सूत्र, 70; अध्याय 5।
ख सस्कृत पिचुमन्द. न सहकारो भवति। — चाणक्य सूत्र।

2 निम्ब किं बहुनोक्तेन फलानि विफलानि ते।
यानि सजातपाकानि काका निःशेषयन्त्यमी॥

3 निम्बफलं काकैर्भुज्यते। — चाणक्य सूत्र, 497।

4 चित्रं चित्रं वत बत महच्चित्रमेतद्विचित्र
जातो दैवादुचितघटना सविधाता विधाता।
यन्निम्बाना परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविद. काकलोकः॥

5 यस्मादर्थिजनो मनोऽभिलषित लब्ध्वा मुदा मेदुरः
सार्धं बन्धुजनश्चकार विविधान्भोगान्विलासोद्धुरः।
तं दैवेन विवेकशून्यमनसा निर्मूल्य चूतद्रुमं
स्थाने तस्य तु काकलोकवसतिर्निम्बः समारोपित॥

6 पश्यानुरूपमिन्दिन्दिरेण माकन्दशेखरोमुखरः।
अपि च पिचुमन्दमुकुले मौकुलिकुलमाकुलं मिलति॥

बीज बोना : यदि बीजों को बो कर पौदे तैयार करने हो तो बीजो को इकट्ठा करने में सावधानी की आवश्यकता होती है। पूर्ण पक्व हो जाने पर जुलाई के लगभग वृक्षों पर से बीज उतार लिये जाने चाहिए और उसके बाद जितना सम्भव हो शीघ्र बो दिये जाने चाहिए। बीज कमज़ोर होते है, इस लिये देर तक जीवित नही रह सकते।

वृद्धि : पहली मौसम में पौधों की वृद्धि साधारण रहती है। सामान्यतया साल के अन्त तक पौदे की ऊंचाई दस से बीस सेण्टीमीटर तक हो जाती है। वन अनुसन्धान-शाला, देहरादून मे किये गये परीक्षणो से ज्ञात होता है कि यदि पानी आदि देने का ध्यान रखा जाय और उचित देखरेख की जाय तो दूसरी मौसम के अन्त तक 60 से 120 सेण्टीमीटर और तीसरी मौसम के अन्त तक 1·50 से 2·10 मीटर तक पौदे की ऊचाई पहुंच जाती है। तने को काटने से बहुत-सी नई शाखाएं निकल आती है जो तेज़ी से बढ़ती है, ये मजबूत होती हैं।

पाले का छोटे पौदों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि ये एक बार मर कर ज़मीन की समता में पहुंच जायें तो इनमें दोबारा उठने की शक्ति नही रहती। भूमि मे अत्यधिक नमी को ये सहन नही कर सकते।

वानस्पतिक वर्णन : बड़ा, बारह से अठारह मीटर ऊंचा, सदा हरा, सुन्दर छाया-दार अति उपयोगी वृक्ष है। घेरा 1·80 से 2·70 मीटर तक पहुंच जाता है। शाखाएं लंबी, फैली हुई और गोल-चौड़ा हरा मुकुट-सा बनाती हुई फैलती है।

छाल : वृक्ष के आकार और आयु के अनुसार छाल को आकृति भिन्न-भिन्न होती है। तीन-चार साल से अधिक आयु के वृक्ष की काण्डज छाल की ऊपरी स्तर .62 से 1·25 सेंटीमीटर तक भिन्न-भिन्न होती है। छोटी शाखाओ की छाल चिकनी, मैले से जामनी रंग की होती है जिस पर राख के रंग की लम्बाई के रुख रेखाएं पड़ी होती है। छाल के अन्दर की तह ताज़ी अवस्था मे लाल-सी भूरी या पीली-सी सफ़ेद और स्वाद मे बहुत कड़वी होती है। बाहर की अधिक गहरे रंग की स्तर में ग्राही गुण अधिक परिमाण में होता है।

गोंद : छाल मे से चमकीले अम्बर के रंग की स्वच्छ गोंद निकलती है। यह छाल की तरह कड़वी नही होती। पानी में पूर्णतया विलेय है। विलेयता के कारण यह सदा आर्द्र वायु मण्डल मे बह जाती है। भारत मे कहीं-कहीं यह छोटे-छोटे डलो मे इकट्ठी की जाती है।

पत्ते : 20 से 36.50 सेण्टीमीटर लम्बे, शाखाओं के सिरों पर अधिक घने, पत्तियां नौ से तेरह, 2.50 से 7.50 सेण्टीमीर लम्बी, 1.25 से 3.75 सेण्टीमीटर चौड़ी, भाला-कार, कुछ टेढ़ी, एक किनारे की ओर मुड़ी हुई जिससे एक किनारा दूसरे किनारे से लंबा होता है। पत्तियों के किनारे दन्तुर; रंग में पीली हरी।

फूल : छोटे सफेद, मीठी शहद की-सी तीव्र गन्ध वाले, 12.50 से 20 सेण्टीमीटर लम्बी सीखों पर लगते हैं। फूलों की मीठी सुगन्ध रात में विशेष आती है और हवा के

झोंकों के साथ वायु मे बहती हैं। फूलो के गुच्छे मार्च-मई में निकलते है।

फल : जून-अगस्त मे पकते है। कच्चे फल हरे, पकने पर पीले से मटियाले, चिकने, लम्बोतरे-गोल एक सेण्टीमीटर लम्बे, मीठे, कम गूदे वाले होते हैं। कच्चे फल को दबाने से सफेद दूध-सा रस निकलता है। फल के पकने पर यह रस मीठे लेसदार नीरंग अर्द्ध ठोस के रूप में बदल जाता है। फलों को निमोली कहते हैं। बीज पिस्ते की शक्ल का, प्रायः एक और कभी-कभी दो भी होते है।

सदा हरा : नीम सामान्यतया सदा हरा वृक्ष है। केवल शुष्क प्रदेशों में बहुत थोड़े समय के लिए यह लगभग पत्रविहीन हो जाता है। उत्तर भारत में पौदे की वृद्धि अक्टूबर-नवम्बर में रुक जाती है। पुराने सब पत्तो के गिर जाने के बाद मार्च-अप्रैल में नये पत्ते निकल आते है।

उपयोगी भाग : जड़, तने और मोटी शाखाओं की छाल, कच्चे फल, पके बीज और उनमे से निकलने वाला तेल, फूल, पत्ते, लकड़ी, गोंद, मद आदि वृक्ष का प्रत्येक भाग उपयोग में आता है। चिकित्सा प्रयोजनों से छाल की बाहर की तह न ले कर भीतरी छाल लेना चाहिए और सूखी तथा पुरानी छाल की अपेक्षा ताजी छाल लेना अधिक अच्छा होता है। इण्डियन फ़ार्माकोपिया में छाल एज़ेडिरेक्टी कॉर्टेक्स के नाम से अधिकृत है। परन्तु छाल की केवल अन्दर की तह ही इण्डियन फ़ार्माकोपिया के योगों मे लिए जाने के निर्देश दिये गये है। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934) में नीम की छाल का रंग, आकृति, रचना आदि को बताते हुए नग्न आंखो से उसकी पहचान तथा आणुवीक्षिक (माइक्रोस्कोपिक) पहिचान भी दी गई है। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934, पृष्ठ 483) के अनुसार भारत और ईस्टर्न कोलोनीज़ में इसे जेन्शियन या क्वाशिया के समान प्रयोग किया जाता है और सामान्यतया यह मद्यासव (टिंक्चर) या फाण्ट के रूप में व्यवहार किया जाता है। तने और शाखाओ की छाल तथा कच्चे फल की अपेक्षा जड़ की छाल का कार्य अधिक शीघ्र तथा तेज समझा जाता है।

ताज़े पत्ते एज़ेडिरेक्टी फोलिया नाम के अन्तर्गत इण्डियन फ़ार्माकोपिया में अधिकृत (official) है। पत्ते और छाल ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया में अधिकृत नहीं है।

संग्रह : चिकित्सा प्रयोजनो के लिए फल तब इकट्ठे किये जाने चाहिए, जब छोटे ही हों। अपने पूर्ण आकार से आधे आकार तक पहुंचने से पूर्व ही तोड़ लेने चाहिए। छोटे-छोटे कतरों में काट कर धूप में सुखा लें और नमीरहित सूखे स्थान पर बन्द कनस्तर में रखें। तेल निकालने के उद्देश्य से बीजो को संग्रह करना हो तो ध्यान रखना चाहिए कि पकी निमोलिया पेड़ पर से गिरने के बाद ज़मीन पर पड़ी सड़ती न रहे क्योंकि बीज जितने अच्छे और ताज़े होंगे उनसे निकाले गये तेल को रिफ़ाइन करने मे उतनी ही सुविधा रहेगी। एक बड़ा वृक्ष औसत 500 से 600 किलोग्राम निमोली दे देता है सूखने पर उसकी नमी लगभग चालीस प्रति शत कम हो जाती है।

शीतल छाया देने वाला : अनेक स्थानों पर मैंने नीम वृक्षों को विशाल पथवृक्षो

के रूप में देखा है। चौड़ी सड़क के दोनों ओर दूर तक लगे हुए और ऊपर मिल कर एक लम्बी हरी रेखा बनाते हुये ये सुन्दर शीतल छाया देने वाले पथवृक्ष राहगीरो के लिए बहुत सुखदायी होते हैं। गर्मियो मे जब बहुत से वृक्ष नग्न होते हैं यह सुहावनी छाया देता रहता है। ठण्डी छाया देने के लिए अत्युत्तम पथवृक्ष के रूप में इसकी बहुत देर से ख्याति रही है। मङ्गलकारी वृक्ष होने के विश्वास से भी यह पार्कों और गृहोद्यानो में सातवी शताब्दी से लगाया जा रहा है।[1] जेम्स फ़ोर्ब्स (1813) के 'पूर्वीय देशों के सस्मरण' (ओरिएण्टल मेमोयर्स, दूसरा संस्करण, जिल्द 2, 445) से पता चलता है कि मुख्य चौराहों पर नियमित रूप से सुन्दर नीम वृक्ष लगाये जाते थे। 1834 मे (चिट्टी, एस. सी., 1834, दि सीलोन गज़ेटियर, सीलोन, पृष्ठ 183) श्रीलका के गिरजे के पास नीम और इमली के कई पेड़ खड़े थे और 1893 में (ट्रिमेन, हेन्री, 1893, फ़्लोरा ऑफ़ सीलोन) जफ़ना जिले मे झुरमुटों मे तथा पथवृक्ष के रूप मे नीम खूब बोया हुआ था।

स्वास्थ्यप्रद वृक्ष : भारत मे नीम बोने का रिवाज इतना प्रचलित होने का कारण यह समझा जाता है कि यह वायु को शुद्ध रखता है और मलेरिया के मच्छरों को दूर रखता है। इसके पत्तों मे गुजर कर आने वाली हवा स्वास्थ्य के लिए अच्छी समझी जाती है। नीचे गिर कर सड़ते हुए पत्ते सम्भवतः छोटे हानिकारक जीवो तथा मलेरिया के जातकों (लार्वों) को आसपास न पनपने देते हो।

लकड़ी : नीम की लकड़ी अच्छी टिकाऊ होती है। बाहरी परिस्थितियों में भी टिकाऊ है। बिना सुखाई लकड़ी का भार 24·75 से 26 किलोग्राम और सूखी हुई का भार 20·25 से 23·40 किलोग्राम प्रति घनफुट (.028 घन मीटर) होता है। एक घन इंच (16·4 घन सेण्टीमीटर) की व्यत्यस्त (ट्रान्सवर्स) शक्ति 2·55 से 5·125 टन है। मोटे वृक्षो से ली गई लकड़ी अच्छी होती है। इसमे पेटियों और बक्सों को बनाने के काम आने वाली लकड़ी जैसी कठोरता होती है। लकड़ी असली महागोनी (Swietenia mahagoni Jacq.) से मिलती है परन्तु भेद यह है कि इसके दानो मे उतना चिकनापन नही होता और औजारो के नीचे उतना अच्छी तरह इस पर काम नही किया जा सकता। चीरना कठिन नही है। इस गुण में सागौन के बराबर है। हाथ के औजारो और मशीनों से इस पर सामान्यतया सुगमता से काम किया जा सकता है। खराद पर फ़िनिश भी उत्तम आती है, परन्तु पौलिश उतनी अच्छी नही आती। कुछ नमूनों में व्यासार्द्ध (रेडियस) के प्रति 2·50 सेण्टीमीटर मे पांच छल्ले दीखते है जो वृक्ष की अच्छी वृद्धि की ओर सकेत करते हैं। खुली हवा के सम्पर्क में रहने से अन्त:काष्ठ का रंग अधिक गहरा हो जाता है। लकड़ी मैल लाल रग की होती है। चीरते हुए इसमे से एक गन्ध आती है जो महागोनी से बहुत कुछ मिलती है। पुरानी लकड़ी मे यह गन्ध नही आती। जलाने पर

---

1 अरिष्टाशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः ।
मङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥ बृहत्संहिता, अध्याय 55: 3।

झोंकों के साथ वायु मे बहती है। फूलो के गुच्छे मार्च-मई में निकलते है।

फल : जून-अगस्त में पकते हैं। कच्चे फल हरे, पकने पर पीले से मटियाले, चिकने, लम्बोतरे-गोल एक सेण्टीमीटर लम्बे, मीठे, कम गूदे वाले होते हैं। कच्चे फल को दबाने से सफेद दूध-सा रस निकलता है। फल के पकने पर यह रस मीठे लेसदार नीरंग अर्द्ध ठोस के रूप मे बदल जाता है। फलों को निमोली कहते हैं। बीज पिस्ते की शक्ल का, प्राय: एक और कभी-कभी दो भी होते है।

सदा हरा : नीम सामान्यतया सदा हरा वृक्ष है। केवल शुष्क प्रदेशो मे बहुत थोड़े समय के लिए यह लगभग पत्रविहीन हो जाता है। उत्तर भारत मे पौदे की वृद्धि अक्टूबर-नवम्बर में रुक जाती है। पुराने सब पत्तों के गिर जाने के बाद मार्च-अप्रैल में नये पत्ते निकल आते है।

उपयोगी भाग : जड़, तने और मोटी शाखाओं की छाल, कच्चे फल, पके बीज और उनमें से निकलने वाला तेल, फूल, पत्ते, लकड़ी, गोंद, मद आदि वृक्ष का प्रत्येक भाग उपयोग में आता है। चिकित्सा प्रयोजनों से छाल की बाहर की तह न ले कर भीतरी छाल लेना चाहिए और सूखी तथा पुरानी छाल की अपेक्षा ताजी छाल लेना अधिक अच्छा होता है। इण्डियन फ़ार्माकोपिया में छाल एज़ेडिरेक्टी कोर्टेक्स के नाम से अधिकृत है। परन्तु छाल की केवल अन्दर की तह ही इण्डियन फ़ार्माकोपिया के योगों में लिए जाने के निर्देश दिये गये हैं। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934) में नीम की छाल का रंग, आकृति, रचना आदि को बताते हुए नग्न आखों से उसकी पहचान तथा आणुवीक्षिक (माइक्रोस्कोपिक) पहिचान भी दी गई है। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934, पृष्ठ 483) के अनुसार भारत और ईस्टर्न कोलोनीज में इसे जेन्शियन या क्वाशिया के समान प्रयोग किया जाता है और सामान्यतया यह मद्यासव (टिंक्चर) या फाण्ट के रूप में व्यवहार किया जाता है। तने और शाखाओ की छाल तथा कच्चे फल की अपेक्षा जड़ की छाल का कार्य अधिक शीघ्र तथा तेज़ समझा जाता है।

ताजे पत्ते एज़ेडिरेक्टी फ़ोलिया नाम के अन्तर्गत इण्डियन फ़ार्माकोपिया में अधिकृत (official) हैं। पत्ते और छाल ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया में अधिकृत नही है।

संग्रह : चिकित्सा प्रयोजनो के लिए फल तब इकट्ठे किये जाने चाहिए, जब छोटे ही हों। अपने पूर्ण आकार से आधे आकार तक पहुंचने से पूर्व ही तोड़ लेने चाहिए। छोटे-छोटे कतरों में काट कर धूप में सुखा लें और नमीरहित सूखे स्थान पर बन्द कनस्तर में रखें। तेल निकालने के उद्देश्य से बीजो को संग्रह करना हो तो ध्यान रखना चाहिए कि पकी निमोलियां पेड़ पर से गिरने के बाद जमीन पर पड़ी सड़ती न रहें क्योंकि बीज जितने अच्छे और ताजे होंगे उनसे निकाले गये तेल को रिफ़ाइन करने में उतनी ही सुविधा रहेगी। एक बड़ा वृक्ष औसत 500 से 600 किलोग्राम निमोली दे देता है सूखने पर उनकी नमी लगभग चालीस प्रति शत कम हो जाती है।

शीतल छाया देने वाला : अनेक स्थानों पर मैंने नीम वृक्षों को विशाल पथवृक्षों

के रूप में देखा है। चौड़ी सड़क के दोनों ओर दूर तक लगे हुए और ऊपर मिल कर एक लम्बी हरी रेखा बनाते हुये ये सुन्दर शीतल छाया देने वाले पथवृक्ष राहगीरो के लिए बहुत सुखदायी होते है। गर्मियो मे जब बहुत से वृक्ष नग्न होते है यह सुहावनी छाया देता रहता है। ठण्डी छाया देने के लिए अत्युत्तम पथवृक्ष के रूप में इसकी बहुत देर से ख्याति रही है। मङ्गलकारी वृक्ष होने के विश्वास से भी यह पार्कों और गृहोद्यानो मे सातवी शताब्दी से लगाया जा रहा है।[1] जेम्स फ़ोर्ब्स (1813) के 'पूर्वीय देशों के सस्मरण' (ओरिएण्टल मेमोयर्स, दूसरा संस्करण, जिल्द 2, 445) से पता चलता है कि मुख्य चौराहों पर नियमित रूप से सुन्दर नीम वृक्ष लगाये जाते थे। 1834 में (चिट्टी, एस. सी., 1834, दि सीलोन गज़ेटियर, सीलोन, पृष्ठ 183) श्रीलंका के गिरजे के पास नीम और इमली के कई पेड़ खड़े थे और 1893 मे (ट्रिमेन, हेन्री, 1893, फ़्लोरा ऑफ़ सीलोन) जफ़ना जिले में झुरमुटो में तथा पथवृक्ष के रूप मे नीम खूब बोया हुआ था।

स्वास्थ्यप्रद वृक्ष : भारत में नीम बोने का रिवाज इतना प्रचलित होने का कारण यह समझा जाता है कि यह वायु को शुद्ध रखता है और मलेरिया के मच्छरो को दूर रखता है। इसके पत्तों मे गुज़र कर आने वाली हवा स्वास्थ्य के लिए अच्छी समझी जाती है। नीचे गिर कर सड़ते हुए पत्ते सम्भवतः छोटे हानिकारक जीवो तथा मलेरिया के जातकों (लार्वों) को आसपास न पनपने देते हो।

लकड़ी : नीम की लकड़ी अच्छी टिकाऊ होती है। बाहरी परिस्थितियो में भी टिकाऊ है। बिना सुखाई लकड़ी का भार 24.75 से 26 किलोग्राम और सूखी हुई का भार 20.25 से 23.40 किलोग्राम प्रति घनफुट (.028 घन मीटर) होता है। एक घन इंच (16.4 घन सेण्टीमीटर) की व्यत्यस्त (ट्रान्सवर्स) शक्ति 2.55 से 5.125 टन है। मोटे वृक्षो से ली गई लकड़ी अच्छी होती है। इसमे पेटियो और बक्सो को बनाने के काम आने वाली लकड़ी जैसी कठोरता होती है। लकड़ी असली महागोनी (Swietenia mahagoni Jacq.) से मिलती है परन्तु भेद यह है कि इसके दानों मे उतना चिकनापन नही होता और औजारो के नीचे उतना अच्छी तरह इस पर काम नही किया जा सकता। चीरना कठिन नही है। इस गुण में सागौन के बराबर है। हाथ के औजारो और मशीनों से इस पर सामान्यतया सुगमता से काम किया जा सकता है। खराद पर फ़िनिश भी उत्तम आती है, परन्तु पौलिश उतनी अच्छी नही आती। कुछ नमूनों मे व्यासार्द्ध (रेडियस) के प्रति 2.50 सेण्टीमीटर मे पाच छल्ले दीखते है जो वृक्ष की अच्छी वृद्धि की ओर संकेत करते हैं। खुली हवा के सम्पर्क मे रहने से अन्त:काष्ठ का रग अधिक गहरा हो जाता है। लकड़ी मैले लाल रग की होती है। चीरते हुए इसमें से एक गन्ध आती है जो महागोनी से बहुत कुछ मिलती है। पुरानी लकड़ी मे यह गन्ध नही आती। जलाने पर

---

1 अरिष्टाशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियगव ।
मगल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥ बृहत्संहिता, अध्याय 55; 3।

झोंकों के साथ वायु मे वहती है। फूलो के गुच्छे मार्च-मई में निकलते है।

फल : जून-अगस्त में पकत हैं। कच्चे फल हरे, पकने पर पीले से मटियाले, चिकने, लम्बोतरे-गोल एक सेण्टीमीटर लम्बे,मीठे, कम गूदे वाले होते हैं। कच्चे फल को दबाने से सफेद दूध-सा रस निकलता है। फल के पकने पर यह रस मीठे लेसदार नीरंग अर्द्ध ठोस के रूप मे वदल जाता है। फलो को निमोली कहते हैं। बीज पिश्ते की शक्ल का, प्रायः एक और कभी-कभी दो भी होते हैं।

सदा हरा : नीम सामान्यतया सदा हरा वृक्ष है। केवल शुष्क प्रदेशों में बहुत थोड़े समय के लिए यह लगभग पत्रविहीन हो जाता है। उत्तर भारत मे पौदे की वृद्धि अक्टूबर-नवम्बर में रुक जाती है। पुराने सब पत्तो के गिर जाने के बाद मार्च-अप्रैल में नये पत्ते निकल आते है।

उपयोगी भाग : जड़, तने और मोटी शाखाओं की छाल, कच्चे फल, पके बीज और उनमें से निकलने वाला तेल, फूल, पत्ते, लकड़ी, गोंद, मद आदि वृक्ष का प्रत्येक भाग उपयोग में आता है। चिकित्सा प्रयोजनो से छाल की बाहर की तह न ले कर भीतरी छाल लेना चाहिए और सूखी तथा पुरानी छाल की अपेक्षा ताजी छाल लेना अधिक अच्छा होता है। इण्डियन फ़ार्माकोपिया मे छाल एज़ेडिरेक्टी कौर्टेक्स के नाम से अधिकृत है। परन्तु छाल की केवल अन्दर की तह ही इण्डियन फ़ार्माकोपिया के योगों में लिए जाने के निर्देश दिये गये हैं। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934) में नीम की छाल का रंग, आकृति, रचना आदि को बताते हुए नग्न आखो से उसकी पहचान तथा आणुवीक्षिक (माइक्रोस्कोपिक) पहिचान भी दी गई है। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934, पृष्ठ 483) के अनुसार भारत और ईस्टर्न कौलोनीज मे इसे जेन्शियन या क्वाशिया के समान प्रयोग किया जाता है और सामान्यतया यह मद्यासव (टिक्चर) या फाण्ट के रूप मे व्यवहार किया जाता है। तने और शाखाओ की छाल तथा कच्चे फल की अपेक्षा जड़ की छाल का कार्य अधिक शीघ्र तथा तेज़ समझा जाता है।

ताज़े पत्ते एज़ेडिरेक्टी फ़ोलिया नाम के अन्तर्गत इण्डियन फ़ार्माकोपिया मे अधिकृत (official) हैं। पत्ते और छाल ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया में अधिकृत नही हैं।

सग्रह : चिकित्सा प्रयोजनो के लिए फल तव इकट्ठे किये जाने चाहिए, जब छोटे ही हो। अपने पूर्ण आकार से आधे आकार तक पहुंचने से पूर्व ही तोड़ लेने चाहिए। छोटे-छोटे कतरो मे काट कर धूप मे सुखा लें और नमीरहित सूखे स्थान पर बन्द कनस्तर में रखें। तेल निकालने के उद्देश्य से बीजों को संग्रह करना हो तो ध्यान रखना चाहिए कि पकी निमोलिया पेड पर से गिरने के बाद ज़मीन पर पड़ी सड़ती न रहे क्योंकि बीज जितने अच्छे और ताज़े होंगे उनसे निकाले गये तेल को रिफ़ाइन करने मे उतनी ही सुविधा रहेगी। एक बडा वृक्ष औसत 500 से 600 किलोग्राम निमोली दे देता है सूखने पर उसकी नमी लगभग चालीस प्रति शत कम हो जाती है।

शीतल छाया देने वाला : अनेक स्थानो पर मैंने नीम वृक्षो को विशाल पथवृक्षो

के रूप में देखा है। चौड़ी सड़क के दोनों ओर दूर तक लगे हुए और ऊपर मिल कर एक लम्बी हरी रेखा बनाते हुये ये सुन्दर शीतल छाया देने वाले पथवृक्ष राहगीरों के लिए बहुत सुखदायी होते है। गर्मियो मे जब बहुत से वृक्ष नग्न होते है यह सुहावनी छाया देता रहता है। ठण्डी छाया देने के लिए अत्युत्तम पथवृक्ष के रूप में इसकी बहुत देर से ख्याति रही है। मङ्गलकारी वृक्ष होने के विश्वास से भी यह पार्कों और गृहोद्यानो मे सातवी शताब्दी से लगाया जा रहा है।[1] जेम्स फ़ोर्ब्स (1813) के 'पूर्वीय देशों के संस्मरण' (ओरिएण्टल मेमोयर्स, दूसरा संस्करण, जिल्द 2, 445) से पता चलता है कि मुख्य चौराहों पर नियमित रूप से सुन्दर नीम वृक्ष लगाये जाते थे। 1834 में (चिट्टी, एस. सी., 1834, दि सीलोन गज़ेटियर, सीलोन, पृष्ठ 183) श्रीलका के गिरजे के पास नीम और इमली के कई पेड़ खड़े थे और 1893 मे (ट्रिमेन, हेन्री, 1893, फ़्लोरा ऑफ़ सीलोन) जफ़ना जिले में झुरमुटो में तथा पथवृक्ष के रूप मे नीम खूब बोया हुआ था।

स्वास्थ्यप्रद वृक्ष : भारत में नीम बोने का रिवाज इतना प्रचलित होने का कारण यह समझा जाता है कि यह वायु को शुद्ध रखता है और मलेरिया के मच्छरो को दूर रखता है। इसके पत्तों मे गुज़र कर आने वाली हवा स्वास्थ्य के लिए अच्छी समझी जाती है। नीचे गिर कर सड़ते हुए पत्ते सम्भवतः छोटे हानिकारक जीवो तथा मलेरिया के जातकों (लार्वों) को आसपास न पनपने देते हो।

लकड़ी : नीम की लकड़ी अच्छी टिकाऊ होती है। बाहरी परिस्थितियों में भी टिकाऊ है। बिना सुखाई लकड़ी का भार 24.75 से 26 किलोग्राम और सूखी हुई का भार 20.25 से 23.40 किलोग्राम प्रति घनफुट (.028 घन मीटर) होता है। एक घन इंच (16.4 घन सेण्टीमीटर) की व्यत्यस्त (ट्रान्सवर्स) शक्ति 2.55 से 5.125 टन है। मोटे वृक्षो से ली गई लकड़ी अच्छी होती है। इसमे पेटियों और बक्सो को बनाने के काम आने वाली लकड़ी जैसी कठोरता होती है। लकड़ी असली महागोनी (Swietenia mahagoni Jacq.) से मिलती है परन्तु भेद यह है कि इसके दानो मे उतना चिकनापन नही होता और औजारो के नीचे उतना अच्छी तरह इस पर काम नही किया जा सकता। चीरना कठिन नही है। इस गुण में सागौन के बराबर है। हाथ के औजारों और मशीनों से इस पर सामान्यतया सुगमता से काम किया जा सकता है। खराद पर फ़िनिश भी उत्तम आती है, परन्तु पौलिश उतनी अच्छी नही आती। कुछ नमूनो मे व्यासार्द्ध (रेडियस) के प्रति 2.50 सेण्टीमीटर मे पाच छल्ले दीखते है जो वृक्ष की अच्छी वृद्धि की ओर संकेत करते है। खुली हवा के सम्पर्क में रहने से अन्त.काष्ठ का रग अधिक गहरा हो जाता है। लकड़ी मैले लाल रंग की होती है। चीरते हुए इसमे से एक गन्ध आती है जो महागोनी से बहुत कुछ मिलती है। पुरानी लकड़ी मे यह गन्ध नही आती। जलाने पर

---

1 अरिष्टाऽशोकपुन्नागशिरीषा. सप्रियगव: ।
मगल्या: पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥ बृहत्संहिता, अध्याय 55; 3।

लकड़ी कोई बुरी गन्ध नहीं देती। डब्ल्यू. सी. हार्ट के अनुसार हरे लट्ठों से बनाये शहतीर भी अच्छे सूखते हैं। हरे लट्ठों के तख्तो को छत के नीचे रख कर सुखाना अच्छा रहता है। कड़वा होने के कारण इसमें घुन, दीमक और अन्य कीड़े नहीं लगते।

इस प्रसिद्ध वृक्ष की लकड़ी बाजार मे बड़े परिमाण मे प्रायः नही आती। मध्य-भारत के कुछ भागो से, दक्षिण से, कर्णाटक से और ब्रह्मा के सूखे क्षेत्र से कुछ लकड़ी बाजारो मे आती है।

लकड़ी के उपयोग : इमारती लकड़ी के लिए यह सामान्यतया अच्छी है। यद्यपि गरीब देहातियों की झोपड़ियो मे खम्भो, शहतीरियों तथा कड़ियो के लिए अधिक काम आती है। गाड़ियो, पहियो, हलो, तेल पेरने की घानियो, जहाजों और लकड़ी के उप-करणों को बनाने के लिए उपयोग होता है। मारवाड़ में नीम का ऊखल और मूसल अच्छा समझा जाता है। दक्षिणी भारत मे फ़र्निचर बनाने मे उपयोग होता है। उत्तर प्रदेश मे ढोलकियो के लिए अच्छी समझी जाती है। हिन्दू इस लकडी को पवित्र मानते हैं और मूर्तियों के निर्माण में व्यवहार करते हैं।

चट्टान तोड़ने का नुस्खा : नीम के पत्ते और छाल, तिलों का नाल, अपामार्ग, तेंदू के फल और गिलोय की राख को गोमूत्र मे घोल कर छान लें। कुआं खोदते हुए यदि बड़ी शिला आ जाय तो वराहमिहिर कहते है कि शिला को तपा-तपा कर इस मिश्रण को छह बार उस पर छिड़कना चाहिए। इससे चट्टान टूट जाती है (बृहत्संहिता, अध्याय 54. 115)।

रासायनिक संघटन : छाल : कोनिश ने पहले 1856 में भीतरी छाल की परीक्षा की और मालूम किया कि इसमें एक कड़वा, सफ़ेद, सूच्याकार क्षाराभ (एल्कलोयड) है। इसका नाम उन्होंने मार्गोसीन रखा। यह बहुत कम परिमाण में और दो लवणो मे मार्गोसीन तथा सोडा रूप मे प्राप्त हुआ था। ब्रोटन (1863) के अनुसार छाल मे विद्य-मान कड़वा तत्त्व एक रेज़िन होता है जिसे शुद्ध अवस्था में प्राप्त करना बहुत कठिन है। ब्रिटिश फ़ार्मास्युटिकल कोडेक्स (1934, पृष्ठ 483) के अनुसार भारतीय नीम की छाल मे एक कड़वा बेडौल रेज़िन, एक स्फटिकाकार कड़वा क्षाराभ (मार्गोसीन), मार्गोसिक अम्ल, एक स्फटिकाकार पदार्थ और टैनीन होते हैं।

बीजो में एक स्थिर कड़वा तेल इकत्तीस प्रति शत होता है। निशास्ता और टैनीन इस में नहीं होते। तेल उबालने या निष्पीड़न से प्राप्त किया जाता है। तेल रग मे गहरा पीला और स्वाद मे तेज कड़वा होता है। इस मे तीव्र दुर्गन्ध आती है जो कुछ-कुछ लहसुन की-सी होती है। वार्डन ने 15.5° शतांश पर इस का आपेक्षिक गुरुत्व 0.9235 मालूम किया। लगभग 10° से 6° शतांश पर बिना अपनी पारदर्शकता नष्ट किये जम जाता है। तेल मे स्वतन्त्र और उड़नशील स्निग्ध अम्ल होते हैं। ताज़े निकाले हुए तेल को छत्तीस घंटे स्थिर रखा जाय तो एक सफ़ेद निक्षेप देता है जो आणुवीक्षक (माइक्रो-स्कोप) में बेडौल दीखता है।

सरदियों मे 20 अंश शतांश से नीचे तापमानों पर तेल खूब गाढ़ा हो जाता है। इसके नीचे स्टीरीन तथा पामीटीन की, जिसके साथ कुछ स्वतन्त्र स्निग्ध अम्ल भी होते हैं, एक स्फटिकाकार गाद बैठ जाती है। राय और चैटर्जी (1921) ने तेल के विश्लपण में निम्न लिखित तत्व मालूम किये :

1 गन्धक 0 427 प्रति शत। 2 तेल के एल्कोहलिक सत्व (एस्क्ट्रैक्ट) से एक बहुत कड़वा पीला-सा पदार्थ प्राप्त किया, सम्भवतः यह पदार्थ क्षाराभ (एल्कलोयडल) है, परन्तु यह बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती। 3 उद्यास (रेजिन्स)। 4 मधुमेय (ग्लूकोसाइड्स), अनिश्चित। 5 स्नेहाम्ल (फ़ैटी एसिड्स)।

कर्नल चोपड़ा (1933) के अनुसार यद्यपि स्नेह अम्लो को पृथक् करने का कभी प्रयत्न नही किया गया परन्तु सम्भवतः यह स्टीरिक तथा ओलीक अम्लो का और थोड़े परिमाण में लौरिक अम्ल का मिश्रण होगा।

चैटर्जी और सेन ने तेल में एक विशिष्ट अम्ल, मार्गोसिक अम्ल, पाया जो लिनोलिक अम्ल की श्रेणी का है। परन्तु राय और दत्त (सोलहवी इण्डियन साइन्स कौंग्रेस, मद्रास, 1929) के अनुसार नीम के तेल से निकले स्निग्ध अम्लो के किसी भी भाग में मार्गोसिक अम्ल जैसा कोई अम्ल नही पाया गया। लिनोलिक अम्ल की श्रेणी का कोई अम्ल नहीं प्राप्त किया जा सका। खुदा और उनके साथियों (1940) ने स्निग्ध अम्लों में चालमुग्रिक-अम्ल की श्रेणी के अम्ल पाये हैं।

वाट्सन, चैटर्जी और मुकर्जी (1923) के विचार मे तेल की आपत्तिजनक गन्ध मुख्यतया गन्धक के हलके उड्डनशील ऐद्रिक समासो के कारण होती है और कुछ स्नेह अम्लों के कारण। तेल को और अधिक वाष्प तिर्यक् पातन करने से एक उड्डनशील गन्धक समास धीरे-धीरे ऊपर तिर्यक् पातित हो जाता है और घनीभूत जल के ऊपर इकट्ठा हो जाता है। तेल को दुर्गन्ध देने वाला पदार्थ 0.1 से 0.24 होता है। दत्त और उनके सहायक अन्वेपको (1930) का विचार है कि तेल के दुर्गन्धित तत्त्व मे एक बुरी गन्ध का उड्डनशील तेल होता है जो तेल मे ही घोल की अवस्था मे रहता है और आंशिक स्रावण से पृथक् नही किया जा सकता। खुदा, घोप और मुकर्जी (1940) ने दुर्गन्ध का कारण गन्धकयुक्त द्रव बताया है।

वाट्सन, चैटर्जी और मुकर्जी ने कड़वे तत्त्वों की केमिस्ट्री पहले-पहल अध्ययन की। कड़वे तत्त्व को अंशत: वेडौल अवस्था मे और अंशतः स्फटिकाकार में पृथक् करने मे इन्हे सफलता मिल गई। ईथर के घोल मे स्फटिकाकार पदार्थ नीरंग रहौम्बिक प्रिजम्स की शक्ल में प्राप्त किया गया जो 128° शतांश पर फूल जाता है और 221°-222° शतांश पर पिघल जाता है। यह इतना कड़वा होता है कि इसका 0 00648 मिलीग्राम जितना छोटा परिमाण भी इसके कड़वेपन के कारण तलाश कर लिया जाता है। यह औप्टिकली एक्टिव है। हैलोजन को एब्जौर्ब कर लेता है, और सुगमता से क्रिस्टेलाइन एसिटाइल डेरिवेटिव बनता है। इसे सामान्यतया मार्गोसो-पिक्रीन कह देते हैं।

सेन और बैनर्जी (1931) ने दिखाया है कि तेल का कड़वापन एक अम्ल के सोडियम लवण की उपस्थिति के कारण और कुछ अंश में स्वतन्त्र अम्ल की उपस्थिति के कारण है जो कि तेल में घुली हुई अवस्था में रहते हैं। अम्ल में गन्धक के परमाणु होते हैं और यह असान्द्र हैं। अधिक नये अनुसंधान बताते है कि कड़वा तत्त्व एक ग्लूकोसाइड है। (*कुदरत-ए-खुदा, घोष एण्ड मुकर्जी, जर्नल इण्डियन केमिकल सोसाइटी, 1940,* 17, 189)।

बीजो को कुचल कर पानी के साथ उबालने पर एक सफेद स्फटिकाकार पदार्थ भी प्राप्त हुआ है जो कड़वा नही है। (वाट्सन, चैटर्जी और मुकर्जी, 1923)। तेल निष्पीड़न के बाद प्राप्त अवशेष में एक उदासीन तत्व, ऐन्द्रियिक पदार्थ तिरास्सी से *चौरास्सी प्रति शत आर्द्रता, राख छह से नौ प्रति शत नत्रजन और फ़ौस्फ़ौरिक एनहाइ-*ड्राइड होते है। पत्तो में उसी गुण का कड़वा पदार्थ थोड़े परिमाण में होता है, परन्तु यह जल मे बहुत अधिक घुलनशील होता है पत्तो को पानी मे तिर्यक पातन करने से यह पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। प्राप्त द्रव्य में लहसुन की-सी गन्ध का एक समास होता है।

ताड़ी का विश्लेषण : *ग्वालियर राज्य से प्राप्त नीम की ताड़ी के एक नमूने का* रासायनिक विश्लेषण किया गया। यह हलके पीले रग की चीनी और थोड़े-से एल्ब्यु-मिनस तथा चिपचिपे गोद सदृश पदार्थ का दूध सदृश मीठा घोल या शर्बत होता है। इसमें पकी निमोली की गन्ध थी। उबालने पर और निक्षिप्त एल्ब्युमिनस पदार्थ को हटाने पर एक हल्का-सा पीला स्वच्छ घोल प्राप्त हुआ।

*सूखी ताड़ी के ठोस पदार्थ से निकाले हुए पैट्रोलियम ईथर में स्निग्ध और रेज़ि-*नस पदार्थ केवल अत्यल्प परिमाण मे थे। क्षाराभ (एल्कलोयडल) और ग्लूकोसाइडल तत्त्वो के लिए की गई परीक्षाएं नकारात्मक थी। राख के गुणात्मक विश्लेषण से पोटा-शियम, लोह, एल्युमीनियम, खटिकम् और कर्बन द्वयम्लजिद् पाये गये।

मात्रा : भीतरी छाल का चूर्ण तीस रत्ती की मात्रा मे दिन मे तीन-चार बार देना चाहिए। इसके साथ सुगन्धित-दीपक द्रव्य देने से इस का कार्य शीघ्र होता है। पत्तियों का स्वरस दो से पाच तोला। तेल चार से दस बून्द।

एक हजार में एक से पांच हजार तक की शक्ति के निम्बिडीन और निम्बिडी-निक अम्ल के लवणो के इमल्शन्स, मरहम तथा अन्य योग बाहरी प्रयोजनो मे सफलता-पूर्वक इस्तेमाल किए गए है। मुख द्वारा देना हो तो मात्रा को गणना करने की विधि यह है कि तेल या इसके योगों की जितनी मात्रा साहित्य मे लिखी मिलती है उसके अनु-सार तेल के भार का लगभग दो प्रतिशत कड़वा तत्त्व समझ कर मात्रा निर्धारित कर लेनी चाहिए।

भोजनो में उपयोग : निमोली के गूदे मे प्राय: दुर्गन्ध नही होती। बच्चे इस मीठे फल को शौक से खाते हैं। दुर्भिक्ष के दिनों में, प्रतीत होता है कि यह अधिक व्यापक रूप

से खाने के काम आता है। गूदा बहुत कम होने से यह फल बाजार में बिक नहीं सकता।

व्यञ्जनों तथा भोजनो में थोड़े से पत्ते भी पका लिए जाते हैं। पत्ते इतने ही डालते हैं कि स्वाद तो कुछ कड़वा हो जाय परन्तु इतना अधिक कड़वा न हो कि खाने मे अरुचिकर लगने लगे (बर्किल, 1935)। फूल और कोमल पत्ते अकेले भी या अन्य सब्जियों के साथ पकाकर सब्जी के रूप में खाने का रिवाज भी है। चरक के समय पत्तियो की सब्जी खाई जाती थी। वे इसे कफपित्तहर, कड़वी, शीतल और विपाक में चरपरी बताते है। चक्रपाणि ने पत्तों को खाने की जो विधि बताई है उसमें कड़वाहट कम हो जाने की सम्भावनाएं हैं। वे कहते हैं कि पत्तों को घी मे मिला कर अथवा घी में तल कर आंवले के साथ सदा खाते रहने से फोडे, त्वचा के चकत्ते, क्षय, छपाकी (अर्टिकेरिया) और अम्लपित्त ठीक हो जाते हैं। पत्तो की तरह फूलो को भी भोजनो में खाया जाता है। भारत से स्याम तक ये इस प्रयोजन में काम आते हैं (बर्किल, 1935)। घी में फूलों को तल कर खाने का प्रचलन भी है। इन्हें सुखा कर रख लिया जाता है जिससे साल भर काम आते रहे। तल कर चटनी या व्यञ्जन की तरह इन्हें थाली में परोसते हैं।

चारा : कहा जाता है कि पत्तों का उपयोग ढोरों को खिलाने के लिए किया जा सकता है। ऊंट इन्हें चाव से खाते है। बकरियां और दूसरे पशु सुगमता से नही खाते।

मछलियों के लिए प्रलोभन : कोरोमण्डल तट पर मछली पकड़ने मे प्रलोभन के रूप मे शाखायें समुद्र में डाल दी जाती है। मछलिया अण्डे रखने का स्थान ढूंढती हुई उनके पास आ जाती है। परन्तु ऐसा कड़वा पौदा क्यों इतना आकर्षक होगा, यह समझ नही आता (बर्किल)।

खाद में उपयोग : पत्ते, छोटी कोमल शाखायें तथा खली खाद के काम आते हैं। पत्तों में पोटाश और प्रस्फुरित का अधिक अंश होने से दक्षिण भारत में ये हरे खाद के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। खली उत्तम खाद है और सम्भवतः इसके अतिरिक्त इसका कोई और उपयोग भी नही है। इस में नत्रजन पांच से छह प्रतिशत होता है। (इण्डियन फार्मिंग, अगस्त 1940)।

कीड़ो से बचने के लिए : ताजी नई सुखाई हुई पत्तियां कीड़ों के आक्रमण से बचाती है। इसलिए भारत के बडे पुस्तकालयों मे पुरानी पुस्तकों में और पुराने रिकार्डों में पत्ते रखे रहते थे जिससे 'किताबी दीमको' (बुक माइट्स) से तथा अन्य कीड़ों से सुरक्षित रह सकें। ऊनी कपड़ो, धागों और सूती कपड़ो को कीड़ो से बचाने के लिए पत्ते रखे जाते है। बर्किल (1935) के अनुसार 'मालूम होता है कि ये अच्छा लाभ करते हैं।' परन्तु जॉर्ज वाट तथा अन्य लेखकों के अनुसार इस गुण में ये कपूर से बहुत घटिया है। काफ़ी समय बाद ये निष्क्रिय हो जाते हैं। जब इनका असर समाप्त हो जाय तो बदल कर नये पत्ते रख देने चाहिएँ।

पत्तो के धुएं की गन्ध बहुत अरुचिकर होती है। हूपर ने कई छोटे जीवो के लिए

इसे घातक पाया था। जलते हुए कोयलों पर छोटी शाखाओं समेत हरे पत्तों को डालते हैं। उठते हुए कड़वे धुएं को भुण्डों तथा मधुमक्खियों के छत्ते के नीचे रखते हैं। धुएं की गला घोटने वाली कड़वी गन्ध से वे कुछ तो वहीं मर जाते हैं और शेष अपना स्थान छोड़ कर भाग जाते हैं। कमरे को रोग-कीटाणुओं से रहित करने के लिए हरे पत्तों का धुआं कमरे में कुछ देर के लिए बन्द कर दिया जाता है, जैसे कि गन्धक की धूनी दी जाती है। छोटे कोकों तथा अन्य वृक्षों को कीड़ों से बचाने के लिए तनों पर प्रायः नीम का तेल पोत दिया जाता है (हैण्ड बुक ऑफ इण्डियन एग्रीकल्चर, एन. जी. मुकर्जी, 1901)।

रंगने में : भारत में गोंद रंगों में काम आती है। होव ने अपनी बम्बई यात्रा (1787) में लिखा है कि रेशम रंगने वाले प्रत्येक नुस्खे में गोंद को बरतते हैं। मैसूर और कुर्ग के गज़ेटियर के अनुसार तेल सूती कपड़ों को रंगने में काम आता है। यह बात लिस्बोआ ने भी दोहराई है, वे कहते हैं कि धागों को गहरा पीला रंग देता है। स्टौक्स ने सिन्ध की रिपोर्ट में लिखा है कि लाल रंग के लिए छाल काम आती है।

जलाने के लिए : गरीब लोग तेल को जलाने के काम में लाते हैं, परन्तु यह धुआं बहुत बुरी तरह देता है।

तेल के कारखाने : हमारे देश के गांवों में कहीं-कहीं छोटी घानियों में तेल निकाला जाता है। भारत के सामने आर्थिक विकास की जो बड़ी-बड़ी योजनाएं हैं वे देश में पैदा होने वाली सब निमोली का उपयोग करना चाह रही हैं। प्लानिंग कमीशन ने एक योजना बनाई थी कि ग्यारह राज्यों में ग्यारह ऐसी इकाइयां बनायी जायें जिनमें प्रत्येक में नीम से तेल निकालने के सात केन्द्र हों और एक साबुन की फैक्टरी हो जिसमें नीम के तेल से साबुन बने। इन केन्द्रों में जो नीम तेल तैयार होगा वह उस मध्य तेल का स्थान ले लेगा जो नहाने या कपड़े धोने के साबुनों आदि में बरता जा रहा है। हाल ही के सर्वे ने बताया है कि अकेले तमिलनाडु राज्य में अभी कुल लगभग इक्कीस हजार दो सौ सत्तर टन नीम के बीज प्रतिवर्ष इकट्ठे किये जा रहे हैं, जबकि इसी राज्य से प्रतिवर्ष अस्सी हजार टन के लगभग इकट्ठे करने की गुंजाइश है। मद्रास प्रतिवर्ष 1680 टन नीम तेल पैदा करता है; यह बढ़ कर पांच हजार टन प्रतिवर्ष हो जायगा। (हिन्दुस्तान टाइम्स, 16 सितम्बर 1951)।

इंग्लैंड भारत के नीम तेल को अपने उद्योगों में उपयोग करना चाहता था। इसकी आपत्तिजनक दुर्गन्ध के कारण उसने इस योजना को रद्द कर दिया। रिपोर्ट में बताया गया है कि फैक्टरियों में इतनी बुरी गन्ध उठती है कि काम करने वालों के लिए तथा पड़ौस में रहने वालों के लिए सह्य नहीं होती। विचित्र बात यह है कि निष्पीडन के समय उठने वाली दुर्गन्ध दूरी के साथ-साथ बढ़ती जाती है। बीज के अन्दर की नरम गिरी में तेल रहता है। सूखे फल में लगभग चवालीस प्रति शत तेल रहता है परन्तु निष्पीडन से सामान्यतया केवल पैंतीस प्रति शत निकाला जाता है। तेल का दाम लगभग पन्द्रह रुपये हण्डरवेट है।

तेल को रिफ़ाइन करना : औद्योगिक प्रयोजनों मे काम लाने के लिए इसे सुगमता से रिफाइन किया जा सकता है। इसके लिए सौ भाग तेल में एक भाग गन्धकाम्ल को धीरे-धीरे मिलायें; तापमान 35° शताश से ऊपर न जाने दें। इसके बाद सौ भाग पानी मिला दें। तेल की तह ऊपर आ जाने पर उसे अलग कर लें। अम्ल को उदासीन करने के लिए तेज क्षार का घोल, हिलाते हुए पर्याप्त परिमाण में मिलायें; साबुन अलग कर लें। इस विधि से तेल का कड़वापन पूर्णतया निकल जाता है और बुरी गन्ध बहुत अधिक कम हो जाती है। (इण्डियन एण्ड ईस्टर्न केमिस्ट, जनवरी 1938)।

तेल से साबुन बनाना : भारत में कपड़ा धोने का साबुन इससे बनाया जा रहा है। गरीब लोग इस साबुन को बहुत प्रयोग करते हैं। शीत विधि से निकाले तेल द्वारा बनाया गया पदार्थ सन्तोषजनक नही था। पूर्ण उबाल कर तेल बनाया जाय तो यह हलके रंग का और प्रायः निर्गन्ध प्राप्त होता है। भारत में साबुन बनाने वाले अब इसका अच्छे परिमाण में उपयोग करने लगे हैं। के. व्यासुलु (1950, जुलाई, इण्डियन सोप जर्नल) ने बताया है कि साबुन उद्योग में 1947 मे अड़तीस टन तेल लगा है जिसका दाम 69,967 रुपये है।

'नीम तेल से बने साबुन में साफ करने का गुण अच्छा है, परन्तु नीम के साबुन में विज्ञापित किये जाने वाले त्वग्रोगनाशक गुण तो सम्भवतः शुद्ध कहानियां ही हैं और त्वचा के विकारों में नीम तेल की उपयोगिता के प्रचलित विश्वास का लाभ उठाने के लिए विज्ञापन स्पष्ट है।' (इण्डियन एण्ड ईस्टर्न केमिस्ट, जनवरी 1938)।

फ़ार्मेसी उद्योग में नीम : जर्नल ऑफ साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च के जुलाई 1946 के अंक में इस विषय पर एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें नीम फ़ार्मास्युटिकल इण्डस्ट्री और उसकी बाई प्रौडक्ट्स पर विचार किया गया है। निम्नलिखित बाई प्रौडक्ट्स हैं :

1 रिफ़ाइन ऑयल : नीम तेल में से कड़वे तथा गन्ध वाले पदार्थों के निकलने क बाद जो रिफाइण्ड तेल प्राप्त होता है वह नहाने के साबुनों, लाइसोल टाइप के कृमिहरों तथा कृमिनाशक स्प्रेज के निर्माण में प्रयोग किया जा सकता है।

2 निम्बिडोल : यह तेल में विलेय कड़वा तत्त्व है। निम्बडीन के जो उपयोग हैं उन्ही में कुछ में इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसका दूसरा बड़ा उपयोग यह हो सकता है कि तेलों तथा चरबियों (स्नेहों) को अखाद्य बनाने के लिए इसकी मिलावट कर दी जाय। पाच सौ हिस्से में एक भाग निम्बिडोल मिलाने में स्नेह खाने के योग्य नही रहते और यह भी देखा गया है कि इसके द्वारा अखाद्य बनाये स्नेह को पकाने पर भी उसका कड़वापन नष्ट नही होता।

3 निम्बीन और निम्बिडिनीन : तेल से पृथक् प्राप्त की गई स्फटिकाकार उपज है। इन तत्त्वों की परीक्षाएं अभी जारी है।

4 स्नेह के गाद (फ़ैटी बलास्ट) : यह तेल का एक्स्ट्रैक्टिव है। नीम के

चिकित्सोपयोगी साबुनों में इसका उपयोग किया जा सकता है।

निम्बिडीन : नीम तेल में प्राप्त मुख्य क्रियाशील पदार्थ का नाम निम्बिडीन रखा गया है। इस से बनाये गये फार्मेसी के कई योगो को स्टैण्डर्डाइज़ किया जा चुका है। इस में पाये जाने वाले अन्य क्रियाशील तत्वों के नाम ये रखे गये है—निम्बिडौल, निम्बीन और निम्बिनीन।

निम्बिडीन तिनके के रंग का, जल मे अविलेय, दानेदार, उदासीन प्रक्रिया देने वाला पदार्थ है। पानी के इमल्शनों मे एक लाख मे एक से भी अधिक हलके घोलो में इसका स्वाद कडवा रहता है। हलके हाइड्रोलाइसिस की विधि से निम्बिडीन से एक अम्ल प्राप्त करना सम्भव है जिसका नाम निम्बिडीनिक अम्ल रखा गया है। क्षारो के साथ यह अम्ल जलीय-विलेय लवण देता है और ये लवण इंजेक्शन प्रयोजनों मे काम आ सकते है। ताम्र, ज़िंक और पारद निम्बिडिनेट्स जलीय-अविलेय हैं और बाहरी प्रयोग के लिए बनाये जाने वाले चैकित्सिक योगो में सम्मिलित किये जा सकते हैं। कुनीन के साथ यह हाइड्रोलाइसेबल लवण देता है जो मलेरिया की चिकित्सा मे विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

फ़ार्माकोलोजी : निम्बिडीन और सोडियम निम्बिडिनेट का प्रारम्भिक फ़ार्माकोलोजिकल अध्ययन लखनऊ मेडिकल कौलेज में किया गया। यह कहा जा सकता है कि ये समास क्रियात्मक रूप से विष प्रभाव रहित पाये गये। मेंढको पर घातक मात्रा शरीर भार के प्रतिग्राम की 0.25 मिलीग्राम थी। ये गर्भाशयिक संकोचो को उत्तेजना देते हुए भी देखे गये। 1/25000 के घोलों में भी सोडियम निम्बिडिनेट का कुमारी गिनिपिगो के गर्भाशय पर बहुत प्रबल कार्य था।

चिकित्सा में उपयोग : निम्बिडीन और सोडियम निम्बिडिनेट के योगों की लखनऊ मेडिकल कौलेज हौस्पिटल मे क्लिनिकल परीक्षाएं की गईं। परिणामों ने इनकी उपयोगिता विभिन्न प्रकार के त्वचा रोगो में दिखाई है। ये रोग हैं—एग्ज़िमा, स्केबीज़, पारदीय त्वक्शोथ, फ़ुरकुलोसिस और जलने के कारण बने विविध टाइप के सेप्टिक व्रण तथा जख्म। रौयल एयर फोर्स की मेडिकल ब्रांच ने गले की खराबी और व्रण में निम्बिडीन के गरारो की उपयोगिता की रिपोर्ट दी है।

निम्बिडीन के योग और उनके प्रयोग : 1 निम्बिडीन मद्यासव और निम्बिडीन इमल्शन—वे विविध घरेलू रोग जिन में नीम की प्रशंसा है।

2 निम्बिडीन के और निम्बिडिनिक अम्ल के विविध धात्विक लवणो (ताम्र, ज़िंक पारद, सोडियम आदि) के मरहम और लिनिमेण्ट्स का उपयोग जख्मो, घावों, दाहों, त्वक् शोथ, बवासीर आदि में होता है।

3 चिकित्सा में उपयोगी प्रसाधन द्रव्यो जैसे फ़ेस क्रीमो, सिकरी के लिए तथा सामान्य केशबल्य के रूप में केश्य द्रवों, चिकित्सा-साबुनों, शैम्पू आदि बनाने में निम्बिडीन का प्रयोग करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि ये योग नीम तेल की बुरी गन्ध से

बिलकुल रहित होने चाहिएं।

4 पायोरिया तथा मुख की सामान्य शुद्धि के लिये टूथ पेस्टों में निम्बिडीन का प्रयोग हो सकता है।

5 कण्ठव्रण, रक्तस्रावी मसूड़े तथा जुकाम आदि अवस्थाओं में निम्बिडीन के गरारे उपयोगी हो सकते हैं।

निम्बिडीन के योगों के निर्माण के लिए आवश्यक निमोली हमारे देश में बहुत है। व्यापारिक पैमाने पर इसे तैयार करने के लिए जिन रासायनिक द्रव्यों की आवश्यकता पड़ेगी वे सब भी भारत में मिल जाते हैं। हमारे उद्योगपति इस उद्योग को उन्नत करने में, आशा है, अभिरुचि लेंगे।

एल्कोहल को अपेय बनाना : एल्कोहल को अपेय बनाने के लिये भारत में सामान्य तरीका यह है कि इसमें पाइरीडीन, स्पिरिट (वुड नेप्था) या अन्य महत्वपूर्ण चीजें मिला दी जाए। युद्ध के दिनों में देश में पर्याप्त पाइरीडीन न मिलने के कारण कौन्सिल ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च ने एक सन्तोषजनक प्रतिनिधि द्रव्य तलाश करना था। इसके लिये नीम के तेल तथा बीजों पर परीक्षण किये गये। कुछ प्रारम्भिक परीक्षणों के बाद खली से सब आवश्यकताओं को पूरा करने की एक विधि पता कर ली गई। निष्पीड़न से प्राप्त खली का विनाशक तिर्यक्पातन करना होता है। खली के भार का चालीस प्रतिशत पातित द्रव प्राप्त होता है। रखा रहने से यह दो तहों में अलग-अलग हो जाता है। एक तह हलकी पीली है जो सारे आयतन का तिहाई होती है, दूसरी गहरी भूरी लेसदार तह होती है। पातित द्रव (डिस्टिलेट) में तेज घिनौनी गन्ध थी। यह एल्कोहल को अपेय बनाने के लिए प्रयोग किया गया है। पातित द्रव को तीन प्रतिशत मिला कर तैयार किये गये अपेय एल्कोहल के एक नमूने की परीक्षा केन्द्रीय कर नियन्त्रण प्रयोगशाला (सेण्ट्रल रेवेन्यूज कण्ट्रोल लेबोरेटरी) नई देहली में की गई। यह सन्तोषजनक बताया गया। अपेय बनाई स्पिरिट विषैली नहीं थी। गिनिपिगों को थोड़ी मात्रा में देकर भी इसे विषैला नहीं पाया गया। स्पिरिट लैम्प में जब इसे जलाया गया तो इसने कोई अप्रिय गन्ध नहीं दी। विनाशक तिर्यक्पातन में जो गैसें पैदा होती हैं वे एल्कोहल में विलीन हो जाती हैं और उसे अपेय बनाने में सहायक होती हैं। (जर्नल ऑफ साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, सितम्बर 1947)।

अनुसन्धान की आवश्यकता : दत्त और नन्दी (1950) ने भारत और श्रीलंका के बीजों में निम्न लिखित अन्तर दिखाया है :

	भारतीय उपज में प्रति शत	श्रीलंका की उपज में प्रति शत
बीज में छिलका	55.3	54.20
बीज में गिरी	44.7	45.80
गिरी में स्नेह	48.9	59.25
सम्पूर्ण बीज में स्नेह	23.5	31.00

गुण : आयुर्वेदिक लेखकों ने नीम के सामान्य गुण इस प्रकार बताये है—कड़वा, विपाक में चरपरा, वात, पित्त, कफ तीनों दोषों को हरने वाला, हलका, हृदय के लिए हितकर, शीतल, थकान उतारने वाला, पिपासा शान्त करने वाला, शरीर में बढ़ी हुई अग्नि (गरमी) को नष्ट करने वाला, ज्वरहर, श्वयथु (सोज) उतारने वाला, व्रणो के लिए हितकर, कृमिनाशक, कुष्ठघ्न, कण्डूहर, खासी तथा नेत्र रोगों को दूर करता है। यह ग्राही है। अरुचि, वमन, हृल्लास तथा हृदय प्रदेश की दाह (अम्ल पित्त) को विशेष रूप से दूर करता है। बहते हुए खून (रक्त पित्त) को रोकता है, पेशाब के रोगो (प्रमेहों) को नष्ट करने वाला है।

भाव मिश्र ने नीम को 'अग्निवातनुत्' (अग्नि और वायु का नाशक) लिखा है परन्तु कैयदेव और मदनपाल ने 'अग्निवात कृत्' (अग्नि और वायु को उत्पन्न करने वाला) लिखा है। कैयदेव आदि के विपरीत भाव मिश्र ने इसे हृदय के लिए अहितकर माना है। चरक के तिक्तस्कन्ध में नीम का पाठ है। सुश्रुत के आरग्वधादि, गुडूच्यादि और लाक्षादि गण में नीम है।

पत्ते : विपाक में चरपरे, वातकारक, आंखो के लिए हितकर तथा निम्नलिखित रोगो में गुणकारी हैं—अरुचि, पैत्तिक रोग, व्रण, कुष्ठ और विषप्रभाव।

नये कोंपल : ग्राही तथा वायु पैदा करने वाले होते हैं। रक्तपित्त (खून बहना), नेत्र रोग, कफ के रोग, कुष्ठ तथा कृमियों को नष्ट करते है।

फूल : वायुकारक, विपाक मे चरपरे, पित्तनाशक, आंखों के लिए हितकर, सब प्रकार की अरुचि, कृमि और विष विकारो को दूर करने वाले है।

फल : कडवा, विपाक मे चरपरा, स्निग्ध, मल का भेदन करने वाला, हलका, गरम, गुल्म (वायु गोला), कृमि, कुष्ठ, बवासीर और प्रमेह में हितकर है। यह रूक्ष नही है।

पका फल : *हलकी-सी कड़वाहट लिए मीठा, भारी, पिच्छल और स्निग्ध है।* खून बहने की अवस्थाओं (रक्तपित्त) में और कफ के रोगो में प्रशस्त है। नेत्र रोगो मे, ज़ख्मों में और क्षय में गुणकारी है।

बीज की गिरी : कृमिहर, कुष्ठनाशक और शोधक है।

तेल : व्रण, कृमि, कुष्ठ, वात, कफ, ज्वर और शिरोरोग को जीतने वाला है। सुश्रुत ने इसे हलका, तेज, गरम, चरपरा, विपाक मे भी चरपरा और सारक बताया है। वाग्भट्ट इसे अधिक गरम नही मानते।

गोंद : लेपक है और थोडा वृष्य समझी जाती है। बबूल के गोंद की तरह यह औषधियो के लिए अच्छा योगवाही है।

आधुनिक अन्वेषकों के अनुसार नीम की ताडी में चिकित्सा सम्बन्धी गुण विशेष नही हैं। ताड़ या खजूर आदि की नीरा के सदृश ही यह एक स्राव है जो शीतल, पोषक

और उत्तेजक बलदायक पेय कहा जा सकता है। वैद्य लोग इसे त्वचा के रोगों में अन्तः प्रयोग मे लाते है।

यूनानी चिकित्सा में : छाल वल्य, ज्वरहर और रज.कृच्छ्र में लाभदायक है। पत्ते पाचक और कफ निस्सारक; सोज, कान की दर्द, आमवात (र्हूमेटिज्म) को कम करने वाले; फिरंगीय व्रणो, फोडो, रक्त के सब विकारो में उपयोगी; काढ़ा नस्य के रूप में नाक के कष्ट को दूर करता है; घावों को भरता है; मुखपाक और खराब मसूढ़ों के लिए इसके गरारे कराना अच्छा है। छाल तथा पत्ते उदरकृमिहर, वाजीकरण, श्वेतकुष्ठ, कटिशूल, बवासीर, फिरग (सिफ़लिस), कर्णशूल में लाभदायक; सब ज़ख्मों को ठीक करते है; सब शोथो को कम करते हैं। फूल उत्तेजक और पाचक है। बीज कुष्ठ की चिकित्सा के लिए अच्छे हैं।

निर्मितियां : पञ्चनिम्ब चूर्ण नीम की जड़ की छाल, पत्ते, फल, फूल और छाल प्रत्येक 280 ग्राम, लोहभस्म, हरड़, पनवाड, चीतामूल, शुद्ध भिलावे, वायविडङ्ग, खाण्ड, आवला, हल्दी, पिप्पली, काली मिर्च, सोंठ, बाकुची, अमलतास और गोखरू प्रत्येक 12 ग्राम; चूर्ण बना लें। भांगरे के रस, खैरसार के काढ़े तथा सहजन के काढ़े की क्रमशः भावनाएं देकर सुखाते जावें।

माञा : बारह ग्राम।

रोग : सब प्रकार के कुष्ठ। योग रत्नाकर के अनुसार यह योग त्वचा के अनेक प्रकार के दोष, अठारह प्रकार के कुष्ठ और सात प्रकार के [illegible] को दूर करता है। सब रोगों को नष्ट कर के यह रसायन सौ वर्ष तक [illegible] जीने के योग्य बनाता है।

बृहत्पञ्चनिम्ब : नीम के पत्ते, जड़, छाल, फूल और [illegible] को [illegible] भाग ले कर चूर्ण कर लें। फूल की ऋतु में फूल और फल की ऋतु में फल संग्रह करने चाहिएं। हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मिरच, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], चीते की जड़, वायविडङ्ग, वराहीकन्द, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], बाकुची, अमलतास, [illegible], कूठ, इन्द्र जौ तथा पाढ़ का [illegible] चूर्ण [illegible] [illegible] मिला लें। खैर, विजयसार और नीम के काढ़े [illegible] [illegible] [illegible]। इसे पञ्चनिम्बचूर्ण कहते हैं।

विष तथा मूलविष के विकार नष्ट होते हैं। मधु के साथ इसका सेवन करने से स्थूल पेट वाले का शरीर सिंह के समान दृढ़ तथा कृशोदर हो जाता है। एक वर्ष तक लगातार सेवन करने के बाद यदि उस व्यक्ति को सांप काट खाये तो स्वयं सर्प ही मर जाता है। और वह रोगी रोग तथा वृद्धावस्था से मुक्त हो कर, शुभ कार्य में लगा रह कर तथा चन्द्रमा के समान शुभकान्तिमान् हो कर बहुत समय तक जीवित रहता है।

ज्वर : 'भारतीय ज्वरों के विवरण' (रिकोर्ड्स ऑफ इण्डियन फीवर्स, 1899) में मेजर डी० बी० स्पेन्सर ने बताया है कि 'मैंने पत्ते, छाल और तेल को बरता है; पौदे के सब भाग चिकित्सा मे काम आते है।' अन्य देशों में भी छाल को ज्वरहर रूप में प्रयोग करने का उल्लेख मिलता है। एस० कुर्ज (1877, फौरेस्ट फ़्लोरा ऑफ ब्रिटिश बर्मा) ने ब्रह्मा में छाल का ज्वरनाशक प्रयोग लिखा है। श्रीलंका में भी छाल का प्रयोग ज्वरहर तथा बलदायक दवा के रूप में होता है। बर्किल के अनुसार जावा के पूर्व में और मदोएरा मे छाल बल्य तथा ज्वरहर के रूप में काम आती है और 'मलयी भेषज की चिकित्सा पुस्तक' (मेडिकल बुक ऑफ मलयन मेडिसिन) मे छाल की और गोंद के योगों की शिफारिश की गई है। मेल्ड्रम ने जोहोर की दवाओं की सूची (1892) मे छाल को मलेरिया के लिए देना बताया है। क्रेवोस्ट और पेटिलौट (1929) ने हिन्द-चीन में इसके प्रयोग के बारे में बहुत उपयोगी जानकारी सगृहीत की है। यहां पत्तों और छाल के मद्यासव (टिंक्चर्स) को मलेरिया के लिए बलदायक औषध के रूप में अन्तः-प्रयोग करते हैं।

चरक ने ज्वरो में प्रयुक्त होने वाले वासकादि कषाय[1], बलादिघृत[2] और चन्दनादि तेल[3] मे नीम का प्रयोग किया है। चरक की ज्वरनाशक नीम है।[4] त्रिदोषज ज्वर की चिकित्सा में दिये जाने वाले बड़े-बड़े योगों में काश्यप नीम को सम्मिलित करते हैं।[5] कफ प्रधान ज्वर में अग्नि का दीपन करने के लिए अन्य औषधियों के साथ नीम दिया जाता है।[6] नीम के फूलों की तरी वाली सब्जी ज्वर मे पथ्य समझी जाती हैं।[7]

मलेरिया : मलेरिया ज्वरों मे नीम की परीक्षा की गई है और यह ज्ञात हुआ है कि मलेरियानाशक गुण इसमें निश्चित रूप से विद्यमान है, परन्तु कुनीन की अपेक्षा कहीं कम है। कोमन ने मलेरिया बुखार के रोगियों को ज्वरनाशक के रूप मे छाल का मद्यासव (टिंक्चर) दिया और लाभदायक पाया। जड़ की छाल के काढ़ा को मलेरिया ज्वर

1 चरक, चिकित्सा स्थान 3; 204।
2 चरक, चिकित्सा स्थान 3; 224-226।
3 चरक चिकित्सा स्थान 3; 258।
4 चरक, चिकित्सा स्थान 3; 307।
5 काश्यप सहिता, विशेष कल्पाध्याय।
6 वही।
7 अष्टांग हृदय, ज्वर चिकित्सा 1; 75।

मे परीक्षा की गई और वह तत्सदृश प्रभावकारी पाया गया। शीतपूर्व ज्वर में मद्यासव अथवा काढ़े की तुलना में भीतरी छाल का चूर्ण देना अच्छा रहता है। सूखी छाल का कपड़े मे छाना हुआ चूर्ण दिन मे तीन-चार बार साढ़े तीन ग्राम की मात्रा मे दिया जा सकता है। इसका फाण्ट लेने की विधि यह है कि एक लिटर पानी मे पिचासी ग्राम यवकुट छाल को पन्द्रह मिनिट तक उबाल कर गरम ही छान लिया जाय। इसे पचपन से पिचासी मिलि-लिटर की मात्रा में देते हैं। फाण्ट, छाल का चूर्ण और द्रवीय सत्व (लिक्विड एक्सट्रैक्ट) भी जूड़ी और सतत ज्वरो में उत्तम औषधि है। सतत ज्वर मे नीम को सिन्कोना और संखिया के समान प्रभावकारी कहा जाता है। चिरायता और कटुकी के साथ मिला कर बनाया काढ़ा या फाण्ट ज्वर की अवस्थाओ मे अमूल्य गुणकारी है। छाल के काढ़े मे जरा-सी काली मिर्च और चिरायता मिला दिया जाय तो ज्वरो मे प्रयुक्त होने वाली यह एक प्रसिद्ध दवा बन जाती है। फ्रा बार्थोलियो, सोन्नेरट, गासिया द ओर्टा, क्रिस्टोबल एकोस्टा और दूसरे अनेक पुराने लेखको ने बारी के बुखारो मे छाल की उपयोगिता बताई है। वेग आने से पूर्व दो-दो घंटे के अन्तर से तीन बार देकर वेग का समय गुज़र जाने के दो घटे बाद भी एक बार दे देना चाहिए। काढ़ा बरत रहे हो तो गरमियो में एक साथ अधिक परिमाण में बना कर न रखें क्योकि खराब होने का अन्देशा रहता है। यथासभव ताजा बना लिया जाना चाहिए।

पुराने बुखार : स्पेन्सर (1899, भारतीय ज्वरो का विवरण) का अनुभव है 'पुराने मलेरिया ज्वरो आदि मे जब शरीर को रसायन द्रव्य की भी आवश्यकता होती है तब तेल की पाच से दस बूद की मात्राएं दिन मे एक-दो बार खिलानी चाहिएं। मुख्यतया पुराने मलेरिया ज्वरों मे मैं इसे पिछले बारह बरस से बरत रहा हूं और मुझे यह कहने मे कोई संकोच नही कि इन ज्वरो मे यह असन्दिग्ध उपयोगिता की दवा है।' पत्तो का फाण्ट 'पुराने मलेरिया ज्वर में भी उपयोगी है यद्यपि वैसा प्रभावकारी तो नही जैसा तेल।' पुराने मलेरिया ज्वरो के अतिरिक्त अन्य जीर्ण ज्वरो मे भी अनेक लेखको ने तेल को पांच से दस बूद की मात्राओ मे देने की सिफारिश की है।

ज्वर में प्यास, वमन और जी मचलाना आदि लक्षणों को दूर करने के लिए छाल का उपयोग किया जाता है।

लोलिम्बराज बताते हैं कि पत्तों को कुण्डी सोटे में जरा कूट लें। इसे पानी में डाल कर हाथ से मथने पर जो झाग पैदा होते है उनका लेप करने से प्यास, जलन और मूर्च्छा शान्त होती है।

ज्वरो की निर्बलता, सामान्यतया आमाशय की दुर्बलता और क्षुधानाश मे तेल, फाण्ट या क्वाथ को पूरी मात्राओ से कुछ कम मात्राओ मे देना बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। थोड़ी-सी लौंग या दालचीनी मिला देने से दवा का प्रभाव बढ़ जाता है और इसकी अप्रियता भी कुछ कम हो जाती है। फूल अपने हलके से कड़वे गुण के कारण बल-दायक होते है और आमाशय की निर्बलताजन्य अजीर्ण मे तथा सामान्य निर्बलता के

रोगियों को फाण्ट के रूप में दिये जाते है। बल्य, लेपक तथा थोड़ी वृष्य होने के कारण गोंद निर्बलता की अनेक अवस्थाओ में उपयोग की जाती है। बबूल निर्यास की तरह यह दवाओ का अच्छा आधार का माध्यम बनती है।

विसर्प ज्वर: विसर्प (एरिसिपलिस) में नीम का काढ़ा उपयोगी बताया गया है। रोग के शमनार्थ पिलाया जाता है। रोगी को उल्टी कराना अभीष्ट हो तब भी यह दिया जाना चाहिए। कफ पित्तज विसर्प में वमन के लिए निमोली दी जाती है। विसर्प के जख्मों पर नीम को प्रक्षालन, क्वाथ, घी, अवचूर्णन या लेप किसी भी रूप मे बरत सकते है।

क्षय क्षय के रोगी को प्रतिदिन नीम और आंवले को घी के साथ सदा खाते रहने की चक्रपाणि सलाह देते हैं। बकिल (1935) के अनुसार नीम का तेल भारत और श्रीलका मे क्षयी गन्थियो में कृमिहर के रूप मे प्रयुक्त होता है। नीम का तेल चालीस तोले, हरिताल, मैनसिल, भिलावा, इलायची, कुमारी की जड़, चन्दन, तगर और चमेली प्रत्येक एक तोले, जल सौ तोले, विधिपूर्वक तेल पकाएं। यह तेल पूयस्रावी क्षयी ग्रन्थियो पर लगाया जाता है। गण्डमाला (हजीरों) के पकने से जो व्रण बन जाते हैं उन पर नीम के तेल मे भिगोई बत्ती रखते हैं। शोढल कहते है कि गण्डमाला मे नाक के द्वारा तेल देने से भी लाभ होता है।

सिर दर्द: पैत्तिक शिरःशूल में और बुखारो की सिर दर्द मे पत्तो के कल्क का माथे पर लेप करते हैं। शिरोविरेचन के लिए फूलो का प्रयोग किया जाता है। सुश्रुत ने ऊर्ध्वभाग के सशोधन द्रव्यो में नीम का परिगणन किया है। शोधन द्रव्यो मे इसका उल्लेख है। गुडूच्यादि, आरग्वधादि, लाक्षादि गणो मे इसका प्रयोग हुआ है।

रोग नाशक धूनी: रोग निवारण के लिए औषध द्रव्यो की धूनी देने की प्रथा आयुर्वेद में बहुत काफी है; काश्यप ने एक अध्याय धूनियों पर लिखा है। उसमें वे बताते है कि नीम के पत्ते, जड़, फूल, फल तथा छाल और घी को एक साथ मिलाने से अरिष्ट नाम की धूनी बन जाती है, यह धूनी एकदम अनिष्ट को दूर कर देती है। नीम के पत्ते, घी, गधे का पेशाब, वच, लाख और सरसो, रोग के निकालने के लिए यह धूनी अच्छी है। नीम के पत्ते, घी, तुलसी के पत्ते, कनेर के पत्ते; गौ, मेंढ़ा और बछड़े के बाल की धूनी से सब रोग नष्ट हो जाते है। नीम के पत्ते, घी, लाख, राल, चावल, उल्लू का मांस और बीठ की धूनी देने से मृगी का दौरा ठीक हो जाता है। (काश्यप सहिता कल्प स्थान, धूमकल्पाध्याय)।

संतर्पण के रोग: दोष का विचार कर के प्रतिदिन प्रात.काल नीम का रस पीने वाला मनुष्य संतर्पण जन्य रोगों से मुक्त हो जाता है। इस प्रयोजन के लिए नीम का पानी में काढ़ा भी उपयोगी है। (चरक, सूत्र स्थान 23; 10-13)।

ग्रहणी रोग: ग्रहणी रोग में आमाशयिक रसो की उत्पत्ति को बढाने के लिए दिये जाने वाले योगों भूनिम्बादि क्षार और त्रिफलादि क्षार में, ग्रहणी चिकित्सा के

किरातादि चूर्ण में पैत्तिक ग्रहणी की चिकित्सा के निम्बादि घृत में चरक ने नीम लिया है। ग्रहणी चिकित्सा में दिये जाने वाले एक योग वचादि चूर्ण में नीम के पत्ते और फल दोनों डलते हैं। पित्तगुल्म (वायु गोला) की चिकित्सा में बरते जाने वाले रोहिण्यादि घृत में नीम है।

जिगर के रोग : एक छटांक ताजे पत्तों का दस छटांक उबलते पानी में फाण्ट बना लें। यह अत्यन्त उपयोगी कडवा वानस्पतिक बल्य रसायन है जिसका जिगर पर अच्छा कार्य होता है। इसके प्रयोग के बाद मल का रंग प्रायः चमकीला पीला हो जाता है। पत्तों का काढा बद्धयकृत् में से पित्त को निकालता है। पित्तनाशक निरूहबस्ति में काश्यप ने एक योग में नीम डाला है। चरक की निरूह वस्तियो में तथा अनुवासन स्नेहों में नीम है। कडवे द्रव्यों के समूह में चरक ने नीम मिलाया है।

कामला : नीम के पत्ते, जड़ की छाल, तने की छाल, फूल और फलों के चूर्ण को घी तथा शहद में मिला कर प्रतिदिन चाटें अथवा गोमूत्र, पानी, दूध या शराब से लें। पथ्य मे शाली के चावलों को घी मे बनाये रसो के साथ या दूध के साथ ले। वर्जित पदार्थों को त्याग करता हुआ एक वर्ष तक इस पंचनिम्ब नामक उत्तम रसायन का सेवन करने से कामला तथा अन्य रोग नष्ट हो जाते हैं। चरक और चक्रपाणि कामला में पत्तों के ताजे रस मे शहद डाल कर प्रतिदिन प्रातःकाल पिलाते हैं। (भैषज्य रत्नावली, कुष्ठाधिकार; 12)।

पाण्डु : सुश्रुत ने पत्तों का प्रयोग पाण्डु (खून की कमी, अनीमिया) में किया है। चरक की पाण्डु चिकित्सा के शिलाजत्वटक में नीम की भावना दी जाती है। काला और पाण्डु के रोगी को स्नेहन के लिए दिये जाने वाले कटुकादि घृत और हरिद्रादि घृत मे नीम डलता है। पाण्डु रोग का कारण मिट्टी खाना हो तो चरक पत्तों के रस की मिट्टी में भावना दे कर रोगी को देते है जिससे मिट्टी खाने में उसे द्वेष उत्पन्न हो और उसकी मिट्टी खाने की आदत जाती रहे। ऐसे रोगी का संशोधन करने के बाद चरक व्योषादि घृत से संशोधन करते हैं जिस मे नीम भी डलता है।

शोथ : शोथ (श्वयथु, शोफ, इडीमा) के रोगी को नीम की सब्जी पथ्य है। नीम को गोमूत्र मे पीस कर शोफ रोगी के शरीर पर मलते है। नीम का तेल फीलपाव (फाइलेरिएसिस) में प्रयुक्त होता है।

उलटियों में : उलटियो को रोकने के लिए शार्ङ्गधर पत्तों के कल्क को खिलाते हैं। कफज वमन में वाग्भट्ट ने पत्तो के रस का प्रयोग किया है। चरक ने कफज वमन के रोगी का आमाशय शुद्ध करने के लिए नीम के काढे से वमन कराना प्रशस्त समझा है। पथ्य मे चरक बताते हैं कि कफज वमन का रोगी तक्र में नीम के पत्ते पका कर इस से चावल या दूसरे पदार्थ खाये। (चरक, चिकित्सा स्थान, 20; 35)।

उलटियां लाने के लिए : अधिक मात्रा में पत्तो का कषाय उलटियां लाता है। चरक के वमन द्रव्यों मे नीम है। दाह ज्वर का रोगी का कष्ट कम करने के लिए जब

उसे शीघ्र असर करने वाली वामक दवा देनी होती है तो सुश्रुत पत्तों के रस में शहद मिला कर देते हैं। कफज तृषा (बार-बार प्यास सताना) में पत्तों के रस को हलका गरम कर के दिया जाता है जिससे उलटियां आ कर प्यास शान्त हो जाए। (सुश्रुत उत्तरतन्त्र, अध्याय 48)।

अम्लपित्त : अम्लपित्त में खट्टे डकारों के साथ जब अम्लयुक्त आमाशयिक रस मुख में आते हुए हृदय प्रदेश में स्थित अन्न प्रणाली में विदाह उत्पन्न करते हैं उस अवस्था में नरहरि पण्डित ने नीम को विशेष गुणकारी पाया है। अम्लपित्त जब बहुत बढ़ गया हो, पित्तकफ के प्रकोप से शूल भी पैदा हो गई हो तो वृन्दमाधव नीम का सत्तुओं के साथ इस प्रकार प्रयोग कराते है—नीम के फूल, फल, पत्ती, छाल और जड़ की छाल को मिला कर एक भाग लें और विधारा को दो भाग ले कर चूर्ण कर लें। दस भाग सत्तुओं मे इसे मिला कर खांड से मीठा कर के रख लें। जब खाना हो तो शहद मिला कर ठंडे पानी मे खाएं। चक्रपाणि के अनुसार नीम के पत्तों और आंवलों को घी के साथ खाने से अम्लपित्त शीघ्र ही ठीक हो जाता है। रोगी को यह अपने भोजन का अंग बना कर सदा खाते रहना चाहिए।

पत्तों का कल्क पित्तकफ के प्रकोप को नष्ट करता है। पत्तों की सब्जी भी कफ-पित्तहर है। सुश्रुत ने इस प्रयोजन के लिए नीम और पित्तपापड़े को उपयोगी बताया है। चरक कहते हैं कि कफ और पित्त के वमनोन्मुख होने पर, रोग के आमाशय में आश्रित होने पर शरीर को हानि पहुंचाए बिना वमन के लिए नीम का प्रयोग करना चाहिए। (चरक, सूत्र स्थान 2; 6)।

आवाज सुरीली बनाना : विश्वास किया जाता है कि तानसेन ने अपने रोगों में जिस समस्वरता को उत्पन्न किया था उसका कुछ अंश अब भी उसकी कब्र पर छाये हुए नीम की पत्तियों मे रमा हुआ हैं और उन पत्तियों को खाने से मानवीय कंठ सुरीला हो जाता है। इसी विश्वास से गवैये अपने गले को सुरीला बनाने के लिए इन पत्तियों को अब तक भी खाते हैं। ग्वालियर में तानसेन की कब्र गवैयों के लिए एक पवित्र तीर्थ स्थान बन गया है। (मुगल रूल इन इण्डिया, एडवर्ड्स एण्ड गैरिट, 1930, पृष्ठ 336)।

खांसी, दमा, हिचकी : कैयदेव के पत्तों की सींकों को खांसी और दमे में लाभकारी बताया है। चरक के अनुसार मूंग की दाल में नीम के पत्तों को पका कर बनाया रसा दमे और हिचकी के रोगी को पिलाना हितकर होता है। (चरक, चिकित्सा स्थान 17; 97-98)।

खून जाना : शरीर के किसी भाग में से खून जाने (रक्तपित्त) की अवस्थाओं में चिकित्सक बताते हैं कि शाकसात्म्य वाले रक्तपित्त के रोगियों को शाक के लिए नीम की पत्ती का सीझा हुआ, घी में भुना अथवा रसे की तरह पकाया हुआ शाक देना हितकर है। (चरक, चिकित्सा स्थान 4; 38-40)।

आमवात : आमवात के लिए तेल का व्यापक प्रयोग होता है। सन्धिशोथ तथा

आमवात (र्हुमेटिज्म) में इसकी मालिश करते हैं और इसे खिलाते भी हैं। तीस रत्ती छाल और साठ रत्ती पिप्पली का काढ़ा आमवात, कटिशूल आदि में प्रयुक्त होता है।

गठिया : पटोल और नीम के पत्तों के काढ़े में शहद डाल कर पिलाने से गठिये (वातरक्त, गाउट) में दोषों का पाचन और शमन होता है। पत्तों को कांजी में पीस कर कपड़े पर फैला कर गठिये में आक्रान्त भाग पर लेप किया जाता है। चरक ने भी नीम का लेप हितकर पाया है।

उरुस्तम्भ : नीम की जड़ को शहद, सरसों और बामी की मिट्टी के साथ लेई-सी बना कर उरुस्तम्भ में गाढ़ा लेप करना चाहिए, इसी की मालिश करनी चाहिए। पत्तों की सब्जी शोथ और उरुस्तम्भ के लिए उपयोगी होती है। इसे तेल में छौंक कर पानी के साथ पकाना चाहिए। नमक बिना डाले ही खाना चाहिए।

छूत के रोग : एक तोला नीम के पत्ते, एक रत्ती कपूर और इतनी ही हींग को सिलबट्टे पर रगड़ लें। सोने से पहले खजूर के साथ कुछ दिन तक प्रति दिन ले लिया जाय तो छूत के रोगों के लिए शोधक काम करता है। इसी प्रयोजन के लिए इक्कीस पत्ते डाल कर गोघृत में बनाई रोटियां गौ के घी और मूंग की दाल के साथ इक्कीस दिन तक खाई जाती हैं। इन इक्कीस दिनों तक नमक खाने का निषेध किया जाता है।

चेचक : चेचक की शोधक चिकित्सा के लिए नीम की गिरी और बहेड़ी की गिरी को हल्दी के साथ पीस कर ठंडे जल से जो लोग सेवन करते रहते हैं, गोविन्ददास की सम्मति में, वे शीतला (चेचक) के आक्रमण से बचे रहते हैं। चेचक तथा दूसरी फैलने वाली बीमारियों की छूत से बचने के लिए दरवाजों पर पत्ते और छोटी शाखाएं बांध दी जाती हैं।

चेचक के रोगी के शरीर को ताजे पत्तों से ढक देते है। शीतला (चेचक) में पत्तों को पीस कर लेप करते हैं। चेचक या को पौक्स के दाने जब फूट जाते हैं और व्रण बनने लगते हैं तो वैद्य लोग ताजे पत्तों को रगड़ कर चौबीस घण्टे में दो-तीन बार लगाने की सिफारिश करते हैं। इसकी रोपक शक्ति की वे बहुत प्रशंसा करते है। रोग की हल्की तथा साधारण सब अवस्थाओं में यह लाभप्रद होता है। मद्रास के डॉक्टर पुल्ली अण्डी ने चेचक की बढ़ी हुई अवस्थाओं में इसे उपयोगी दवा बताया है। कोमल नये पत्ते और मुलेठी चूर्ण को घोटकर दो-तीन रत्ती की बनाई गोलियां प्रतिदिन देने से शीतला के रोगियों में लाभ देखा गया है।

खसरा : खसरा (मसूरिका) के रोगी के बिस्तर पर इसके पत्ते बिछा दिये जाते हैं और इसी के पत्तों के पंखे से उसे हवा की जाती है। गोविन्ददास ने त्रिदोषज मसूरिया ज्वर तथा विसर्प (एरिसिपलिस) ज्वर में इसके एक काढ़े से लाभ देखा है जो नीम की छाल, जवासा, आंवला सफेद तथा लाल चन्दन को पका कर बनाया जाता है। इस कड़वे योग को वे खांड मिला कर पिलाते है। मसूरिका में दाने बाहर निकल कर अन्तर्लीन हो गये हों तो इसे देने से फिर बाहर निकल आते हैं।

पेशाब के रोग : *पूजाक में मूत्रेन्द्रिय के सूज जाने से अथवा अन्य अवस्थाओं में* जब पेशाब बन्द हो जाता है तब पत्तों के काढ़े में रोगी को बिठाते हैं। इससे सोज में कमी आती है और पेशाब उतर जाने से रोगी को आराम मिलता है। मुगमेह के रोगी को सुश्रुत जड़ का कषाय पिलाते हैं। मूत्र के पैत्तिक विकारों में दिये जाने वाले काढ़ों में चरक नीम देते हैं। कफजन्य और वातजन्य पेशाब के रोगों में प्रयोग कराने के लिए त्रिकटकादि तैल तथा त्रिकंटकादि घृत में नीम भी डलता है।

स्त्रियों के रोग : गर्भावस्था में स्त्रियां तेल का अन्तः प्रयोग करती हैं। बुकानन हैमिल्टन बताते हैं कि मद्रास में लगभग एक औंस तेल प्रसव के बाद तुरन्त दे दिया जाता है। यह भी विश्वास रहा है कि जड़ को कमर में बाधने से प्रसवकालीन कष्ट नहीं होता, बच्चा सुखपूर्वक बाहर आ जाता है। प्रसूता को पहले दिन से ही पत्तों का ताजा रस देने से गर्भाशय का सकोच होता है, रक्तस्राव ठीक होता है, गर्भाशय और उसके समीप के अवयवों की सूजन उतर जाती है, भूख लगती है, मल साफ होता है, ज्वर नहीं आता और आता भी है तो उसका वेग बहुत कम रहता है। नीम का थोड़ा-सा अंश बच्चे को मिलता रहने से उसकी प्रकृति ठीक रहती है (देसाई)। प्रसव के पश्चात्-कर्म में ताज़े पत्तों का तेज़ काढ़ा योनि को पिचकारी करने आदि में लाभदायक है।

योनि रोगों में दुर्गन्ध को हटाने तथा योनि के स्राव सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए नीम के शीतकषाय या क्वाथ से योनि को दिन में दो-तीन बार धोना चाहिए और नीम की छाल का धुआं देना चाहिए। योनि रोगों में व्यवहृत उदुम्बरादि तेल और करीरादि तेल में नीम के पत्ते डलते हैं। नीम और बबूल की छाल को समान भाग में ले कर बनाया कषाय श्वेत प्रदर में लाभकारी है, कफज रक्तप्रदर में नीम की छाल और गिलोय को पीस कर मद्य के साथ चरक पिलाते हैं। भगकण्डू में हरड़ के साथ नीम खिलाया जाता है। गर्भिणी को पिछले दिनों में जब खुजली हो और उसके कारण त्वचा फटने लगे तो नीम के कल्क को लगाना चाहिए।

दूध की शुद्धि के लिए : धाय के दूध के दोषों को दूर करने के लिए वमन कराना आवश्यक हो तो नीम और परवल का क्वाथ नमक मिला कर पिलायें। स्तन्य शुद्धि के लिए रुग्णा के पथ्यों में नीम के पत्तों का रसा देते हैं जिसमें नमक और त्रिकुट का मसाला डाल लिया जाता है। धाय या मां का दूध बोझल हो तो रुग्णा को नीम काढ़ा पिलाना चाहिए।

शिशुओं का रोग : शीतपूतना नामक रोग से आक्रान्त शिशुओं को काश्यप एक धूनी देते हैं जिसमें निम्नलिखित द्रव्य हैं—नीम, गिद्ध तथा उल्लू की बीठ, तरक्षु का मल चित्रक और बछड़े के रोएं।

बवासीर : निमोली की गिरी तीस रत्ती और नीम की जड़ की छाल साठ रत्ती की गोली बना कर प्रतिदिन लगातार सात दिन तक बवासीर को ठीक करने के लिए दी जाती है। सुश्रुत ने बवासीर में नीम के काढ़े से धोने का निर्देश दिया है। मस्सो की

गन्धहस्तिनामक अगद तथा अन्य अनेक योगों मे इसका उपयोग मिल जाता है। विष प्रभाव से दीखना बन्द हो गया हो तो बकरी के मूत्र में नीम को सिल पर घिस कर आंख में आंजा जाता है। विष का असर इतना हो कि रोगी प्रकट रूप में मरा हुआ प्रतीत हो तब भी नीम का प्रयोग श्रेष्ठ समझा जाता है।

सर्पदंश : सर्पदष्ट रोगियो का निदान करने के लिए पत्तों का प्रयोग सर्वत्र प्रचलित है। कहा जाता है कि सर्प विषाक्त व्यक्ति को पत्ते कडवे नही लगते। पत्तो का प्रति दिन खाना सर्पविषरोधक समझा जाता है। चरक, सुश्रुत, वैद्यविनोद, योगरत्नाकर, रस रत्नाकर और वृन्दमाधव ने छाल, गोंद, पत्ते तथा बीजो को अन्य दवाओं मे मिला कर सर्पदंश की चिकित्सा मे बरतने के लिए लिखा है। चक्रपाणि, वृन्दमाधव और गोविन्द-दास ने नीम के एक योग बृहत्पञ्च निम्बचूर्ण के बारे मे लिखा है कि इसे लगातार एक वर्ष तक जो सेवन कर लेता है उसे सांप काट खाये तो सांप स्वयं ही मर जाता है।

बिच्छू का डंक . बिच्छू के डक के लिए पत्ते प्रचलित दवा हैं। चरक, हारीत संहिता तथा सुबोध वैद्यक मे छाल, गोंद, पत्ते तथा बीजो को अन्य दवाओ में मिला कर बिच्छू के डक मारने पर की जान वालो चिकित्साओ मे बरतन के लिए लिखा है।

मकड़ी के विष को नष्ट करने के लिए चरक नीम और सारिवा के रस या काढे मे शहद मिला कर पिलाते हैं।

विषो में निरुपयोगी : सर्पदश मे, बिच्छू के डंक मारने पर तथा अन्य छोटे विषैले कीड़ो के काटने पर शाखाओं से विष झाड़ते हुए मैंने देखा है, परन्तु कष्ट मे जरा भी कमी होती हुई नही देखी। 1951 की गरमियो मे ईंट पाथने वाली तीस साल की एक स्त्री को जब साप (सम्भवतः फनियर) ने काट खाया तो उसके सम्बन्धियो ने नीम से विष झाड़ना शुरू कर दिया था। कोई एक घण्टे के अन्दर ही वह मर गई। फिर भी मैंन देखा कि विष-वद्यों और मन्त्र-चिकित्सको की प्रतीक्षा मे उसका शरीर नीम के पत्तो से ढका पड़ा था। हाफकिन इस्टिट्यूट, बम्बई मे किये गये परीक्षणो (सर्पदंशे प्रयुज्यमाना भारतवर्षीया वनस्पतयः, 1930) के अनुसार सर्पदश (म्हस्कर और कायस्) तथा बिच्छू के डक (कायस् और म्हस्कर) की चिकित्सा मे पौदे के सब भाग निरुपयोगी है चाहे वे अन्त.प्रयोग मे व्यवहार किये जाय अथवा बहिःप्रयोग मे।

कृमिहर : कृमिहर के रूप मे भीतरी तथा बाहरी दोनो प्रकार से नीम के विविध भागों का उपयोग किया जा रहा है। ताजे पत्तो का तेज काढ़ा हलका कृमिहर घोल है। कृमिनाश के लिए तेल का बाहरी लेप के रूप मे व्यापक प्रयोग हो रहा है।

मार्गोसिट्स का प्रभाव : चैटर्जी और रोय (1917, इण्डियन जर्नल ओफ मेडिकल रिसर्च, जिल्द 5, पृष्ठ 656) ने मार्गोसिट्स के प्रभाव का अध्ययन किया। प्रोटोजुआ के प्रति इनका कार्य बहुत प्रबल है। दस हजार मे एक का घोल फ्लेजिलेट प्रोवाजीकिया (Flagellate prowazkia) को पाच मिनिट मे मार डालता है। इन अन्वेषको ने अन्य औषधियो के साथ तुलना करते हुए बताया कि कुनीन गन्धित का एक लाख मे एक का,

एमेटीन का दस हजार में एक का, टार्टार एमेटिक का पाच सौ मे एक का और सोडियम मार्गोसिद्स का दस हजार में एक का घोल पांच मिनट मे पर्लेजिलेट प्रोवाजोकिया को मार डालता है। पैरामीसियम कौडेटम इसके दो हजार मे एक के घोल से उसी क्षण मर गया। अम्ल के सोडियम लवण की माइक्रोफिलिएरी पर परीक्षा की गई। दो सौ में एक की सान्द्रता में यह इन जीवाणुओ को पैंतीस सेकेण्ड में मार देता है। इन अन्वेषकों का खयाल है कि मार्गोसेट्स में पराश्रयीहर गुण बहुत तीव्र विद्यमान है और जीवाणुनाशक गुण बहुत कम। विलेय लवणो की कार्बोलिकाम्ल को-एफ़िशिएण्ट केवल दो है और इसीलिए मार्गोसेट्स का कृमिहर या कृमिनाशक गुण परीक्षा नली में इतना स्पष्ट नही है। तथापि उनका यह भी खयाल है कि शरीरस्थ कृमियों के प्रति मार्गोसेट्स का तीव्र कार्य होता है, इस बात को दिखाने के लिए वे कहते हैं कि क्लिनिकल प्रमाण पर्याप्त है।

आंतों के कीड़े : कृमियो को मारने के लिए मीठे तेल के साथ पत्तों का कल्क दिया जाता है। शार्गंधर पत्तों के कल्क को अकेला देना भी लाभदायक समझते है। भाव मिश्र की सम्मति में पत्तों के रस में शहद मिला कर पिलाया जा सकता है। चरक सलाह देते हैं कि उदरकृमियों के रोगी को तीन रात या सात रात नीम के काढ़े की आस्थापन वस्ति (अनीमा) लेनी चाहिए। आतों के कीड़ो से कष्ट पाने वाले बच्चो की गुदा पर सूखे पत्तो का चूर्ण लगाया जाता है।

पत्तो का बहुत कड़वा रस ढोरों के लिए उदरकृमिहर रूप में प्रयुक्त होता है। तेल कीटाणुनाशक तथा उदरकृमिहर समझा जाता है। पेट के कीड़ों को मारने के लिए तीस से साठ बून्द की मात्रा में दिया जाता है। ब्रौटन (1880) के अनुसार जड़ में भी पेट के कीड़ों को मारने के गुण समझे जाते है।

उदर कृमिहर गुणो पर परीक्षण करते हुए कायस् और म्हस्कर (इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च, 1913, 11,364) ने तेल को दो से सात मिलीलिटर की मात्राओं में देने पर पाया कि इसकी अधिकतम मात्रा कभी-कभी अतिसार, मतली और सामान्य बेचैनी पैदा कर देती है। इन अन्वेषकों के परीक्षण बताते हैं कि पत्ते और तेल दोनों ही आंतो के पराश्रयियो को निकालने के लिए सर्वथा अप्रभावकारी है।

बालों के लिए : बीजो मे कीटनाशक उपयोगिता होने के कारण सिन्धी स्त्रियां बीजों को पानी में रगड़ कर सिर धोती है जिस से जुएं और लीखें मर जाती हैं। जुएं मारने के लिए तेल भी बालों पर लगाया जाता है। जैसे हम सरसों या खोपे का तेल बालों पर लगाते हैं वैसे ही अनेक स्थानों पर नीम के तेल को बरतते हैं। वाग्भट ने इसे बाल झड़ने और गंज के लिए प्रभावकारी बताया है। इन रोगो से छुटकारा पाने के लिए जितेन्द्रिय रहते हुए एक महीने तक तेल की कुछ बून्दें नाक द्वारा लेनी चाहिएं और पथ्य में दूध पीना चाहिए।

नीम के बीजों की गिरी को भागरे के रस की इक्कीस और सैन के काढ़े की इक्कीस भावनाएं दे। दबा कर इसका तेल निकाल लें। इस तेल का नस्य लेने से और

पथ्य में दूध चावल खाने से असमय में सफेद हो गये बाल काले हो जाते हैं।

त्वचा के रोग : भारत और श्रीलंका में तेल एग्जिमा तथा अन्य त्वग्रोगों में कृमिहर के रूप में प्रयुक्त होता है (वकिल, 1935)। मदोएरा में तेल खुजली के लिए वरता जाता है। खाज नष्ट करने वाली दस ओषधियों में चरक ने नीम का पाठ किया है (च., सू. 4; 14)। सुश्रुत फूल को कण्डुघ्न समझते हैं। फूलों के विश्लेषण से प्राप्त तेल क्षोभक होने के कारण त्वचा के रोगों में उपयोग किया जाता है (केमिकल एब्स्ट्रैक्ट्स, जिल्द 42, सं० 1, जनवरी 10, 1948 पृष्ठ 326)। त्वचा के रोगों में पत्तियों का रस पीने को देते हैं और इसका लेप भी करते हैं। रोग की पुरानी अवस्थाओं में यह अधिक लाभ करता है (देसाई)। पामा तथा त्वचा के पुराने रोगों में हरड़ के साथ नीम दिया जाता है। ऐसे त्वग्रोग, जिन में त्वचा के ऊपर उभार या चकत्ते पड़ गये हों, नीम की पत्तियों और आंवलों को घी के साथ खाते रहने से ठीक हो जाते हैं। खुजली, फोड़े, एग्जिमा आदि त्वग्रोगों में नीम का सत (एसेन्स) एक से दस बून्द की मात्राओं में पानी के साथ दिया गया जिससे रोगियों की सामान्य अवस्था उन्नत हो गयी थी और इसका असर यह हुआ कि इन रोगों में की जाने वाली चिकित्साओं को परोक्ष में इससे सहायता मिली (कोमन)। दाद, खुजली आदि त्वचा के विभिन्न विकारों में तेल का पराश्रयी-नाशक के रूप में बाह्य प्रयोग अत्यन्त लाभदायक है। जहां किसी भी प्रकार के पराश्रयी का सन्देह हो इसका प्रयोग करना चाहिए। यह शीघ्रता से पराश्रयी को नष्ट करता है और स्वस्थताजनक कार्य को तेजी से बढ़ाता है। जब पराश्रयी ने त्वचा के अन्दर गहरी सतह में आश्रय पा लिया हो तो यह आवश्यक होगा कि तेल को अच्छी तरह दस मिनट तक या इससे भी अधिक देर तक मला जाय। मैंने इसे कुत्तों की खुजली पर भी बरता है और उपयोगी पाया है (स्पेन्सर 1899)। तेल के मार्गोसिक एसिड से निकलने वाले मार्गोसेट्स के पराश्रयीनाशक गुणों को ध्यान में रखते हुए यह कण्डू, पामा आदि के कई रोगियों पर परीक्षा किया गया। परिणामों को देख कर कहा जा सकता है कि यह इन रोगों में लाभकारी प्रभाव रखता है (चोपड़ा, 1936)।

छपाकी : नीम के पत्तों के साथ आंवले को रगड़कर चटनी-सी बना लें। घी के साथ इसे खाने से छपाकी (शीतपित्त) नष्ट हो जाती है। छपाकी में हरड़ के साथ भी पत्ते खिलाए जाते हैं। छपाकी के चकत्तों पर नीम का तेल मलना चाहिए।

फोड़े, जख्म : फोड़े, फिन्सियों तथा जख्मों की चिकित्सा में पत्तों को पुल्टिस, मरहम तथा लेप आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। जावा में पत्ते, पुल्टिसों में काम आते हैं। मेल्ड्रम ने जोहोर की दवाओं की सूची में व्रणों की चिकित्सा में पत्तों का उल्लेख किया है। श्रीलंका में जख्मों पर कृमिहर के रूप में तेल प्रयुक्त होता है। सूखे बीजों में चिकित्सोपयोगी गुण लगभग वही होते हैं जो तेल में, परन्तु इन्हें पीस कर पानी में या किसी अन्य द्रव्य में मिलाने के बाद व्रणों पर या त्वचा के फोड़े, फिन्सियों पर लगाना होता है। इसलिए, इन का प्रयोग प्रायः असुविधाजनक होता है और ये वही

उपयोग में लाए जाते है जहां तेल सुलभ न हो।

क्रेवोस्ट और पेटिलौट (1929) ने हिन्द चीन में नीम के प्रयोग के बारे में जो बहुत उपयोगी जानकारी संग्रहीत की है उसमें पत्तो तथा छाल का फोडो पर बाहरी प्रयोग भी बताया गया है। कहा जाता है कि विविध चिकित्साओ के अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं।

लसीका ग्रन्थियों की सोज पर, ऐसे फोड़ों पर जो सख्त गांठो के रूप मे हों और जख्मों की सोजों पर पत्तियों का कल्क गरम करके बांधते हैं। ग्रन्थीय अर्बुदो पर पत्तो को पीसकर लगाने से कहा जाता है कि इन्हें घोलने का अच्छा कार्य करता है।

व्रणों के लिए पत्तों का फाण्ट या काढा हलका कृमिहर तथा रोपण घोल है और तेल उत्तम कृमिघ्न तथा पूयनाशक है। कैयदेव ने पत्तो में व्रण को ठीक करने का गुण विशेष रूप से बताया है। व्रण पर जब सोज हो और ठीक तरह पका न हो तो यह उसे पकाने का काम करता है, व्रण पक गया है तो इसका लेप उसे बहा कर साफ़ कर देता है और जख्म को सुखाता है।

ताजे पत्तो का तेज काढा हलके कार्बोलिकाम्ल घोल के सदृश जख्मो और घावो को धोने मे लाभदायक समझा जाता है। चरक के अनुसार व्रण को साफ करने के उद्देश्य से पत्तों के काढ़े से धोना चाहिए, इन्हीं के कल्क का लेप करके ऊपर कुछ पत्ते रखकर ठीक तरह ढक देना चाहिए।

जख्मों को साफ करने के लिए हारीत पत्तों के कल्क मे शहद मिलाकर लेप करते हैं। शार्गंधर भी समझते हैं कि पत्तो के जल या काढ़े से घावों को प्रतिदिन धोने से और पत्तों का कल्क बांधने से घाव शुद्ध हो कर जल्दी ही भर जाते है। नीम के पत्तों को हल्दी, आमाहल्दी, तिल, घी, सेंधा नमक, मुलैठी और त्रिवृत के साथ सिलबट्टे पर रगड़कर जख्मो को साफ़ करने और भरने के उद्देश्य से काश्यप लेप करते हैं। जख्मों को भरने और सुखाने के उद्देश्य से नीम के पत्ते, घी, शहद, दारु हल्दी तथा मुलहटी के कल्क को गौज में लगाकर पट्टी करते हैं। चरक के उत्कृष्ट व्रण रोपक एक योग कम्पिल्लादि तेल में नीम है। दुष्ट व्रणों, शोथयुक्त ग्रंथियो, रगड़ और मचकोड़ पर पत्तों के काढ़े का सेक करने से वेदना शान्त होती है। नीम के पत्ते, वच, हीग, सेंधा नमक और सरसो की धूनी व्रण की रूक्षता और खुजली को दूर करती है, वेदना शान्त करती है और व्रण के कृमियो को मारती है।

नीम की गिरी और बहेड़े की गिरी को हल्दी के साथ पीसकर खाते रहने से फोड़े, फिन्सी नहीं निकलते। पत्तो को आंवले और घी के साथ सदा खाते रहने से फोड़े, फिन्सी ठीक हो जाते हैं। पत्तो को हरड़ के साथ खिलाना भी लाभदायक होता है।

पुराने जख्मों पर तेल उत्तेजक और रोचक कार्य के लिए उपयोगी दवा है। खराब जख्म तथा ऐसे व्रण जिनमें मास गल रहा हो उन पर कार्बोलिक तेल के समान लगाने से यह कुछ हद तक तन्तुनाश की प्रक्रिया को रोकता है, कीड़ो की उत्पत्ति को

रोकता है, यदि पहले ही पैदा हो चुके हों तो उन्हें छुड़ाता है। पत्तों के कल्क में थोड़ी हींग मिला कर कीडों को मारने के लिए बांधते हैं।

तिल तेल के साथ मिला कर बनाई पत्तों की पुल्टिस अस्वस्थ व्रणो के लिए बहुत लाभप्रद है। वेदनायुक्त और दूषित व्रणो, विशेषकर लम्बे समय तक चलने वाले व्रणों में नीम के पत्तों की पुल्टिस रोहण क्रिया को उत्तेजना देने के लिए लाभकारी होती है। इसे तैयार करने के लिए ताजे पत्तों को पर्याप्त परिमाण में लेकर गरम जल के साथ पीस लें और और तब कपड़े पर फैला कर व्रणयुक्त पृष्ठ पर लगाएं। इस लेप में यदि कभी वेदना और क्षोभ उत्पन्न हो जाए तो लेप मे समान भाग चावलों का आटा मिला लेना चाहिए।

नाड़ी-व्रण पर तेल में भिगोई हुई वत्ती रखते है।

घोड़ों के जख्म : गार्सिया द ओर्टा (1563) ने घोड़ो के जख्मों की चिकित्सा में अपना अनुभव इस प्रकार लिखा है—'जिन जातियों से मैं परिचित हूं उनमे एक अति प्रसिद्ध, उपयोगी तथा चिकित्सा के काम का वृक्ष है जिसे निम्बो कहते हैं। बालाघाट मे मैंने इसके गुणों को जाना था क्योंकि वहां मैंने इससे घोड़ो की पीठ के घावों को ठीक करने में सफलता प्राप्त की थी। इन जख्मों को साफ़ करना और ठीक करना बहुत कठिन था। ये घाव बड़ी शीघ्रता से साफ हो गए और घोड़े जल्दी ठीक हो गए थे। यह सब पूर्णतया इस वृक्ष के पत्तों से हुआ था। इन्हे पीसकर निम्बू के रस में मिलाकर जख्मो पर रख दिया गया था।'

कुष्ठ : छाल, पत्ते, फल और तेल कुष्ठ में विविध रूपो में दिए जाते हैं। मार्गोसेट्स को अकेले या चालमुग्रा तेल के साथ मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है। कुष्ठ में तेल का प्रयोग करने की अपेक्षा मार्गोसेट्स के सूचिवेध देने से और अम्ल का स्थानिक उपयोग करने से अधिक लाभ पाया गया है। डॉक्टर सी० मैकनामरा ने सूखे पत्तो का जलीय सत्व (वाटरी एक्सट्रेक्ट) कुष्ट के रोगियों को देने की सलाह दी है। चरक आदि प्राचीन संस्कृत लेखकों ने कुष्ठ में नीम का अन्तः तथा बाह्य दोनों रूपों मे विस्तृत उपयोग किया है। वृन्दमाधव ने कुष्ठाधिकार मे बहुत से योगो में नीम को लिया है। चरक के कुष्ठहर पञ्चदस कषायों मे[1], कुष्ठ चिकित्सा के मुस्तकादि चूर्ण[2], त्रिफलादि चूर्ण[3], तिक्तषट्पलक घृत[4] तथा महातिक्तक घृत[5] में, लेप, उबटन के योगों मे[6], मालिश,

---

1 चरक, सूत्र स्थान 3; 3।
2 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 65-66।
3 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 68-69।
4 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 140-143।
5 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 144-150।
6 चरक, सूत्र स्थान 3; 8-9।

नीम (Azadirachta indica A. Juss.) का वृक्ष

नीम (Azadirachta indica A. Juss.) की पुष्पित शाखिका

खैर (Acacia catechu Willd.) का वृक्ष

कत्था बनाने का झाला

खैर की कतरनों का काढ़ा पका कर गाढा करके कत्था बनाया जाता है

भिलावा (Semecarpus anacardium Linn.) की फलदार शाखा

बड़ा गोखरू (Pedalium murex Linn) का फूल और फल वाला पौधा

चालमुग्रा [Hydnocarpus lauripolia (Dennst.) Sleumer] की फलदार शाखा

तुवरक [Hyndocarpus kurzii (King) Warb.] की मुकुलित शाखिका
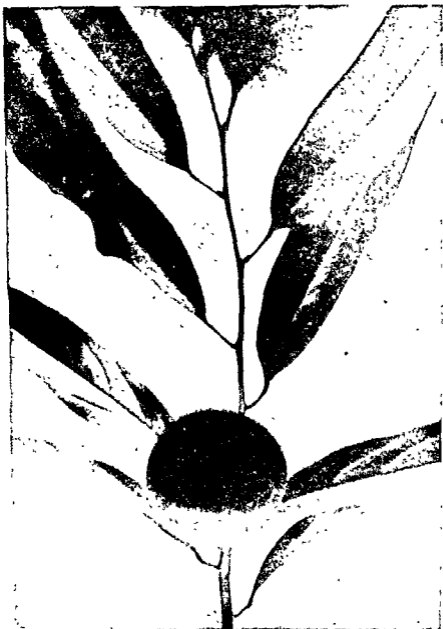
तुवरक [Hydnocarpus kurzii (King) Warb.] की फनदार शाखा

कुष्ठ फल (Gynccardia odorata R. Br.) का फलदार पेड़

लेप, उबटन, प्रघर्षण, अवचूर्णन आदि के लिए उपयोगी एक योग कुष्ठादि योग में[1], कफपित्तज कुष्ठ नष्ट करने वाले एक योग त्रिफलादि कषाय में[2], वातपित्त कुष्ठ में दिये जाने वाले घृत[3] में, मण्डल कुष्ठ में कुष्ठ कृमियों को मारने तथा खुजली नष्ट करने के लिए व्यवहृत कनकक्षीरी तेल में नीम है।

फलों के कल्क को शार्ङ्गधर कुष्ठ में खिलाते हैं। आयुर्वेदिक लेखकों के अनुसार रोग प्रारम्भ ही हुआ हो तो काढ़ा देना शुरू कर देना चाहिए। स्नान के लिए भी काढ़ा प्रशंसित है। कुष्ठनाशक छः कषायों में चरक ने नीम और पटोल का काढ़ा देने के लिए लिखा है। पीने के साथ-साथ यह कषाय रोगी के स्नान के लिए भी काम आता था। इससे पकाए तेल और घी के योग रोगी को खिलाए जाते थे। कुष्ठ के मण्डलों पर इसके चूर्ण को मला जाता था। अवचूर्णित (डस्ट) किया जाता था और लेप किया जाता था। शोढल के अनुसार नीम के सौ पत्तों को पीस कर छः दिन तक प्रतिदिन लेने से पुराने तथा खराब कुष्ठ भी ठीक हो जाते है और लगातार एक मास तक हरड़ के साथ नीम का सेवन कर लिया जाय तो सब प्रकार के कुष्ठ दूर हो जाते हैं।

पंचनिम्ब चूर्ण को बारह ग्राम की मात्रा में अड़तालीस ग्राम खैरसार के काढ़े या असन के काढे के साथ या घी के साथ अथवा दूध के साथ लगातार एक महीने का सेवन किया जाए तो शार्ङ्गधर की सम्मति मे सब प्रकार के कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। रसायन होने से यह शरीर की सामान्य अवस्था को भी उन्नत करता है।

शुद्ध पारा, आवले का फल और नीम के बीज की गिरी को बराबर भाग ले कर खैर के काढ़े से भावना देकर गोलियां बना लें। पारिभद्र रस नामक यह योग दाद तथा कुष्ठ में उपयोगी समझा जाता है। नीम के युक्त अन्नों और घृतों को चरक कुष्ठी को पथ्य में देते हैं। नीम के कषाय की आस्थापन वस्ति कुष्ठी को दी जाती है।

चरक कहते हैं कि शरीर के ऊपर के भाग मे, स्थित कुष्ठों मे यदि हृदय प्रदेश मे दोष का उत्क्लेद हो तो नीम के रस मे मदनफल, इन्द्र जौ, मुलहठी और पटोलपत्र को वमन के लिए पिलाना चाहिए। पैत्तिक कुष्ठ के रोगियों को नीम का शीतल कषाय स्नान तथा पान के लिए हितकर है। रक्तपित्त प्रधान कुष्ठो में छाल की अपेक्षा नीम के घी का प्रयोग अधिक लाभ दिखाता है। स्पर्शज्ञान से सर्वथा रहित कुष्ठो मे नीम के पत्तों से आक्रान्त भाग को अच्छी तरह घिस कर लेप लगाने चाहिएं। स्पर्श की अज्ञता को दूर करने, कुष्ठकृमि को नाश करने तथा अनुवासन के लिए नीम को अन्य द्रव्यो के साथ स्नान, पान, लेप, सिद्धस्नेह आदि विविध रूपों मे देना चाहिए। यदि तन्तुओ मे नाश होने की प्रक्रिया जारी हो, लसीका बहती हो, यदि वे कृमियों द्वारा खाये जा रहे हो तथा

---

1 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 102-104।
2 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 100।
3 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 136।

गिर रहे हों तो गोमूत्र, नीम और वायविडङ्ग से स्नान, पान तथा लेप कराना चाहिए। वातप्रधान कुष्ठ मे नीम का काढ़ा और नीम से पकाया घी लाभ करता है।

स्पेन्सर (1899) ने पत्तों के फाण्ट को कोढ़ में प्रयोग करने के बाद अनुभव किया है कि शायद अपवाद रूप में केवल एक उदाहरण के अतिरिक्त इसका रोग पर विशेष कार्य नहीं था। डॉक्टर कायस् और म्हस्कर ने स्थानीय चिकित्सकों द्वारा बताये गये निर्देशों के अनुसार पत्तों को कुष्ठ चिकित्सा में दिया और निरुपयोगी पाया।

कुष्ठ में ताड़ी का उपयोग : टी० पी० घोष (इण्डियन फौरेस्टर, जून 1933) के अनुसार कुष्ठी मनुष्य अपने घृणोत्पादक रोग की औषध के रूप में नीम के स्राव को उत्सुकता से सेवन करते हैं। परन्तु रासायनिक विश्लेषण से प्रतीत होता है कि नीम की ताड़ी मे कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिससे यह कुष्ठ तथा त्वचा के अन्य रोगों के लिए लाभदायक कहा जा सके। नीम में से प्रति दिन तो स्राव निकलता नही इसलिए इसकी दुर्लभता ही इसके महत्त्व को बढ़ाने में पर्याप्त कारण है। श्री टी० पी० घोष ने कोढ़ मे उपयोगी होने के प्रचलित विश्वास का मूल स्रोत हिन्दुओं के प्राचीन चिकित्सा साहित्य को बताया है परन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है प्राचीन संस्कृत लेखकों ने नीम की ताड़ी और उसके गुणों या उपयोगों का उल्लेख नहीं किया। ब्रैण्डिस (1874), वाट (1891) आदि विद्वानों की रचनाओं में नीम के मद का वर्णन मिलता है।

फिरंग : स्पेन्सर (1899) ने पुराने फिरंग विकारों में पत्तों के फाण्ट को शक्तिशाली रसायन का कार्य करते पाया है। स्पेन्सर के अनुसार 'पौदे का सबसे अधिक क्रियाशील भाग तेल है।…पुराने फिरंग व्रणों में तथा अन्य दूषित व्रणों मे जिनमें रोहण की प्रवृत्ति नहीं दीखती यह बहुत लाभ करता है। अकेले तेल का प्रभाव अधिक उत्तेजक पाया जाय, अथवा कम शक्ति के तेल का प्रयोग वांछनीय हो तो इसे किसी दूसरे सादे तेल में मिला कर हलका कर लेना चाहिए।'

पराश्रयीहर गुणों की सम्भावना से चैटर्जी ने उपदंश (सिफलिस) की चिकित्सा में मार्गोसेट्स की परीक्षा की। फिरंग की प्रथम, द्वितीय और तृतीय अवस्थाओं मे सोडियम मार्गोसेट्स का घोल 0 01 ग्राम से 0.325 ग्राम की विभिन्न मात्राओं में त्वचा, मांस तथा शिरा के सूचीवेधों द्वारा दिया गया। प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं में प्रारम्भिक क्षत और द्वितीय अवस्था के चिह्न अचिकित्सित रोगियों की तुलना में इसके प्रभाव से बहुत अधिक शीघ्रता से लुप्त हो गये। अधिक देर के द्वितीय और तृतीय अवस्था में त्वचा के क्षत, गांठें (गम्मेटा) आदि भी यद्यपि अच्छे हो गये थे परन्तु परिणाम इतने अच्छे नहीं थे जितने कि संखिया, पारद, विस्मिथ और नैलिद् के देने से प्राप्त होते हैं। फिरंग में तेल की तुलना में मार्गोसेट्स के सूचीवेध देना और अम्ल का स्थानिक उपयोग अधिक लाभकारी पाया जाता है।

ताड़ी : कभी-कभी नीम के वृक्ष से स्वयं ही एक स्राव निकलने लगता है जिसे नीम का मद, नीम का रस या नीम की ताड़ी कहते हैं। प्राकृतिक अवस्था में वृक्ष के दो

या तीन और कभी-कभी इससे भी अधिक भागो सेस्वच्छ नीरङ्ग द्रव बहुत पतली धार के रूप में या लगातार बूंदों के रूप मे बहना आरम्भ हो जाता है। यह तीन से सात सप्ताह तक बहता रहता है। वृक्ष के वे भाग जिनमें से स्राव निकलता है तने, बडी-बड़ी शाखाएं और जड़े है। इनमें विद्यमान छोटी-छोटी दरारों, गढ़ों या छिद्रो में से रस टपका करता है। वसन्त में आधार के पास तने में चीरा लगा कर कभी-कभी कृत्रिम छिद्र भी करने पड़ते है। एक वृक्ष से चौबीस घण्टो में निकलने वाले द्रव का परिमाण वृक्ष के आकार के अनुसार दो से आठ बोतल तक होता है।

कहा जाता है कि कृत्रिम विधि से नीम का मद उत्पन्न करने वाले वृक्ष बहुत कम होते हैं। मद निकालने वाले वृक्ष सामान्यतया जल के समीप नदी नालों या जल के प्रवाहों के किनारों पर ऐसी जगहो पर पाये जाते है जो सदा गीली रहती हैं। कहा जाता है कि ये सब सुन्दर और छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के वृक्ष होते हैं।

माईतापुर मे एक वृक्ष ने इस सम्बन्ध में बहुत ख्याति प्राप्त की है। ग्राम के ऊपर दक्षिणीय सिरे पर एक छोटी-सी गली में यह वृक्ष था जिसे मरे हुए देर हो गई है। यह एक सुन्दर और बड़ा वृक्ष था जिसकी आयु लगभग पचास साठ वर्ष की रही होगी। हर तीसरे या चौथे साल यह स्राव उत्पन्न करता था। अन्तिम या चौथी बार स्राव उत्पन्न करने के बाद तना शीघ्रता से खोखला हो गया और वृक्ष इसके बाद तुरन्त मर गया। स्राव निकलने से पूर्व प्रत्येक अवसर पर तने में से तीन या चार दिन तक द्रव बहने की गड़गडाहट का सा एक विशिष्ट शब्द हर समय स्पष्ट सुनाई देता था। वृक्ष के तीन या चार भागों मे से जब तक स्राव वास्तव में बह न निकले वह गड़गड़ाहट सुनाई देती रहती थी। वृक्ष का मालिक फैज अहमद खां पड़ौसियों तथा इधर-उधर के तद्-रसेच्छुक लोगों को इस अत्यन्त दुर्लभ समझी जाने वाली औषधि के निकलने की सूचना भिजवा देता था। रोग निवारण के लिए स्राव की ख्याति इतनी अधिक फैल गई थी कि वृक्ष प्रातः सायं लोगों से घिरा रहता था। वे रस खरीदते थे और बड़ी उत्सुकता तथा आशा से पीते थे। इसका मूल्य साधारणतया चार से दस आने प्रति बोतल था और एक बार तो इसी परिमाण का मूल्य एक रुपया तक पहुंच गया था। यह स्वाद में मामूली सा कड़वा था और इसमें नीम वृक्ष की हलकी विशिष्ट गन्ध थी। ऐसा समझा जाता था कि यह कभी सड़ता नहीं और इसमे विषैला गुण भी नही है।

: आठ :

बकायन

सुगन्ध और छाया के लिये संसार के गरम भागो में सर्वत्र बहुत विस्तृत रूप से बोया जा रहा है। मध्यम आकार का बारह मीटर ऊंचा और सामान्यतया इस से भी कम ऊंचा बहुत शोभावान् वृक्ष है। तना छोटा, सीधा, 1.80 से 2.10 सेण्टीमीटर घेरे वाला, शाखाएं फैलती हुई एक बड़ा चौड़ा मुकट बनाती है। मलय प्रायद्वीप में बहुत छोटे आकार पर ही फूलने लगता है और बड़े आकार मे पनपता हुआ नही देखा गया। छाल एक सेण्टीमीटर मोटी जिसका अन्दर का भाग कठोर, भूरा लाल, बाहर का भाग हलका गहरा मटमैला होता है। लकड़ी में बाहर के तीन-चार वलय मे प्रायः मृदुकाष्ठ (सेपवुड) होती है, जिस का रंग पीला सा रहता है। अन्तःकाष्ठ भूरी सी सफेद या लाल सी होती है। रेशे मोटे होते हैं।

दिसम्बर से मार्च-अप्रैल तक वृक्ष सामान्यतया पत्रविहीन रहता है। मार्च से मई तक सुन्दर फूलो और पत्तो से भरा हुआ यह अत्यन्त शोभावान् दीखता है। पीले फलो के गुच्छे पतझड़ में पकते हैं और जब तक पत्ते झड़े रहते हैं ये वृक्ष पर ही लटके रहते हैं। इस अवस्था में वृक्ष की अद्‌भुत शक्ल दीखती है। फल एक सेण्टीमीटर लम्बा, पकने पर पीला, पहले चिकना, बाद मे झुर्रीदार हो जाता है। गूदा कुछ सूखा होता है। गुठली बहुत सख्त, सामान्यतया इस में पांच कोष तथा पांच बीज होते हैं।

परीक्षाएं बताती हैं कि बीजो की जीवनी शक्ति लगभग एक साल तक ठीक बनी रहती है। हां एक उदाहरण में यह देखा गया है कि एक साल के रखे बीजो की तुलना में ताजे बीजों मे उगने की शक्ति चार गुणा अधिक थी।

अंकुरोत्पत्ति : नरसरी की क्यारियों मे फल बो कर पानी दे दिया जाय तो अंकुरोत्पत्ति दो से तीन सप्ताह में होती है। प्राकृतिक अवस्थाओ मे बीज बरसात में या पहले जमीन पर गिरता है जो आगामी वर्ष तक प्रसुप्त पड़ा रहता है। यदि काफी बारिश हो जाय तो अंकुरोत्पत्ति बरसात मे या कभी-कभी पहले भी हो जाती है।

संस्कृत के नाम : बकायन के संस्कृत के नामो में इस की बहुत सी विशेषताएं हैं। पाठक कुछ नामों को तथा उन के हिन्दी अर्थ को देखें :

उत्पत्ति बोधक नाम : महा निम्ब (नीम की अपेक्षा अधिक बड़ी—ऊंची—

जगहों पर मिल जाने वाला), गिरिक, (पहाड़ों पर मिलने वाला), हिमद्रुम (हिमालय पर काफी ऊंचाई पर भी मिल जाने वाला)।

परिचय ज्ञापक नाम : रम्यक (रमणीय), निम्बक, निम्बकर, निम्बरक, (नीम जैसा वृक्ष), निम्बपत्र (जिस के पत्ते नीम के पत्तो से मिलते है), पक्तिपत्र, श्रेणिपत्र, (पत्तियां पंक्ति में लगती है), मालक (फल की मालाएं बनती है), शुकमालक (जिस पर बैठी हुई तोतों की पक्तियां तोतों की मालाए दीखती हो), काकाण्ड (हरे फलो का चिकना पृष्ठ मानो कौए के अण्डे के समान हो), क्षीर (गाद वाला वृक्ष), कार्मुक (धनुष ?), द्रेक, द्रेकी (यह पंजाबी नाम संस्कृत मे ले लिया गया है)।

गुण प्रकाशक नाम : महातिक्त (खूब कड़वा), जीव (जिलाने वाला वृक्ष), कामुक (सुगन्धित फूल कामियो को प्रिय है), अक्षीर (जिस का गोद—क्षीर—विशेष काम का न हो), मदोद्रेक (जिस में मद—नशा—पैदा करने का गुण अधिक है), विषमुष्टिक (विषैले बीज जैसे जहर की मुट्ठी हो)।

अंग्रेजी में इस के कई नाम है। उन का अर्थ है—मनको का वृक्ष, पवित्र वृक्ष, भारत की शान। खिले हुए बकायन वृक्षों के झुरमुट वस्तुतः भारत की शान दीखते है।

उद्भव स्थान : बकिल (1935) के अनुसार कही पर भी निस्सन्देह रूप से जंगली नही है। रोबर्ट वेण्टले और हेनरी ट्रीमेन (1880) के अनुसार इस का मूल देश निश्चित नही कहा जा सकता परन्तु सभवतः यह चीन और भारत का आदिवासी है और अब भूमण्डल के कुछ गरम भागो मे फैला हुआ है। हेनरी ट्रीमेन (1893) इसे 'उत्तरीय भारत, चीन, पर्शिया और संभवतः वेस्ट इण्डीज में भी आदिवासी' बताते है।

भारत तथा ब्रह्म देश मे सर्वत्र सामान्य रूप से बोया जाता है और प्राकृत बना लिया गया है। पंजाब (अविभक्त) मे यह नीम का स्थान ले लेता है। पजाब के पूर्वीय भागो में कम और मध्य तथा पश्चिम में अधिक होता है।

विश्वास किया जाता है कि लोअर हिमालय और शिवालय मार्ग मे 610 से 914 मीटर की ऊंचाई तक यह देशीय है। सामान्यतया यह बोया हुआ वृक्ष मिलता है जो हिमालय में 1,768 मीटर तक पहुंच गया है। नीम की अपेक्षा शीत अधिक सहन कर लेता है। बुशहर मे 2,743 मीटर तक उगता है। बिलोचिस्तान और कश्मीर मे जेहलम की घाटी की निसर्ग उपज समझा जाता है। बिलोचिस्तान मे बकायन के झुण्ड जगली पाये गये हैं। पश्चिम कश्मीर और हज़ारा मे देशीय है।

महाराष्ट्र मे सर्वत्र बोया जाता है। कोकण और दक्खन के आस-पास गांवो में यह साधारण रूप से मिलने वाला वृक्ष है। वाट (1891) के अनुसार मुसलमान इस को दक्षिण में लाये थे।

श्रीलंका मे प्रायः बोया जाता है। प्रोम और आवा मे तथा इन के पास-पड़ोस के गांवों मे प्रकट रूप में केवल उगाया हुआ मिलता है। पड़ोस के स्यामी प्रान्तो मे जगली है। मलय प्रायद्वीप मे बगीचो मे बोया जाता है। बगीचो के बाहर मुश्किल से ही मिलता

धुन चिगली (1935) के अनुसार चीन में सर्वत्र होपेई से दक्षिण की ओर यूनान और क्वांगतुंग तक पाया जाता है। 610 मीटर की ऊंचाई तक मिल जाता है। अफ़ग़ानिस्तान, पश्चिमी एशिया, अफ्रीका, दक्षिण यूरोप, वेस्टइण्डीज, अमेरिका के दक्षिणीय राज्य, आस्ट्रेलिया, चीन और भारतीय द्वीप समूहों में सामान्यतया बोया जाता है। (ब्रेण्डिस 1874)।

लकड़ी अच्छी है : किसी एक स्थान से काफी मात्रा में लकड़ी बाजार में नहीं आती। बर्मा के सागोन से लगभग आधी दृढ़ता इस मे है। तुन के बराबर है। पुराने वृक्षों की लकड़ी पर प्राय. सुन्दर निशान होते हैं। पेनिन्सुला में यह फर्निचर में काम आती है। फर्निचर के लिए यह अच्छी समझी जाती है परन्तु एस० कुर्ज (1877) फ़ोरेस्ट फ्लोरा ऑफ़ ब्रिटिश बर्मा) के अनुसार यह फट जाती है। इस के विपरीत छोगामांगा (इण्डियन फौरेस्ट रिकोर्ड, 9, भाग 1, 40) के परीक्षण बताते हैं कि बकायन की लकड़ी अपवाद रूप से अच्छी सूखती है जिस में किसी विशेष प्रकार का नुक्स नहीं पैदा होता। एल० बी० होलेण्ड कहते है कि पंजाब की सब लकड़ियो की अपेक्षा यह दीमकों के आक्रमण का अच्छा मुकाबला कर लेती है। प्रति घन फुट (0.028 घन मीटर) का भार केवल 13.500 किलोग्राम होता है। बिना सुखाई लकड़ी का भार 17.289 किलोग्राम होता है। आरे से सुगमता से चिर जाती है। खराद पर सुगमता से खरादी जा सकती है। सियालकोट की बड़ी फर्में खेलने के समान, टेनिस रैकेट के हत्थों के स्लिप्स आदि इस से बनाती हैं। देहरादून की इकोनोमिक वर्कशोप मे लट्ठो की चादरें उतार कर मजबूत प्लाई बोर्ड बनाये गये हैं जिन पर अच्छी पोलिश आती है। ये बोर्ड बहुत पसन्द किये गये हैं।

अब तक यह कम मांग वाला वृक्ष रहा है। लकड़ी कभी भी बड़े पैमाने पर बाजार में नही रखी गई। परन्तु क्योंकि इस का भविष्य बहुत अच्छा है इस लिए इस की उपज की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए (कमर्शियल टिम्बर्स ऑफ इण्डिया, पीयर्सन एण्ड ब्राउन, 1932)।

उपयोग : कुछ देशों में यह कॉफी के बगीचों मे छाया वृक्ष के रूप में बोया जाने लगा है (बकिल)। बुलबुल के अतिरिक्त कोई भी पक्षी या जानवर फलों को नही खाता। गुठली का उपयोग मनकों के रूप में बहुधा किया जाता है। बींध कर बनाई मालाओं को कण्ठहार के रूप में पहनते हैं और घरों के दरवाजों पर टांगते हैं।

एल्कोहल के व्यापारिक स्रोत के लिए फलों का प्रयोग करने का सुझाव दिया जाता है। वास्तव में उत्तरीय संयुक्त राज्य (युनाइटेड स्टेट्स) मे गृहयुद्ध के समय ये स्रावण (डिस्टिलेशन) के लिए प्रयुक्त किये गये थे। अनुमान लगाया गया है कि सूखे भार का दस प्रतिशत एल्कोहल प्राप्त किया जा सकता है (क्यू बुलेटीन, 1925, पृष्ठ 195)। अस्वस्थ पेडो से गोंद निकलती है। भूरी-सी इस गोंद का उपयोग बहुत कम है।

गुण : शीतल, रूक्ष, ग्राही, कड़वा और नरहरि के अनुसार चरपरा भी है।

कफ तथा कफपित्त के दोषों को नष्ट करता है। निम्नलिखित रोगों में लाभदायक है—छपाकी तथा त्वचा के ऐसे रोग जिन मे त्वचा पर चकत्ते पड़ जाते हैं और कोढ आदि त्वचा के रोग, खून बहना आदि रक्त के रोग, मतली, सिर चकराना, उलटी आना, पेट में कीड़े, हैज़ा, वायु गोला, बवासीर, पेशाब के रोग, सांस के रोग, मलेरिया बुखार, हाथ पैरों तथा अंगों की जलन। कृमियों को मारने, चूहे के विष को नष्ट करने और जख्मों को ठीक करने के गुण भी इस मे हैं।

यूनानी चिकित्सा में : अरब और पर्शियन बकायन को चिरकाल से प्रयोग कर रहे थे। वे इस के गुणों का ज्ञान अपने साथ भारत में लाये थे। वे जड़ की छाल, फल, फूल और पत्तों को गरम और खुश्क समझते हैं (बसु और कीर्तिकर, 1936)।

यूनानी चिकित्सा में पत्ते और बीज कड़वे तथा कफ निस्सारक समझे जाते हैं, प्लीहावृद्धि और हृदय के रोगों में इस्तेमाल होते हैं, वामक और रक्तवाहिनी संकोचक हैं, नक्सीर को रोकते हैं, दांतों को दृढ़ करते हैं, शोथ को हटाते हैं, खुजली और त्वचा के सूखे चकत्तों तथा दानों को ठीक करते हैं। फूल और पत्ते मूत्रल और आर्तवप्रवर्त्तक हैं, वातिक सिर दर्द को दूर करते हैं। तथा ठण्डी सोजों को उतारते हैं। अरब और पर्शियन पत्तों के रस को पेट के कृमियों को मारने के लिए और आर्तवप्रवर्त्तन के लिए अन्त: प्रयोग में देते हैं।

चिकित्सा में प्रयोग : नीम की तरह यह चिकित्सोपयोगी है परन्तु उस की अपेक्षा बहुत कम पैमाने पर और भिन्न तरीके से काम आता है (बर्किल, 1935)। प्रतीत होता है कि इस पौदे मे औषधीय गुण महत्त्वपूर्ण है परन्तु भारत मे इधर ध्यान नहीं दिया गया है और प्रसिद्ध नीम वृक्ष की तुलना में इस के गुण उपेक्षित रहे हैं (पौयज़नस प्लाण्ट्स ऑफ़ इण्डिया, 1949)।

छाल : तने और जड़ की छाल दोनों ही चिकित्सा में उपयोगी हैं। अन्दर की छाल, जिस मे एक पीला सा सफेद रेज़िन कहा जाता है, अत्यन्त कड़वी और मतली लाने वाली होती है संकोच करने का गुण इस में नहीं होता। बाहर की छाल बहुत संकोचक होती है (पौयज़नस प्लाण्ट्स ऑफ़ इण्डिया)। जेकब्स ने बताया है कि मार्च-अप्रैल में जब रस ऊपर जा रहा होता है तो उस समय ली गई छाल से बनाये योगों का अप्रिय प्रभाव होता है; मादकता, पुतली का फैलना आदि लक्षण प्रकट हो सकते हैं परन्तु ये लक्षण शरीर को हानि पहुंचाए बिना ही दूर हो जाते हैं।

रॉबर्ट बेण्ट्ले और हेनरी ट्रीमेन (1880) ने बताया है कि सुखाने से छाल के बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं इसी लिए अमेरिका के बाजारों में यह कम मिलती है। दक्षिणीय रियासतों के कुछ जिलों में बकायन बहुत उपयोगी समझा जाता है। जड़ की छाल युनाइटेड स्टेट्स फ़ार्माकोपिया की सेकेण्डरी लिस्ट मे अधिकृत है।

पेट के कीड़े : बर्किल (1935) के अनुसार जावा मे वृक्ष का उपयोग मुख्यतया उदरकृमिहर के रूप मे है। मलयेशिया में यह वृक्ष बहुत कम काम में लाया जाता है।

टांगकिंग और लाहरी यूनियन में हरे पत्ते कृमि नाशक समझे जाते हैं। पानी का फाण्ट भारत में पाचन संस्थान में से कीड़ों को निकालने के लिए इस्तेमाल होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और मैक्सिको में जड़ की छाल का काढ़ा गोल कृमियों को निकालने के लिए प्रयोग किया जाता है।

अमेरिका में बहुत से योगों में बकायन प्रयुक्त होता है। आंतों में रहने वाले धागे सदृश कृमियों, चपटे कृमियों तथा पेट के दूसरे कीड़ों को मारने के लिए ह्विस्की में सूखे फलों का प्रयोग किया जाता है। अमेरिका के दक्षिणीय राज्यों में उदरकृमिहर के लिए छाल को काढ़े के रूप में देना सामान्यतया अधिक पसन्द किया जाता है। 225 ग्राम ताजी छाल को एक लिटर पानी में उबालते हैं। बच्चे के लिए मात्रा एक मेज के चम्मच भर है। प्रति दो या तीन घंटे बाद तब तक दिया जाता है जब तक कि यह आमाशय या आंतों पर प्रभाव नहीं कर देता। दूसरा तरीका यह है कि लगातार कई दिन तक सुबह शाम एक मात्रा दे दी जाती है और तब एक क्रियाशील विरेचक दे देते हैं। ताजी छाल और फल कीड़ों को निकालने के लिए अधिक बढ़िया समझे जाते हैं (यूनाइटेड स्टेट्स डिस्पेन्सरी, 24वां संस्करण, 1947)।

प्रभावकारी उदरकृमिहर समझा जाने के कारण अमेरिका के दक्षिणीय राज्यों में यह बच्चों के उन ज्वरों में भी लाभदायक कहा जाता है जिन ज्वरों के बारे में यह खयाल किया जाता है कि ये उदरकृमियों के कारण हैं परन्तु उदरकृमियों की उपस्थिति का निश्चय नहीं होता। इसे देने का सब से अच्छा रूप काढ़ा है (रॉबर्ट बेण्ट्ले और हेनरी ट्रीमेन 1880)।

विषैलापन : संसार के कुछ भागों में फलों को खाने से मनुष्यों और प्राणियों पर विष प्रभाव की रिपोर्ट मिली है। वाट (1891) ने बर्टन ब्राउन (पंजाब पॉयजन्स) द्वारा उल्लिखित एक यूरोपियन लड़की का उदाहरण लिखा है जो कुछ फल खाने पर बेहोश हो गई थी और बाद में मर गई थी। ये लिखते हैं कि छह से आठ फल मतली, ऐंठन और हैजे के लक्षण पैदा कर देते हैं और तब मृत्यु हो जाती है। रांची के भारतीय मेण्टल हॉस्पिटल से इस के द्वारा विषाक्त हुए रोगियों की रिपोर्ट मिली है जहां इन फलों को खाने से कुछ रोगियों में तीव्र उदरशूल, वेदना, अतिसार और वमन होने लगे थे। ज्ञात होता है कि जावा में जान लेने के इरादे से इस का विषप्रयोग (क्रिमिनल पॉयज़निंग) हुआ है। बकायन के विष लक्षणों को दूर करने के लिए किसी विषघ्न का ज्ञान नहीं है। इस लिए इस की केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही की जा सकती है।

पशुओं पर विष प्रभाव : जानवरों पर इस पौदे का विषैला असर बहुत भिन्न-भिन्न है। वाट (1891) के अनुसार बकरियां और भेड़ें केवल अप्रभावित ही नहीं रहतीं परन्तु फलों को लालच से खाती हैं। बकिल (1935) को भी प्रतीत होता है कि भेड़ें हानिकर प्रभाव के बिना खा लेती हैं। इसी तरह वाट और ब्रेयर-ब्रॉण्ड्विक ने विषैलेपन के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि ओण्डेर्स्टेपूर्ट स्थित पशु अन्वेषण प्रयोगशाला द्वारा

जानवरों को फल खिलाये जाने के परीक्षण नकारात्मक परिणाम बताते है। दूसरे अन्वेषकों से परीक्षणों से यह बात पुष्ट नही होती। स्टीन ने पाया है कि बीज भेड़ों में आमाशय-आन्त्र की शोथ और सूअरों, खरगोशो तथा गिनिपिगो में पक्षाघात पैदा कर देते हैं। स्टीन ने बाद में दिखाया है कि फलों से सूअर बहुत जल्दी विषाक्त हो जाते है और भेड़ों की अपेक्षा बकरियां कुछ कम विषाक्त होती हैं। मस्कोबी बत्तखें बड़ी मात्रायें खिलाने पर भी नहीं मारी जा सकती परन्तु मुर्गियां सुगमता से विषाक्त हो जाती है। कुत्ते फलों को खाने के बाद वमन कर देते है और नियमित विषलक्षण नही पैदा होने देते।

: नौ :

खैर

कत्थे का इतिहास : वर्तमान समय में खैर की सबसे महत्त्वपूर्ण उपज कत्था है। इसे बनाने का काम बहुत प्राचीन समय से चल रहा है। भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन लेखकों ने भी इसका उल्लेख किया है। 1514 में प्रकाशित ईस्ट इण्डीज के वर्णन में बार्बोसा ने काचो (cacho) का जिक्र किया है जो सम्भवतः यही औषध है। वह लिखता है कि यह उस समय कैम्बे (Cambay) से मलक्का को निर्यात की जाती थी। काचो प्रकट रूप में कनारी शब्द है। इसके लिए अब काचु (kachu) शब्द प्रयुक्त होता है। सम्भव है कि कैटेचु शब्द, जो आधुनिक लैटिन से बना है, दक्षिण भारतीय नाम है और दक्षिण भारत से यह पदार्थ पहले-पहल निर्यात किया गया होगा। कुछ विद्वान् कहते है कि कोचीन-चीन के कायको (cayco) शब्द से यह निकला है। पौदे के तमिल भाषा में ये नाम हैं—काति, कुति या काते (cate)। ऐसा प्रतीत होता है कि कैटेचु (catechu) का पहला आधा तमिल नाम काते (cate) से बना है और पिछला आधा चु (chu) अर्थात् चुआना शब्द से लिया गया है।

1514 मे बार्बोसा के लिखने के बाद इस पदार्थ का फिर जिक्र हम 1574 मे पाते है जबकि गार्सिया द ऑर्टा (Garcia da orta) ने खैर वृक्ष का पूर्ण विवरण दिया है और कत्था बनाने की विधि इसके तमिल नाम काते (cate) के नीचे वर्णन की है।

सत्रहवीं शताब्दी तक कत्थे ने यूरोप वासियों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया। यूरोप के लोग तब इसे केवल एक प्रकार की प्राकृतिक मिट्टी समझते थे। क्योंकि जापान के रास्ते यह यूरोप पहुंचा इसलिए इसका नाम टेर्रा जैपोनिका (Terra Japonica) पड़ गया। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि भारत से जापान जाकर वहां से फिर यह यूरोप को निर्यात किया गया था। क्लेयर (cleyer) ने 1785 मे कत्था बनाने के गार्सिया द ऑर्टा के विवरण को पुनः प्रकाशित किया और इसे भारतीय उपज बताया। उन दिनो सर्वोत्तम किस्म पेगू (बर्मा) से तथा दूसरी किस्मे सूरत, मलाबार, बंगाल और श्रीलंका से निर्यात होती थी।

चीन भारत के साथ सामुद्रिक व्यापार के प्रारम्भिक सालों से ही कत्थे का आयात करता था। भारत से कत्था पहले मलक्का जाता था और फिर वहां से चीनी

जहाजों पर लाद दिया जाता था। पुर्तगालियों ने जब भारत सागर में अरबों के व्यापार को धक्का पहुंचाया, जैसा कि बार्बोसा ने 1514 में लिखा है, तब कैम्बे इसे मलक्का भेज रहा था। गार्सिया द ऑर्टा, जो गोआ में चिकित्सक के रूप में 1534 से लगभग 1570 तक रहा, इसे अच्छी तरह जानता था, परन्तु यूरोपवासी गार्सिया के कथन को स्वीकार नहीं करते थे इसलिए वे कत्थे की प्रकृति के ज्ञान से अनभिज्ञ रहे। गार्सिया ने लिखा है कि चिकित्सा के रूप में इसकी मांग बहुत अधिक नहीं है और इसका एक बहुत बड़ा परिमाण चीन तथा मलक्का में पान के साथ चबाने में काम आता है। उसने स्वयं औषधि के रूप में गोआ में इसका प्रयोग किया था।

1721 के लन्दन फ़ार्माकोपिया में कत्था अधिकृत औषध (official drug) के रूप में ग्रहण किया गया। 1741 में यूरोपियन फ़ार्माकोपिया में इसका वर्णन किया गया है। 1864 के ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया में यह अधिकृत था।

हिमालय के निकटवर्ती ज़िलों में टांग जाति के लोग कत्था निकालते थे जिन्हें वृक्ष के नाम के आधार पर खैरी कहा जाता था। हरिद्वार और नजीबाबाद के जंगलों में जो कत्था बनाते हैं उन्हें खैरवा कहते हैं। बम्बई में कत्था बनाने वालों को कत्थाकारी कहते हैं। विश्वास किया जाता है कि ये लोग पहले उत्तर भारत से आकर थाना ज़िले में प्रविष्ट हुए और सूरत में बस गए। ये लोग इन ज़िलों में तथा रत्नाकर ज़िले में जंगली जाति समझे जाते हैं जैसे कि वहां के आदिवासी हों। गुजरात की तरह उड़ीसा में भी कत्था बनाने वालों की अलग एक क़ौम है।

व्यापारिक महत्त्व : खैर से कत्थे का निर्माण बड़े विस्तृत क्षेत्र में किया जा रहा है। भारत का यह एक बड़ा कुटीर उद्योग है। कुटीर उद्योग के रूप में कत्थे का निर्माण हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन समय से हो रहा है। इस उद्योग के सही आकड़े तो उपलब्ध नहीं होते, परन्तु विशेषज्ञों का अनुमान है कि लगभग 1500 टन कत्था कुटीर उद्योगों में प्रतिवर्ष बनाया जाता है।

आधुनिक साधनों से सम्पन्न कारखानों में कत्थे और कच का सबसे अधिक निर्माण इज्जतनगर (बरेली) के कारखानों में होता है। यहां प्रतिवर्ष 350-400 टन कत्था और 750-800 टन तक कच बनता है। ग्वालियर में प्रतिवर्ष कोई 400 टन कत्था बनता है। उड़ीसा, बरार और गुजरात भी इसकी पैदावार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं।

अनुमान है कि आधुनिक कारखानों में भी कुटीर उद्योगों के बराबर ही कत्था बनाया जाता होगा। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उपजें भी इस उद्योग से प्राप्त होती हैं। अच्छे प्रकार के कत्थे का दाम साधारणतया दस रुपये प्रति सेर होता है। इस आधार पर भारत को इस उद्योग से लगभग तीन करोड़ रुपये की वार्षिक आमदनी है।

निर्माण की प्रचलित विधि : कुटीर उद्योगों में देसी पद्धति से कत्था बनाने की विधि बड़ी सरल है। इस उद्योग में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है। हमारे हिन्दी-कोशों में इन शब्दों का समावेश प्रायः नहीं किया गया है। हरिद्वार के जंगलों में

बड़े पैमाने पर कत्था बनाते हुए मैंने कई वर्षों तक देखा है। निर्माण की देशी पद्धति को तथा पारिभाषिक शब्दों का मैंने अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। मैं चाहता हूं कि ये शब्द हमारे कोशों में स्थान प्राप्त कर लें। इसलिए यथासम्भव देशीय लोगों की शब्दावली में ही मैं निर्माण विधि का उल्लेख करूंगा।

बहते हुए पानी के पास जंगल का एक टुकड़ा साफ़ करके डेरा बनाया जाता है। कत्था बनाने का देशी कारखाना यही है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द है—झाला। झाले में समान अन्तर पर लम्बाई के रुख कई भट्टियां बनी होती हैं खैर का जंगल झाले से सामान्यतया चार पांच किलोमीटर से अधिक दूर नहीं होता। पेड़ काट कर झाले तक पहुंचाने का कार्य बड़ी मेहनत का है। आमतौर पर नेपाली लोग इस काम पर रहते हैं। जो लोग इस कठोर श्रम के लिए अपने को उपयुक्त नहीं समझते वे झाले पर काम करते है। जगल मे खैर के पेड़ो को काट कर वहीं पर उन्हें छील कर दो-ढाई मीटर लम्बे टुकड़े कर लिये जाते हैं। इनको बिधाव कहते है। झाले में दो स्थानो के श्रमिक कार्य करते हैं—नेपाली और गोंडा आदि जिलो के निवासी पुरबिये। झाले की परिभाषाएं प्रायः एक समान ही है। परन्तु कोई-कोई शब्द नेपाली भी अपना लिया गया है। कुल्हाड़ी के लिए यहां नेपाली शब्द बनचरा और पुरबी शब्द टिंगारी दोनो ही प्रयोग में है। बिधाव को बांध कर पीठ पर रखते है और जिस चौड़ी रस्सी से माथे पर टिकाते हैं उसे मर्पेली कहते हैं। झाले के एक पार्श्व में झोपड़िया बनाई गई होती है जिनका सामने का पार्श्व खुला रहता है। इन झोपड़ियो को छबाड़ कहते है। छबाड़ में बिधावो के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते है। बिधाव की इन कतरनो का नाम चुन्नी है। दो लकड़ियो के सिरो को बांध कर बनाई घोड़ई पर बिधाव का ऊपर का सिरा टेक कर निचले सिरे को नीठा पर जमा देते है। आमने-सामने दो मेनदार खड़े होकर दबादब टिंगारी चलाना शुरू करते है। खैर की लकड़ी क्योंकि कठोर होती है इसलिए बिधाव से चुन्नी काटने का काम श्रम-साध्य है। चुन्नी काटना, जगल से पेड़ काटना, ढो कर लाना, यह सब काम मेनदार का है। ये प्रायः नेपाली होते है।

नाभी कत्था : चुन्नी काटते हुए कभी-कभी बिधाव के अन्दर ऐसी दरारें गुहाएं या खाली जगह भी मिल जाती है जिनमे प्राकृतिक रूप से स्वयं बना हुआ कत्था पड़ा रहता है। इसे नाभी कत्था कहते है। यह सर्वथा शुद्ध पदार्थ है। यह अनियमित खण्डों या डलो मे मिलता है। लकड़हारे या मेनदार लकड़ी काटते हुए जब कभी इस कत्थे को देखते हैं तो बहुत सावधानी से इकट्ठा कर लेते है। बरिया, गुजरात के पास, यह पदार्थ इकट्ठा किया जाता है। वैद्य और हकीम लोग नाभी कत्थे को चिकित्सा दृष्टि से बहुत महत्त्व देते है। खांसी की यह बहुमूल्य चिकित्सा समझी जाती है। दुर्लभता के कारण इसका मूल्य ऊंचा होता है। नाभी कत्थे को अंग्रेज़ी मे कीर्सल, खीर्सल या खेर्साल कहते हैं। यह कैटेचुइक अम्ल (catechuic acid) है। प्रतीत होता है कि वैद्यो में यह पदार्थ

खदिर सार या खैर सार के नाम से ज्ञात है।

पकाना : जमीन में लम्बी खाइयां खोद कर इनके ऊपर भट्टियां बनाई जाती है। प्रत्येक भट्टी के ऊपर हांडियों की तीन पंक्तियां बैठाई जाती है। दो पार्श्व में और एक ऊपर। भट्टियों पर कत्था पकाने वाले को चकरिया कहते है। भूमि की तपिश से बचने के लिए इसके पैरों में ऊंची खड़ाऊं रहती है। चार-पांच सेण्टीमीटर ऊंची इस खड़ाऊं को पौला कहते हैं। कत्था पकाने के लिए धारा से पानी लाने का कार्य प्रायः स्त्रियों के जिम्मे होता है इन्हे पनभरा या पनभरुआ कहते हैं।

पार्श्व वाली हांडियों में चुन्नी और पानी भर कर पकाया जाता है। हांडियां प्रायः मिट्टी की होती है। परन्तु, कहीं-कहीं पीतल की हांडियां प्रयोग में आने लगी हैं। चकरिया इनमे यह दोष बताता है कि जरा-सी असावधानी से कत्था जल जाता है। पकते-पकते पानी का रंग जब गाढा लाल हो जाता है। तो उस पानी को ऊपर की हांडियो में पलट देते हैं। रस को छानने के लिए सरकंडे की एक सिरकी हांडी के मुंह पर अटका दी जाती है जो चुन्नी को बाहर नहीं आने देती। इस सिरकी को ये लोग जावा कहते हैं और रस छानने की प्रक्रिया को पसाना कहते हैं। पकी हुई निस्सार चुन्नी को धूप में फैला कर सुखा लेते हैं। यह भट्टी में झोकने के काम आती है। भट्टी की आग इतनी अधिक प्रबल होती है कि उसे गीले सूखे सब लक्कड़ों को भस्मसात् करने में कठिनाई नहीं होती। इसी से झाले के लोग उसे भस्मासुर कहा करते है। तेज आग मे कत्थे का काढ़ा उफन कर बह न जाय इसकी पूरी सावधानी रखी जाती है। बांस की खोखली पोरी के एक टुकड़े में एरंड के छिले हुए बीज डाल कर छड़ी से कुचल देते है। उबाल को रोकने के लिए इस छड़ी को हांडी के काढे मे जरा सा छुआ देना काफी होता है। इस उपकरणको ढोंगरा कहते हे। बीच की पंक्ति में हांडियो के अन्दर पक रहे कत्थे के गाढेपन को देखने के लिए नारियल की बनी हुई एक कड़छी-सी होती है जिसे लौकी कहते हैं। नारियल के कटे हुए खोल में बास का हत्था लगा कर यह बन जाती है। खूब गाढ़ा होने पर काढ़े को निकाल कर छान लेते हैं और खलिहान मे भेज देते है। यह झोपड़ियो का एक बड़ा घेरा होता है जिसमें काढा देर तक पड़ा रह कर धीरे-धीरे अधिक घना हो जायगा। खलिहान मे पहुंचने के बाद गरम काढ़े को सबसे पहले हौदी मे डालते है। सामान्यतया ये पशुओ को सानी करने वाले मिट्टी के नांद होते हैं। परन्तु ऐसे जंगलो मे जहां नांद नही पहुंचाई जा सकती कटरों से काम लेते हैं। सिम्बल के ताजे काटे हुए तने को खोद कर जो नांद या कुण्ड बनाते है उसे कटरा कहते है। हौदी या कटरे में कुछ दिन पड़ा रहने के बाद इसे सूखाघर (सोकिंग पिट) मे पलट देते है। मिट्टी में 1.50 मीटर गहरा और लगभग 1.20 मीटर लम्बा-चौड़ा एक चौकोर गड्ढा खोदा जाता है। इसकी दीवारों पर तथा फर्श पर टाट की तहें बिछा देते है। गीले कत्थे की नमी को टाट चूस लेता है और गाध की मिट्टी में छोड़ देता है। इस तरह क्रमशः सूखघर मे कत्थे की नमी कम होती जाती है। यहां यह अधिक गाढ़ा हो जाता है। कुछ सप्ताह यहां रहने के बाद

अब इसे पाठ मे स्थानान्तरित करते है। जमीन के पृष्ट पर लगभग तीस सेण्टीमीटर ऊंची बालू बिछा कर 4.50×4.58 मीटर का एक चबूतरा बनाते हैं। इस उथले हौज के अन्दर भी सूखघर के समान टाट और कपडा बिछाते है। पाठ में कत्थे की नमी का अधिक अंश निकल जाता है। जब इतना सूख जाय कि काटा जा सके तो पाठ के पच्चीस सेण्टीमीटर लम्बे तथा इतने ही चौड़े और दस-पन्द्रह सेण्टीमीटर मोटे टुकड़े काट लेते हैं। इन्हे टुकडी कहते हैं। कटाई लोहे के हंसिये से की जाती है। इस काम को करने वाले को किसान या चाई कहते हैं। झाले में श्रमिकों में सबसे अधिक जिम्मेवार यही व्यक्ति है। जंगल से पेड़ कटवाना, सारी निगरानी, कत्थे को स्वयं हाथ से काटना, सुखाना, भरना —सब काम किसान के हैं। भट्टी का काम समाप्त होने पर चकरिया, पनभरुआ आदि झाला छोड़ कर चले जाते हैं। परन्तु चाई अन्त तक काम पर रहते हैं।

सूखघर और पाठ की दीवारों के द्वारा रेत में जो रस चूसा गया है उसे जूसी कहते है। व्यापार में इसका नाम कच है। यह उपसृष्ट (बाइ प्रोडक्ट) भी कमती दामों में बिक सकती है। परंतु देशी पद्धति में अधिकांश निर्माता इसे प्राप्त नहीं कर रहे। यह यूं ही बालू मे व्यर्थ चली जाती है। हां टाटों में लग रहे कत्थे को धो कर पुनः काढ़ा बना कर जमा लेना ये लोग जान गए हैं।

बगार : पाठ से टुकड़ी बनाने की बाद की प्रक्रियाएं बगार में सम्पन्न होती हैं। खलिहान की झोंपडियां तो चारों ओर बनी होती है, उनके बीच में जो खाली मैदान पड़ा था उसी मे कोई 90 से 220 सेण्टीमीटर ऊंची और इतनी ही चौड़ी तथा 6 से 8 मीटर लम्बी झोंपडियो की कई पंक्तियां बनाई जाती हैं जिन्हे बगार कहते हैं। इनके नीचे पड़ी हुई टुकड़ियां (ब्लोक्स) जब कुछ सूख जाती हैं तो प्रत्येक टुकड़ी के तीन-चार खण्ड कर देते हैं, इन्हे फाल (स्लैब्स) कहते हैं। कुछ सूखने के बाद फाल के दो टुकड़े कर देने से गट्टी बन जाती है। यह 22 से 25 सेण्टीमीटर लम्बी, 10 से 13 सेण्टीमीटर चौड़ी और 2.50 से 3 सेण्टीमीटर मोटी होती है। सूखने पर गट्टी के तीन-चार टुकड़े करने से बट्टी बन जाती है। पांच छः दिन सुखाने के बाद बट्टियों को दमसे दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया से बट्टियों के पृष्ठ पर सुन्दर लाल रंग निखर जाता है। दमसे के लिए बट्टियों के ढेर के ऊपर गूलर, तुन या दतरंगे (गोंदनी) के पत्तों से ढक कर बोरियां फैला देते है। यह ढेर अब बाहर की वायु के सम्पर्क से पृथक् रहता है। तीन दिन इसी तरह पड़ा रहेगा। अन्दर गरमी पैदा हो जायगी। तीन दिन बाद खोल कर धूप-छांह मे सुखा लेते है। दमसे के बाद बट्टियां प्रायः चिपक जाती है। रात की ठंडी हवा लगने से ये खिल जाती हैं। दमसे के लिए सबसे अच्छा पत्ता गूलर का समझा जाता है। इससे रंग बहुत अच्छा खिलता है। पकाने के बाद की सभी प्रक्रियाएँ छाया में की जाती हैं। धूप मे सुखाने से कत्थे का रंग काला पड़ जाता है।

रसमय कलापूर्ण जीवन : झाले के निवासी गरीब है। परन्तु उनके चेहरों पर गरीबी की मुर्दनी छायी नही रहती। वे प्रायः हंसमुख दीखेंगे। युवतियां मनुष्यों का पूरक

वन कर कार्य करती है। संगीत और नृत्य से ये अपने खाली क्षणों में ताज़गी और नई उमंगें प्राप्त करते है। इनके मिट्टी के घर स्वच्छ और सुन्दर सजे हुए रहते है। नेपालियो की झोंपड़ियां अलग रहती है इन्हे बुकरी कहते है। जंगल से प्राप्त सामान से झाले के निवासी अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करने का यत्न करते है। लकड़ियाँ जमीन में गाड़ कर चारपाई बना लेते है, इसे मचान कहते है। मालिक की झोपड़ी में आप को शानदार बड़ा मचान मिलेगा जो जंगली घास-फूस और लकड़ी से बनाया गया है। प्रकाश के लिए यद्यपि झंझादीपों (हरीकेनों) और परमदीपों (प्राइमस लैम्पों) ने भी झालो में स्थान पा लिया है परन्तु अधिकतर मिट्टी के बनाये हुए कलापूर्ण दीपक ही उन्हे प्रकाश देते है। इन दीपों को वे ढेबरी कहते है। गोंडा के श्रमिक इन्हे अपने साथ ही गोंडा से लाते है। मिट्टी की हांडियाँ भी पहले गोंडा से ही आया करती थी परन्तु अब रुकडी के कुम्हार बनाने लगे है। झाले में स्थान-स्थान पर 90 से 120 सेण्टीमीटर ऊंचे लकड़ी के खम्भे गढे रहते है जिन के ऊपर बांके घुमावों वाली ढेबरियां जंगल के घने अन्धेरे से निरंतर जूझती रहती है। इस खम्भे का नाम डिउट (दीवट) है।

लकड़ी की मांग अधिक : तने का व्यास जब लगभग तीस सेण्टीमीटर हो जाता है और पेड़ की आयु पच्चीस-तीस बरस हो जाती है तो यह कत्था निकालने के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इज्जतनगर (बरेली) के कत्था बनाने के कारखाने मे एक मीटर से ऊपर घेरे की दस हज़ार टन लकड़ी प्रतिवर्ष खप जाती है। इस कारखाने को उत्तर प्रदेश से लकड़ी मिल जाती है। कत्था बनाने के लिए लकड़ी की मांग निरंतर बढ रही है।

कत्थे के अन्य स्रोत : निम्नलिखित पेड़ो की लकड़ियो की कतरनों को पानी में पका कर प्राप्त काढे को गाढा कर लिया जाय तो कत्था बन जाता है :

1. सफेद खैर (*Acacia suma* Buch-Ham.) 2 सुपारी (*Areca catechu* Linn.) से बम्बई में कत्था बनाया जाता है। 3 पीत खदिर (*Uncaria gamble* Roxb.) । 4 लाल खैर (*Acacia sundra* D. C.) । 5 खदिर भेद कटे चुओयड्स (*Acacia catechu* var *catechuoides*) ।

गैम्बीर : ब्रिटिश फार्माकोपिया मे कत्थे (catechu) को गैम्बीर (पीत खदिर) कहा गया है। मलय में स्वत: उगने वाली एक आरोही झाड़ी के पत्तों तथा बालशाखिकाओं का यह सुखाया हुआ जलीय निष्कर्ष (extract) है। यह मुख्यतया ग्राही द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होता है। ब्रिटिश फार्मास्युटिकल कोडेक्स में इसके प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में कच या काले कत्थे को ग्रहण किया गया है। इन दोनों मे भेद यह है कि पर्णशाद (chlorophyll) या पीतखदिर प्रांशिन (gambier fluorescein) के लिए कच कोई प्रतिक्रिया नही देता जब कि गैम्बीर देता है।

मिलावट : कत्थे में मिलावट बहुत की जाती है। उद्योगों में यद्यपि कम शुद्ध, स्टैण्डर्ड कत्थे से घटिया या मिलावटी कत्थे का बड़ा भाग खप जाता है परन्तु खाने के लिए

तथा दवादारू में तो शुद्ध कत्थे का प्रयोग किया जाना चाहिए। मिलावट की पहिचान का तरीका यह है कि वजन किए हुए कत्थे के चूर्ण को दसू (ईथर) में घोलें। यह शुद्ध है तो उसके असली भाग का लगभग तरेपन प्रतिशत ईथर में घुल जायगा। न घुलने वाला भाग लगभग सैंतालीस प्रतिशत बचना चाहिए। इससे अधिक जितना भार होगा वह मिलावटों का समझना चाहिए। मिलावट में मुख्य पदार्थ निम्नलिखित पाये जाते हैं: रेता, चिकनी मिट्टी, गोन्द, निशास्ता और सूखा खून।

शुद्धता की दूसरी परीक्षा यह है कि जलाये जाने पर शुद्ध कत्थे को तीन से चार प्रतिशत अवशेष छोड़ना चाहिए। इस परिमाण से यदि अवशेष अधिक है तो ये मिलावट के पदार्थ हैं —तीसरी परीक्षा घुलनशीलता की है। उबलते हुए पानी में शुद्ध कत्था पूरी तरह घुल जाना चाहिए। यदि यह ठण्डे जल में घुल जाए तो समझना चाहिए कि या तो इसमें मलिनताएं हैं या यह गरमी से खराब हो चुका है।

विविध भाषाओं नाम :

हिन्दी	खैर।
बंगाली	खयेर।
गुजराती	खैर, खेरीयो।
मराठी	खैर, खदेरी।
सन्थाली	खैर।
असमी	खोइरा, कोइर।
उड़िया	खोइरु।
तमिल	योधालय
तेलगू	कवीरी सन्द्रा, नल्ला सन्द्रा।
सिंहाली	रतकहीरी।
ब्रह्मी	शा।
अंग्रेजी	कटेचू ट्री, कच ट्री।

औद्भिदी नाम : औद्भदी (botany) के आधुनिक विद्वान खैर को एकेशिया कैटेचु (*Acacia catechu* Willd.) कहते हैं।

खैर के संस्कृत में नाम : संस्कृत मे खैर का मुख्य नाम खदिर है। खदिर शब्द से ही बिगड़ कर हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के खैर आदि शब्द बने है। खैर के स्वरूप का परिचय देने वाले तथा उसके गुणो का प्रतिपादन करने वाले संस्कृत मे अनेक नाम हैं। उनके अर्थ हम यहां दे रहे हैं।

संस्कृत नामों का अर्थ परिचायक ज्ञापक नाम : बालपत्र, बालपत्रक (सूक्ष्म पत्तो वाला), सारद्रुम (ऐसा वृक्ष जिसकी लकडी में सारभाग अर्थात् अन्त:काष्ठ स्पष्ट दीखता है); बहुसार, महासार (सार का भाग बहुत होता है); रक्तसार (अन्तःकाष्ठ लाल

रंग की होती है); श्याम-सारक (कुछ वृक्षों में अन्तःकाष्ठ का रंग इतना अधिक गाढ़ा लाल होता है कि काला-सा प्रतीत होता है); काल स्कन्ध (काले अन्तःकाष्ठ से बनाये खम्भे बहुत काल तक काम देते हैं); कण्टी, कण्टकी, शल्यक (कांटों वाला वृक्ष); सुशल्य, बहुशल्य, बहुशल्यक (बहुत कांटों वाला); जिह्मशल्य, वक्रकंट (टेढ़े कांटों वाला); क्षतक्षम (कांटे जख्म कर देने में समर्थ हैं); पथिद्रुम (रास्तों पर लगाया जाने वाला वृक्ष); खदिर (आकश मे फैल जाने वाला, खम् आकाशम् दारयति); कदर (खदिर का अपभ्रंश), यज्ञिय, यज्ञांग (जिसकी काष्ठ यज्ञों में उपयोगी है); दन्तधावन (शाखा की दातुन बनती है); खाद्य पत्री (पत्तों को पशु खाते है)।

गुण प्रकाशक संज्ञा : गायत्री (श्रेष्ठ गुणों वाला); कुष्ठारि (कुष्ठरोग का शत्रु) कुष्ठघ्न (कुष्ठ रोग नाशक); कुष्ठ कंटक (कुष्ठरोग को निकाल देने वाला); मेध्य (मेधा के लिए हितकर)।

प्राचीन साहित्य में खैर . तैत्तिरीय सहिता में खैर की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है। वषट्कार ने गायत्री का सिर काट डाला, उस का रक्त गिर कर भूमि में प्रविष्ट हो गया, वही खदिर (खैर) बन गया।[1] वेदों मे खैर का अनेक स्थलो पर वर्णन आया है।[2] कार्तिकेय के लिए यह पवित्र वृक्ष माना जाता है।

आदिवासियों की प्रथाओं के साथ यह जुड़ा हुआ है। नवगांव दोहद के पास होली के अगले दिन हर साल एक उत्सव होता है जिसे चूल (chul) या हीर्थ (hearth) कहते हैं। 2.10 मीटर लम्बी 90 सेण्टीमीटर चौड़ी और 90 सेण्टीमीटर ही गहरी खाई मे खैर के लट्ठे बड़े सावधानी से चिने जाते हैं। भूमि की सतह से चट्टा 60 सेण्टीमीर ऊपर उठा लिया जाता है। इसमें आग लगा दी जाती है। भूमि की सतह तक जल जाने पर गांव का मेहतर आग के पास एक नारियल तोड़ता है, मुर्गियों की बलि चढाता है और शराब छिड़कता है।

विस्तार : बहुत अधिक नमी वाले प्रदेशों को छोड़ कर भारत, बर्मा और पाकिस्तान के बहुत से भागो में खैर के जंगल मिल जाते हैं। खैर का वृक्ष मुख्यतया दो प्रकार के प्रदेशों में पाया जाता है : 1. वे प्रदेश जो नदियो के पास हैं; और 2 वे प्रदेश ,जो नदियो से दूर ऊंचे सूखे स्थानो में हैं।

---

1 वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोच्छिनत्तस्यै रस. परापतत् स पृथिवी प्राविशत स खदिरोऽभवद् यस्य खदिरः स्रुवो भवति।

तैत्तिरीयसहिता, काण्ड 3, प्रपाठक 5, अध्याय 6, कण्डिका 1।

2 पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥

अथर्ववेद, काण्ड 3, अनुवाक् 2, सूक्त 6, मन्त्र 1।

रेतीली और कंकरीली भूमि मे यह निस्सन्देह अच्छा होता है। कपास की खेती के लिए जिस प्रकार काली मिट्टी वाली जमीन होती है उस में भी यह उग आता है। सूखी जमीन जिस मे कम गहराई पर पत्थर हों यह बहुधा पाया जाता है और चट्टानों वाली भूमि पर भी उगता है। कठोर चिकनी भूमि में, जिस में पानी का विकास खराब है, इस की वृद्धि रुक जाती है और यह जल्दी ही मरने लगता है।

खैर वास्तव में अपेक्षाकृत शुष्क प्रदेशों का वृक्ष है, यद्यपि उपहिमालय प्रदेश (sub-Himalayan tracts) जैसे उच्च वर्षा वाले प्रदेशों मे भी, जहां तीन सौ पिचहत्तर सेण्टीमीटर वर्षा होती है, यह पहुंच गया है, हिमालय और सिक्किम में यह 1,524 मीटर की ऊंचाई तक चला गया है। जलीय मार्गों से दूर यह आम तौर पर उन स्थानों में मिलता है जहां औसत वर्षा 50 से 138 सेण्टीमीटर तक भिन्न-भिन्न होती है। प्राकृतिक निवास मे इसका उच्चतम छाया तापमान 40.5 अंश से 49 अंश शतांश और निम्नतम 1.1 अश से 13 अंश शताश होता है।

सिन्ध से असाम तक उपहिमालय प्रदेश सर्वत्र हिमालय की घाटियों मे 914 मीटर की ऊंचाई तक खैर का वृक्ष साधारण रूप से मिलता है। यमुना से पूर्व की ओर नदियो के पठारों में या विभिन्न प्रकार के शुष्क-मिश्र वनो में यह समूहों में पाया जाता है अथवा बिखरा हुआ मिल जाता है। उत्तर भारत की नदियों के पास के खैर-वन विशेष प्रकार के हैं। बाह्य हिमालय और शिवालक श्रृंखला की घाटियों में नदियों तथा जल-प्रवाहों के किनारे या नदियों से बनाई गई रेतीली और कंकरीली नमीदार भूमि मे खैर उगता है। मैदान में भी कुछ दूर तक, जहां नदियों से बनाई गई भूमि रेतीली और पथरीली हो और भूमि कोमल कीचड़ की सान्द्रता तक न पहुंची हो, यह पाया जाता है। इन जंगलो मे खैर अकेला या शीशम के साथ और कभी-कभी सिम्बल, सफ़ेद सिरस, एकेशिया एवूनिया और कुछ अन्य वृक्षो के साथ भी मिला होता है। कुछ विशेष घासों के साथ भी इस का सम्बन्ध है जिन में मूंज, कास, एरिस्टीडा सायनेन्था, ड्रिफिस मेडागास्केरिएन्सिस और एण्ड्रोपोगन मेण्टिकोला मुख्य हैं। इन नदी समीप के खैर वनों मे नीचे प्राय. बांसे की झाड़ियां खूब घनी उगी होती हैं।

अधिक ऊंची सतह पर खैर पहाड़ी वृक्षो के साथ मिल जाता है। उदाहरण के लिए नैनीताल पहाड में रति घाट के ऊपर यह 1,219 मीटर की ऊंचाई पर एक नदी के मार्ग में बान और चीड के साथ मिला हुआ पहाड के ढाल पर नीचे नदी के किनारे तक उगा हुआ है। उसी स्थान पर नदियो के पथरीले पुराने मार्गों पर यह खड़क (सेल्टिस ऑस्ट्रेलिस) के साथ मिला हुआ पाया जाता है। नदियों के दूर अधिक शुष्क और निर्बल भूमि मे इसकी वृद्धि नहीं होती, परन्तु यह पाया गया है कि ऐसी अवस्थाओ में भी यह उग आता है जो प्राय: किसी भी दूसरे वृक्षों के लिए अनुकूल नही होती। यमुना के पश्चिम मे नदी के पथों में यह कही-कही उगता है जैसे कांगडा घाटी मे। कुछ स्थानो पर चीड़ के जंगलों मे भी यह चला गया है। उपहिमालय प्रदेश में यह उन स्थानों पर

उगता है जहां वर्षा 62 से 300 सेण्टीमीटर तक पड़ती है। सिन्ध से पूर्व की ओर निम्न-हिमालय पथ की घाटियों में 914 मीटर तक, अरावली पहाड़ो और पश्चिमीय प्रायद्वीप में खैर अपने आप उगता है।

मध्यप्रदेश में विलासपुर, चांदा और रायपुर के जंगलो मे खैर बहुत पाया जाता है। आश्चर्य है कि रायपुर के आदिवासी इसकी उपियोगिता से अपरिचित हैं। जहां तक ज्ञात है यहां कत्था निकालने का प्रयत्न कभी नही किया गया। सागर, दमोह, जबलपुर, बुन्देलखंड और इनके पास के क्षेत्रों मे विशेपरूप से खैर के जंगल हैं। हिमालय के निकट की नदियों के वनो में उगने वाले खैर वृक्षों के समान इस सूखे क्षेत्र के खैर वृक्ष अधिक बड़े नहीं होते। वे प्रायः बौने और टेढ़े-मेढ़े होते हैं। उनके उगने का घेरा 75 सेण्टीमीटर से अधिक और ऊंचाई आठ मीटर से अधिक कभी ही पहुंचती है। उनके इस छोटे आकार की कमी, कुछ अंश तक, इस बात से पूरी होती है कि वे प्राय बड़ी संख्या में पास-पास उगे होते हैं। जड़ के ऊपर तने का घेरा 38 सेण्टीमीटर होने पर इन्हें कत्था निकालने के लिए काटने की आज्ञा दे दी जाती है।

गोंडा, अवध में खैर बहुतायत से उगता है। अपर गोदावरी के वनो में छोटा नागपुर के जंगलो से उत्तर-पश्चिम प्रान्तो की ओर यह फैल गया है। मध्य प्रदेश और दूसरे स्थानों में खुले घास के मैदानो में, सूखी किस्म के सागौन जंगलों में और सागौन शून्य जंगलो में भी यह साधारण वृक्ष है। इसके साथ असन, हरड़, लाजेस्ट्रोमिया पार्वि-फ्लोलिया, बेर, बिल, ढाक, कुटज, बांस, आंवला तथा अनेक दूसरे वृक्ष उगते हैं। छोटा नागपुर में भी यह न केवल शुष्क जंगलों मे अपितु साल के साथ मिला हुआ भी होता है। राजस्थान के शुष्क जंगलो में उगता है। मारवाड़ में बहुत होता है।

अहमदाबाद, भड़ोच, पञ्चमहल, सूरत और बडोदा में यह बहुतायत से पाया जाता है। बम्बई, गुजरात, दक्षिण महाराष्ट्र और दक्षिण में खुले शुष्क कण्टकित जंगलो में मिलता है। उत्तर कनारा और कोंकण में भी होता है। मद्रास में यह अमलतास, बेर, चन्दन तथा अन्य वृक्षों के साथ बहुत उगता है।

अपर बर्मा के शुष्क प्रदेशों में खैर बहुत साधारण वृक्षों मे से एक है। यहा विशुद्ध रूप में यह नदियो के पास रेतीली जमीन पर और कुछ अंश में नदियों से दूर शुष्क भूमि में उगता है। उस शुष्क प्रदेश में, जहां वर्षा 56 से 100 सेण्टीमीटर तक भिन्न-भिन्न परिमाण मे पड़ती है और भूमि प्रायः निर्बल तथा उथली होती है, खैर के वृक्ष छोटे आकार के ही रह जाते है। बर्मा मे यह 162 सेण्टीमीटर से अधिक वर्षापात वाले प्रदेश मे नही उगता इस प्रकार की बहुत अधिक आर्द्र जगहो को छोड़ कर बर्मा और स्याम के अधिक भागों में यह पाया जाता है।

सिंगापुर में खैर को बोने के प्रयत्न किए गए, पर सफलता नही मिली। दो बार पौधे ला कर लगाए गए थे। चिकनी मिट्टी का विचार करते हुए सिंगापुर में इसकी

असफलता आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती। 1884 से डच लोगों ने जावा के कुछ स्थानों में इसे रोपा है।

औद्भिदी वर्णन : मध्यम आकार का यह पर्णपाती एक वृक्ष है। छोटी शाखाएं पतली, कण्टकित, चिकनी चमकीली, गहरे भूरे या जामनी रंग की होती हैं। कांटे छोटे, ज़रा मुड़े हुए, दबे हुए और जोड़ों में लगते हैं। अंकुश के समान मुड़े हुए कांटों को देख कर संस्कृत के एक कवि ने यह सुभाषित कहा है: 'जो तेज़ कुटिल कांटों से आवृत नहीं है वह भला खैर का पेड़ थोड़े ही हो सकता है।'[1] कश्मीर के एक कवि भल्लट (883-902 ईस्वी पश्चात्) के भल्लट शतकम् में खदिर के कांटों की उपयोगिता के सम्बन्ध में एक श्लोक है जिसका अर्थ है: 'जो वस्तु छिपाई हुई नहीं है और रक्षित नहीं है वह सुन्दर कैसे हो सकती है! चन्दन पर भी सांप लिपटे रहते हैं न! हे खदिर! अपने सौष्ठव की रक्षा के लिए ही तूने अपने ऊपर कांटे समेट रखे हैं क्या? बता तो सही!'

खैर की छाल 1.25 सेण्टीमीटर मोटी, गहरे भूरे रंग की या भूरे से धूसर रंग की और खुरदरी होती है। काट कर छाल को उतारा जाय तो अन्दर से यह धूसर लाल वर्ण की होती है। पुरानी पड़ जाने पर छाल की बाहरी तहें लम्बी-पतली परतों में स्वयं उतरती रहती हैं और काण्ड के साथ प्रायः लटकी रहती हैं।

दोहरे पक्षवत् (pinnate) पत्ते दस से पन्द्रह सेंटीमीटर तक लम्बे होते हैं जिनमें पक्षकों (pinne) के दस से बारह जोड़े रहते हैं। एक पत्ते में चिकने, वृन्तरहित पर्णकों (leaflets) के तीस से पचास जोड़े होते हैं अर्थात् कुल मिलाकर साठ से सौ तक छोटी-छोटी पत्तियां (पर्णक) होती हैं। पत्तों के अक्ष ग्रन्थिमय होते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में खैर का वृक्ष कुछ समय के लिए पत्रविहीन हो जाता है। उत्तर भारत में लगभग फरवरी में पत्ते गिर पड़ते हैं। नये पत्ते एप्रिल के अन्त में या मई में निकलते हैं। जून तक खैर के जंगल नये कोमल हरे पंख सदृश पत्ते धारण कर लेते हैं और तब ये सुन्दर दीखते हैं। नई शाखाओं और नये पत्तों के अक्ष में दो से चार इंच लम्बे सफेदी लिए पीले रंग के सवृन्त फलों के गुच्छे निकलते हैं। पुष्पकोश (केलिक्स) और पुष्पदल (पेटल्स) दोनों सफेद से रंग के होते हैं। पुष्पकोश की अपेक्षा पुष्पदल तीन गुने लम्बे होते हैं। खैर का वृक्ष जुलाई या अगस्त तक और कभी-कभी अधिक देर तक पुष्पित रहता है। नये पत्तों के अक्षों में निकलती हुई फूलों की मंजरियां वृक्षों की शोभा बढ़ा देती हैं। श्री राम को पंचवटी क्षेत्र में खिले हुए खैर के सौम्य वृक्ष बड़े अच्छे लग रहे थे।

फलियां जल्दी ही बन जाती हैं और सितम्बर या अक्तूबर तक पूरे आकार की हो जाती हैं। शुरू में ये हरी या लाली लिये हरे रंग की होती हैं और फिर मटियाले

---

1 परं तदिह नास्ति यन्न खदिरैः खरैरावृत, न तेऽपि खदिरा न ये कुटिलकंटकैरावृता।
न ते कुटिलकंटका किमपि ये न मर्मच्छिदः रामुज्झत वृथास्थित बत सहृध्यमध्वश्रयम्॥

रंग में बदलने लगती हैं। नवम्बर की समाप्ति तक ये पकना आरम्भ होती हैं और दिसम्बर तथा जनवरी के पहले हिस्से तक पकती रहती हैं। पकी हुई फलियां पांच से दस सेन्टीमीटर लम्बी, सीधी, पतली या चपटी, गहरे भूरे रंग की चिकनी, चमकीली और पकने पर स्वतः फट जाने वाली होती हैं। एक फली के अन्दर तीन से दस बीज रहते हैं। बीज चौड़ाई लिये अण्डाकृति या वर्तुल, हरे रंग की आभा लिये हुए धूसर रंग के, चिकने, चमकदार और कुछ कठोर होते हैं। इनके ऊपर कठोर बाह्यावरण होता है जो पानी में भिगोने पर मृदु तथा लचकीला हो जाता है। लगभग सौ बीजों का भार एक औंस होता है।

पकने के बाद फलियां शीघ्र ही फट जाती हैं। वे जनवरी में गिरना शुरू करती हैं और कुछ महीनों तक गिरती रहती हैं। बीज फलियों के साथ रहते हैं और भार के हल्के होकर वृक्ष से काफी दूर उड़ा दिए जाते हैं। इस प्रकार बीजों का प्रकृति से फैलाव होता है। नदियों के आसपास बीजों का वितरण इसके बाद भी पानी द्वारा किया जाता है। कई फलियां वृक्ष पर आगामी अक्तूबर तक रहती हैं; यद्यपि इस समय तक बीज कीड़ों द्वारा खाये जा कर निकम्मे हो जाते हैं।

बीजों का संग्रह : खैर का वृक्ष सामान्यतया हर साल काफी बीज देता है। बीज इकट्ठा करने के उद्देश्य से दिसम्बर या जनवरी के शुरू में वृक्ष पर से फलियां तोड़ ली जानी चाहिएं और कुछ दिन उन्हें धूप में फैला देना चाहिए। फलियों के किनारों के साथ बीज जोर से चिपके रहते हैं। उनको अलग करने के लिए आवश्यक है कि फलियों के ढेर को एक बड़े कपड़े में डाल कर छड़ियों से अच्छी तरह पीटा जाए। इसके बाद छाज से बीज अलग किये जा सकते हैं।

उच्च जनन शक्ति : बहुत सावधानी से रखने पर भी बीजों पर कीड़ों का आक्रमण बुरी तरह हो जाता है। देहरादून में एक साल तक रखे हुए बीजों की परीक्षा करने पर उन्हें निष्फल पाया गया। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसमें कीड़ों का कितना हाथ था। इसलिए अच्छा यही होता है कि इकट्ठा किए गए साल में ही बीज बो दिए जाएं। ताजे तथा कीड़ों से हानि न पहुंचाये गए बीजों में जनन शक्ति उच्च होती है।

तेजी से बढ़ने वाला : साधारण वर्षा से बीज जल्दी ही उग आते हैं और बोने के लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं होती। अनुकूल अवस्थाओं में प्रारम्भ से ही नवजात पौधों की वृद्धि शीघ्र होती है। नियमित रूप से निराई किये गए और सिंचाई किये गए पौदे उगने से तीन मास के भीतर नब्बे सेन्टीमीटर या अधिक ऊंचाई प्राप्त कर लेते हैं। शाखाएं प्रारम्भ से ही फूटने लगती हैं और ये बिना किसी क्रम के इधर-उधर फैल जाती हैं। पौदे की जड़ लम्बी होती है, तीन महीने में यह साठ सेंटीमी° चली जाती है।

नमी का प्रभाव : प्राकृतिक अवस्थाओं में पौदे की वृद्धि बहुत

जंगली घास-पात या बूटियों से घेर लिए जाते हैं तथा पशुओं से चर लिए जाते हैं। चारों ओर घास-पात का बहुत जोर हो तो पौदों के मरने का कारण यह होता है कि वर्षा में वहां आर्द्रता बहुत रहती है जिसे ये सहन नही कर सकते। ऊंची और खुली घास मे जहां आर्द्रता इतनी अधिक नहीं होती, ये अपना रास्ता सफलतापूर्वक ऊपर निकाल लेते हैं, यद्यपि इस कशमकश में इनकी वृद्धि तुलना मे मन्द होती है।

छाया और मौसम का प्रभाव : देहरादून की वन अनुसन्धानशाला में विभिन्न अंश की छाया वाले भूमि के टुकड़ों मे खैर के पौदों की वृद्धि पर प्रकाश के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। ये परीक्षण बताते हैं कि पौदे को प्रकाश की बहुत आवश्यकता होती है और जहां छाया बहुत घनी होती है वहां एक मौसम में पौदा मर जाता हैं। पहले कुछ सालों तक पौदे पाले को बर्दाश्त नही कर सकते। शुष्क ऋतु के लम्बे काल मे तेज हवाओं से भी इन्हे हानि पहुंचती है। शुष्क प्रदेशो में ये कभी-कभी मर जाते हैं और कुछ समय बाद जबकि जड़ स्वयं प्रबल हो जाती है तो नई शाखाएं फूट पड़ती हैं।

खैर के बड़े वृक्ष तेज हवाओं का अच्छा मुकाबला करते है। नयी शाखाएं अवश्य कुछ नाजुक होती है।

शत्रुओं से हानि : मुख्य जड़ को कुतर कर चूहे पौदों को बहुत हानि पहुंचाते हैं। पुनः स्वास्थ्य लाभ करने की शक्ति पौदों में अच्छी है। चूहों से नष्ट किये जाने के बाद ज़मीन में बची हुई मुख्य जड़ के थोड़े भागों से ही नई शाखाएं निकल आती हैं। छोटे पौदों को हिरन बहुत शौक से चरते हैं। छोटे और मध्यम आयु के खैर वृक्षो को सेहे पर्याप्त हानि पहुंचाती हैं। वृक्ष के आधार में सेहे गहरे भट्ट खोद लेती है और उनकी जड़ो के छोटे-छोटे टुकडे कर देती है। तने की साठ सेंटीमीटर की ऊंचाई तक वे छाल को भी कुतर लेती हैं। यह देखा गया है कि केवल बाहरी छाल ही खुरच कर उतार ली गई होती है और रसकाष्ठ या कच्ची लकड़ी को छुआ तक नही जाता। प्रतीत होता है कि जिस मौसम में गोंद का स्वाभाविक निष्पन्दन होता है उन्ही दिनो यह हानि अधिक होती है क्योंकि उन दिनो छाल के स्वाद मे मिठास आ गई होती है जिसे सेहे चाव से खाती हैं।

सेहों से बचाने के लिए वृक्षो के आधारो को सफ़ेद चूने से पोत देते हैं। सेहो से निपटने के अमेरिकन तरीके में छोटे फट्टो को लवणाम्बु और स्ट्रिकनीन मे आचूषित करके वृक्षों के तनो पर कील देते हैं। सेहों का नमक के प्रति रुझान होता है, वे फट्टे को कुतरती हैं और स्ट्रिक्नीन के विष प्रभाव से मर जाती हैं। खैर के मिश्र वनो मे जो आरोही लताएं पेड़ों पर फैल जाती हैं उनसे खैर वृक्षो को प्रायः हानि पहुंचती है।

स्थूण-वन : इस वृक्ष को आधार के जरा ऊपर से काट दिया जाय तो स्थूणों (ठूंठों) से नवीन शाखाएं खूब निकलती हैं और अच्छा आकार धारण कर लेती हैं। इन शाखाओं की वृद्धि के लिए पूर्ण प्रकाश की आवश्यकता होती है। छाया में बहुधा नवीन शाखाएं नही उत्पन्न होतीं, प्ररोह मर जाते हैं।

प्राकृतिक उत्पत्ति : फली के किनारे पर लगा हुआ बीज प्राकृतिक अवस्थाओं में

हवा से उड़ा लिया जाता है। जलीय मार्गों के आस-पास पानी भी बीजों का एक महत्त्वपूर्ण वाहक होता है।

अंकुरोत्पत्ति वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में होती है और बीज-जात (सीडलिंग) की प्रारम्भिक वृद्धि घास-पात रहित नरम भूमि में अच्छी होती है। बरसात के आरम्भ में नदियों के आस-पास रेतीली या पथरीली भूमि पर छोटे-छोटे असंख्य पौदे उग आते हैं, केवल खुले स्थान पर ही नहीं परन्तु अपेक्षाकृत घने आवृत स्थानों पर भी। घने आवृत स्थान पर छाया और नमी के कारण ये शीघ्र मर जाते हैं और मौसम के अन्त तक एक पौदा भी मुश्किल से नज़र आता है। खुले में उगे पौदों की चरे जाने से रक्षा की गई हो तो उनकी अच्छी संख्या जीवित रह जाती है। भूमि कठोर या उथली हो और जड़ों को अन्दर धँसने में कठिनाई हो तो पाले से मृत्यु बहुत अधिक होती है।

ज़ोर की वर्षा में बीज शीघ्र उग आते हैं। यदि वर्षा अपने साधारण समय से पूर्व हो जाय तो बीज भी जल्दी उगने शुरू हो जाते हैं। जब ऐसा होता है तो सूखे मौसम के आने पर थोड़े समय में ही बीज-जात मर जाते हैं या उगते हुए बीज नष्ट हो जाते हैं। भूमि के पृष्ठ के ऊपर उगते हुए बीजों में ऐसी मौत विशेषकर देखी गई है। देहरादून के परीक्षण बताते हैं कि इस प्रकार की शीघ्र अंकुरोत्पत्ति छायादार स्थानों की अपेक्षा उस भूमि में अधिक होती है जहां सूर्य की किरणें प्रचुर होती हैं क्योंकि वहां गर्मी ज्यादह रहती है। नदियों से बनाई भूमि में शर, कास आदि के जो झुण्ड उग आते हैं यदि वे बहुत घने न हों तो उनके अन्दर उगे हुए बीजजातों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तेज़ वायु से रक्षा करते हैं। गीली तथा बहुत अधिक घनी घास में पौदे नमी से मर जाते हैं।

भेद : प्रेन ने खैर के निम्नलिखित तीन भेदों का उल्लेख किया है :

1 वास्तविक खदिर (var. catechu proper) : इसमें पुष्पच्छद (calyx), पुष्पदल समूह (petals) और प्रधान अक्ष (rachis) विस्तारी बालों से आवृत होते हैं। हज़रा, काश्मीर, शिमला, कांगड़ा, गढ़वाल, कुमाऊ, मध्यप्रदेश, बिहार और दक्षिण में उत्तर कनारा, गन्जाम तथा इरावदी घाटी में यह भेद पाया जाता है। हिमालय और असाम में यह भेद कभी नहीं देखा गया। बर्मा में केवल एक बार देखने में आया है। यही भेद है जिससे उत्तर भारत में पीला कत्था बनाया जाता है।

2 भेद कटेचुओयड्स (var. catechuoides) : इसमें पुष्पच्छद (calyx) और पुष्पदल समूह (petals) तो चिकने होते हैं परन्तु प्रधान अक्ष (rachis) रामकावृत होता है। यह मुख्यतया सिक्किम की तराई, असाम और अपर बर्मा में तथा कुछ हद तक मैसूर और नीलगिरी में पाया जाता है।

3 भेद सुन्दरा (var. sundra) : इसमें पुष्पच्छद, पुष्पदल समूह तथा प्रधान अक्ष सब चिकने होते हैं। यह भेद दक्षिण और पश्चिम भारत तथा अपर बर्मा का वृक्ष है। कोयम्बटूर से उत्तर की ओर दक्षिण कनारा और कोंकण तक बहुत साधारण रूप से पाया जाता है और उत्तर-पश्चिम में काठियावाड़ तथा राजस्थान तक देखा गया है।

बर्मा में उत्तर-पश्चिम तक सेगेन, माइण्ले और शान पहाड़ों पर पाया जाता है। दक्षिण भारत और बम्बई राज्य में इस वृक्ष से कत्था बनाया जाता है। कुछ विद्वान् इसे खैर का एक भेद न मान कर अलग जाति (species) मानते हैं।

इन भेदों के गुणों और उपयोगों में अन्तर नहीं है। ये सब एक गोंद देते हैं। इनमें से कत्था निकलता है और इनकी लकड़ी उपयोगी होती है।

गुण : भेषज-पादपों के गुणों का प्रतिपादन करने वाले आयुर्वेद के लेखकों ने खैर के गुण इस प्रकार लिखे हैं : यह शीतल है, रस में तिक्त और कषाय है। पाचक रसों को बढ़ाता है, अरुचि दूर करता है और आंव को हरता है। बलगम को सुखाता है, खांसी और कफ के रोगों को हटाता है। रक्तपित्त, रक्तस्राव, कफ और पित्तकफ को दूर करता है। मोटापे को छांटता है। दांतों के लिए हितकर है। मूत्र तथा प्रजनन-संहति के रोगों में दिया जाता है। वीर्य के स्राव को कम करता है। ज्वर, खून की कमी, पाण्डु में लाभदायक है। यह कृमिनाशक है, शोथ को दूर करता है। खुजली, जख्म, कुष्ठ और सफेद दागों के निवारण के लिए उपयोगी है।

मदन पाल ने खैर की गोंद को मधुर, बलदायक और शुक्र को बढ़ाने वाली बताया है। खैर के सार को इसी लेखक ने विशद, बलदायक, बलगम के रोगों, मुख के रोगों और बहते हुए खून को बन्द करने वाला बताया है।

महाखदिर घृत[1] : खैर की लकड़ी का सार भाग 38 किलोग्राम, शीशम की लकड़ी का बीच वाला भाग 9.500 किलोग्राम, असन की मध्यकाष्ठ 9.500 किलोग्राम करञ्ज, नीम की छाल, वेतस, पित्तपापड़ा, कुटज की छाल, बांसा, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास का गूदा, गिलोय, हरण, बहेड़ा, आंवला, त्रिवृत, सप्तपर्ण की छाल प्रत्येक 4.750 किलोग्राम लें। इन्हें मोटा-मोटा कूट कर 488 लीटर पानी में पकायें। 62 लीटर पानी बचने पर उतार लें। छान कर इसमें निम्न लिखित द्रव्य मिलायें : गौ का घी और आंवले का रस प्रत्येक बारह सेर चौंसठ तोले; सप्तपर्ण की छाल, अतीस, अमलतास का गूदा, कटुकी, पाठा, मोथा, खस, हरड़, बहेड़ा आंवला, पटोलपत्र, नीम की छाल, पित्त पापड़ा, धमासा, लाल चन्दन, पिप्पली, पद्माक, हल्दी, दारु हल्दी, वचा, इन्द्रायण की जड़, शतावरी, कृष्ण सारिवा, अनन्तमूल, इन्द्र जौ, बास की जड़ का छिलका, मूर्वामूल, गिलोय, चिरायता, मुलैठी और त्रायमाणा, प्रत्येक 96 ग्राम का कल्क। कल्क बनाने के लिए इन चीजों को मोटा कूट कर जरा-से पानी में रात भर भिगो छोड़ें, नरम हो जाने पर सुबह सिलबट्टे पर रगड़ लें।

निर्देश : कुष्ठ रोगों में इस घृत को छह ग्राम की मात्रा में खिलाते हैं और रोगाक्रान्त भागों पर मलते भी हैं।

---

1 चरक, चिकित्सा स्थान 6; 151-155।
चक्रदत्त, कुष्ठ चिकित्सा; 110-114।

मुख्यतः धात्वीय लवणों (metallic salts) की क्रिया से कत्थे के विलेय समास अविलेय समासों में बदल देते हैं। इस प्रकार रंग पक्का हो जाता है।

उत्तर भारत में कपड़े पर छपाई का काम करने वाले दो पौण्ड कत्थे को तीन गैलन पानी में उबालते हैं। इस घोल में एक पौण्ड चूना (shell lime) मिलाया जाता है। इस मिश्रण को बारह घण्टे तक स्थिर रख दिया जाता है। ऊपर की सतह का रंगदार द्रव निथार कर छपाई के लिए रख लिया जाता है। इस उदाहरण में कपड़े पर रंग छापने से पहले जारण (ऑक्सिडाइजेशन) हो चुका होता है। यूरोप में ऐसा नहीं किया जाता। रंगयुक्त द्रव जिसमें खदिरि (castechin) और गोंद विलेय हैं, कपड़े पर छापा जाता है और जारण (ऑक्सिडाइजेशन) तन्तुओं में होता है। यह विधि अधिक अच्छी है, इसमें रंग पक्का आता है। रंगा हुआ तन्तु वायु के सम्पर्क में आ कर कुछ समय में जारित (ऑक्सिडाइज्ड) हो जाता है। परन्तु, क्योंकि रंगने वाले को जल्दी होती है इसलिए रंगे हुए तन्तु को वाष्प में रख दिया जाता है या दहातु द्विवर्णीय (bichromate of potash) के घोल में से गुजार दिया जाता है।

कपड़ा रंगने वाले यूरोपियन रंगरेज अनेक रंगों में कत्थे का उपयोग करते हैं। उनका ब्राउन स्टैण्डर्ड रंग इस प्रकार बनाया जाता है. 90 किलोग्राम कत्थे को 225 लिटर पानी में छः घण्टे तक उबालते हैं। इसमें 20 लिटर सिरका (शुक्तिक अम्ल, एसिटिक एसिड) मिलाते हैं। फिर, इसके अन्दर पानी डाल कर द्रव का कुल परिमाण 225 लिटर बना लेते हैं। इसे दो दिन तक रखा रहने देते हैं। फिर साफ घोल को निथार लेते हैं। इसे चौवान अंश शतांश तक गरम करके 43.20 किलोग्राम लाल अमोनिएक मिला देते हैं। अच्छी तरह हल करने के बाद अड़तालीस घण्टे तक बैठने देते हैं। तब, साफ भाग को निथार लेते हैं। इसमें प्रति गैलन (4.5 लिटर) 1.80 किलोग्राम श्वेत खदिर का गोंद (senegal gum) पिघला कर गाढ़ा कर लेते हैं। बस, रंग तैयार हो जाता है।

रसायन विद्या के एक संस्कृत ग्रंथ रसार्णव (पटल 5·39) से पता चलता है कि बारहवीं शताब्दी में खैर का प्रयोग लाल रंग बनाने में किया जाता था। संस्कृत के एक सुभाषित का अर्थ है— 'हरिणी के सदृश नेत्रों वाली नारियों के अधरों पर कत्थे के बिना रंग चढ़ता ही नहीं।'[1] पाठकों को यह पढ़ते हुए घृणा उत्पन्न होती है परन्तु है यह कि भारत के कुछ आरक्षित (restricted) भागों में पान को चबा कर फेंकी हुई पीक इकट्ठी कर ली जाती है और रेशम को रंगने में सहायक द्रव्य के रूप में काम आती है। इस युग में मनुष्य बहुत अधिक उपयोगितावादी हो गया है!

गोंद : खैर के वृक्ष से हलके पीले रंग का एक गोंद निकलता है। साधारणतया इसके साथ गेस्टीमीटर के टुकड़े होते हैं, जिनका स्थान लगभग चार सेन्टीमीटर होता है।

---

1 विना खदिरसारेण हरिणे हरिणीदृशाम् ।
अधरे जायते रागो नानुरागः करोतरे ॥

स्वाद में यह गोंद मीठी होती है और पानी में घुल जाती है। इसकी बड़ी अच्छी हलके रंग की निर्यास-लेपी (mucilage) बनती है जो क्लीब सीस शुक्तीय (neutral acetate of lead) से निक्षिप्त नहीं होती। असल कीकर की गोंद (गम एकेशिया या एरेबिक गम) के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों में से एक यह भी मानी जाती है। बबूल की गोंद के साथ मिलावट करके यह बबूल गोंद (गम एकेशिया) के नाम से बेची जाती है। कीकर की गोंद (एरेबिक गम) के नाम से भारत में, विशेषतः दक्षिण भारत में गोंदों की जो किस्में इकट्ठी की जा रही हैं, बहुत सम्भवतः वे इस वृक्ष से प्राप्त की जाती हैं।

गुजरात के अहमदाबाद जिले में भी इस गोंद को बहुत इकट्ठा करते हैं। वे इसे स्थानीय दुकानदारों को बेच देते हैं या इसके बदले में उनसे अनाज ले लेते हैं। गरीब आदिवासी इसे खाने के काम भी लाते हैं।

मिलावट : बबूल की गोंद अच्छी मानी जाती है इसलिए, इसमें मिलावट बहुत की जाती है। बहुत अधिक असमान गोंदों को मिला कर भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों और जिलों में खैर की गोंद के नाम से बेचा जा रहा है।

एक वृक्ष की गोंद में दूसरे वृक्ष की गोंद की मिलावट कभी नहीं करनी चाहिए। मिलाये गए दोनों गोंद सम्भव है कि पानी में घुलनशील हों परन्तु वे एक ही गति से विलेय नहीं भी हो सकते। कई बार घोलने पर वे इकट्ठे हो कर एक पिण्ड बन जाते हैं। इसलिए यदि दो या अधिक प्रकार के गोंदों को आपस में मिला कर बेचा जा रहा है तो सारी ही चीज खराब हो जाती है। इनमें से यदि एक गोंद पूर्णतया अथवा अंशतः अविलेय है तो सम्पूर्ण पदार्थ की उपयोगिता लगभग अविलेय गोंद के समान रह जाती है। इसलिए गोंद इकट्ठा करने वालों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :

1. एक प्रकार के वृक्ष से इकट्ठा किया गोंद एक जगह रखना चाहिए।
2. रंग में जितना सम्भव हो हल्के रंग का होना चाहिए।
3. एक समान रंग के गोंदों को एक साथ रखना चाहिए।
4. सब प्रकार की विजातीय मिलावटों से रहित होना चाहिए।

भारतीय जंगलों में प्रायःकर आसपास एक साथ अनेक प्रकार के वृक्ष उगे होते हैं, इसलिए उन सब का गोंद भी बिना किसी भेद-भाव के एक साथ इकट्ठा कर लिया जाता है। फिर इस मिश्रण को पीस दिया जाता है जिससे मिश्रण के लिए द्रव्यों का और रेता तथा दूसरे न चिपकने वाले पदार्थों की मिलावट का पता न चले।

लकड़ी : खैर हमारी वैदिक संस्कृति का प्रसिद्ध वृक्ष है। धार्मिक कृत्यों में काम आने वाले इस वृक्ष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण ने प्रतिपादित किया है कि 'प्रजापति की अस्थियों से खदिर पैदा हुआ है; इसलिए यह बहुत सार वाला कठोर वृक्ष है।'[1] शतपथ ब्राह्मण की यह उक्ति बहुत अर्थपूर्ण है क्योंकि खैर की लकड़ी वस्तुतः बहुत

---

1 अस्थिभ्य एवास्य (प्रजापतेः) खदिरः समभवत्।
तस्मात् स दारुणः बहुसारः। शतपथ, 13, 4, 4, 9।

कठोर होती है। इस विस्तृत भूमंडल के प्रतिपादक प्रजापति की विशाल काया की यदि हम कल्पना करें तो उसकी हड्डियां जैसी मजबूत होनी चाहिए वैसी ही दृढ़ता और कठोरता खैर के सार-काष्ठ में विद्यमान होती है। वैदिक ऋषि उसके उपयोगी दृढ़काष्ठ की बहुत कद्र करते थे। उनके घरेलू जीवन में तथा कृषि आदि में प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। वे इस पर कितना निर्भर करते थे यह बात विश्वामित्र ऋषि की इस कविता से हमें ज्ञात होती है :

'हे रथ के धुरे !
तू खैर वृक्ष के सार-काष्ठ को धारण कर।
हे दृढ़ धुरे !
तू खूब मजबूत रहा।
हमें रथ पर से गिराना नहीं।'[1]

यज्ञों और धार्मिक विधि-विधानों का उपदेश करने वाला शतपथ ब्राह्मण हमें बताता है कि खदिर के बने एक-एक बरतन से सोमरस का पान किया जाता था। यज्ञ की विघ्न-बाधाओं को खैर से दूर भगाया जाता था। इसलिए इसे खदिर कहते थे; इसी से यज्ञस्तम्भ खैर की लकड़ी का बनाया जाता था। स्मय नामक यज्ञपात्र भी खैर का बनाया जाता था।[2] कर्मकाण्ड में काम आने वाला एक काष्ठ पात्र, जिसे स्रुव कहते हैं, खदिर काष्ठ से बनता था।[3] विलघरौर्न ने प्रतिपादित किया है कि बबूल (*Acacia*) गण (genus) के अन्य वृक्षों की तुलना में खैर की लकड़ी कम टिकाऊ और कम कठोर है। दीमकों के आक्रमण से यह बची रहती है। काष्ठान्तक-कीटों (Teredo) के लिए भी यह बहुत आकर्षक नहीं है।

सामान्यतया यह बबूल की काष्ठ के समान ही है परन्तु रंग में यह उससे अधिक गूढ़ी तथा अधिक भारी होती है और इसकी वाहिनियों (vessels) में खटीमय (chalky) निक्षेपों की बहुलता होती है। अन्तःरचना में यह उससे इस बात में भिन्न है कि इस में वाहिनियां अधिक छोटी होती है, इसमें परिजलवाहिक जीवितक (paratracheal parenchyma) के भूरे पथ रहते हैं, आवसानिक जीवितक (terminal parenchyma) की तंग रेखाएं स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं और रश्मियां (rays) अधिक तंग तथा निम्नतर होती हैं।

---

1 अभिव्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्।
अक्ष वीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः॥

ऋग्वेद, मण्डल 3, सूक्त 53, 19।

2 खदिरेण ह सोममाचखाद। तस्मात् खदिरो यदेनेनाखिदत् तस्मात्खादिरो यूपो भवति खादिर स्फ्योऽच्छावाकस्य हैनं गोपनायां जहार...।

शतपथ, काण्ड 3, अध्याय 6, ब्राह्मण 2, 8।

3 खादिर स्रुवं भवति।

पीयर्सन और ब्राउन के अनुसार इमारती लकड़ी की दृष्टि से खैर पहली श्रेणी का मूल्यवान् वृक्ष है। इसमें रसकाष्ठ (sap wood) मोटी होती है। इसका रंग पीला-सा सफेद होता है। रसकाष्ठ टिकाऊ नहीं होती। अन्दर की पक्की लकडी हलके या गूढ़े लाल रंग की होती है। पड़ी रहने पर यह आबभ्रु रक्त वर्ण में या लगभग काले रंग में परिणत हो जाती है। यह कठोर, दृढ़ और टिकाऊ काष्ठ है। पुराने मन्दिरों में सैकड़ों वर्षों तक इस काष्ठ के बने रहने के अनेक अभिलेख मिल जाते हैं। बन्दरगाहों में भी यह बहुत अच्छी चली है।

खैर की काष्ठ सामान्यतया अच्छा सूखती है परन्तु धीरे-धीरे संशुष्क होती है। सम्भव हो तो गीली काष्ठ को ही रूपान्तरित कर लेना चाहिए क्योंकि सूखी लकड़ी इतनी अधिक कठोर हो जाती है कि उसे आरे से चीरना कठिन होता है। इस लकड़ी में एक दोष यह है कि सिरों पर यह फट जाती है या तिड़क जाया करती है। यह दोष मोटे तख्तों और कड़ियों में विशेष रूप से देखा जाता है। इसलिए यह सलाह दी जाती है कि इस काष्ठ को या तो ढाई सेण्टीमीटर के फट्टों में या कड़ियों में रूपान्तरित कर लिया जाय और लगभग एक साल तक संशुष्क होने दिया जाय। आपाक-संशोषण (kiln-seasoning) में कोई शिकायतें पेश नहीं आतीं।

इस काष्ठ को आरे से चीरना और मशीनों से काटना कुछ कठिन होता है, विशेषकर तब जब लकडी बहुत पुरानी और सूखी हो। मशीनों द्वारा या खराद द्वारा इस पर काम करने के लिए मजबूत औजारों की आवश्यकता होती है। इस लकड़ी पर पॉलिश अत्यधिक अच्छी चढ़ती है और सफ़ाई बहुत बढ़िया आती है।

खेती के उपकरणों, औजारों के हत्थों, भालें, नेजे, तलवार और कृपाण की मूठों, धनुषों, धान कूटने के मूसलों, तम्बू गाड़ने की खूटियों, बांसुरियों, हुक्के के गड़गड़ों, तेल निकालने और गन्ना पेरने के कोल्हुओं, क़शरों, कुओं, नौकाओं, गाड़ियों, पहाड़ियों के आरों तथा नाभियों आदि के बनाने में खैर की लकड़ी का व्यापक उपयोग होता है। खेतीवाड़ी के काम में जहां कड़ी लकड़ी की आवश्यकता पड़ती है वहां किसान खैर का उपयोग करता है। हल में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग पाया है जो धरती को फाड़ता है, यह खैर का बनता है। पानी से भरी धान की क्यारियों के गहन के लिए बनाये जाने वाले उपकरण की किल्लियों में खदिरकाष्ठ लगती है। गाड़ी का ऊटना खैर से बनता है।

वर्मा में यह छत की कड़ियों और घर की बल्लियों के लिए बरती जाती है। जमीन में गाडी जाने वाली बल्लियों के रूप में यह भरुच में बहुत उपादेय समझी जाती है। रेल की पटरियों के स्लीपरों के लिए यह अच्छी सिद्ध हुई है। कोलार स्वर्ण क्षेत्रों में पास की जमीन को धसकने से रोकने के उद्देश्य से कूपकों और जलदरियों के पार्श्वों में खैर की लकड़ी की टेकनें खड़ी कर देते हैं।

खैर (एकेशिया कैटेचु वैराइटी कैटेचु) की एक घनफुट (0.028 घन मीटर) लकड़ी का भार 21.60 से 28.80 किलोग्राम खदिर भेद कैटेचु-ओयडस 26.55 से 33.75

किलोग्राम और लाल खैर (एकेशिया सुन्दरा) का ज़रा-सा अधिक होता है। खैर की लकड़ी की मांग अच्छी है।

ईंधन : जहां खैर के जंगल होते है वहां लोग इसे जलाने के काम लाते है। कत्था निकालने के लिए क्योकि इसकी मांग अधिक है और उसमे दाम अधिक मिल जाते है इसलिए ईंधन के लिए इसका प्रयोग अभीष्ट नही है। हां, सारकाष्ठ रहित पतली टहनियो को जलाने में बरता जा सकता है। उत्तर भारत मे इसका कोयला बनाया जाता है और इस प्रयोजन के लिए सर्वोत्तम समझे जाने वाली लकडियो मे यह एक मानी जाती है। उच्चताप पैदा करने के लिए इसकी बहुत प्रशंसा की जाती है। इसीलिए सुनार ईंधन के लिए इसे पसन्द करते हैं।

लाख : वैदिक काल में खैर के वृक्ष लाक्षाकीट के उत्तम पोपिता-पादप समझे जाते थे। जैविक के आधुनिक विद्वान् इस तथ्य की पुष्टि करते है कि खैर पर लाख का कीड़ा पलता है। प्रतीत होता है कि प्रकृति में इस बात का पर्यवेक्षण सबसे पूर्व अथर्ववेद काण्ड 5, सूक्त 4; 5 के अथर्वा नामक एक ऋषि ने किया था।

यह बात ध्यान देने की है कि जुलाई मे ही खैर के पेड पर लाख के कीडे को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सर्दियों की समाप्ति और गर्मियो के आरम्भिक महीनो मे लाख की फसल पैदा करने के लिए रस मे पर्याप्त जीवनी शक्ति नही रहती। यदि पलाश या बेर के वृक्षों पर होने वाले संजातक (brood) को खैर के ऊपर छोड़ा जाय तो अक्तूबर या नवम्बर मे फसल मिल जाती है और यह गुणो में शुद्ध पलाश की लाख या शुद्ध बेर की लाख जैसी ही होती है। परन्तु जुलाई में यदि कुसुम [*Schleichera oliosa* (Lour) Merr] के संजातक में खैर को आक्रान्त कर दिया गया है तो सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते है और फ़सल जनवरी-फ़रवरी में तैयार हो जाती हैं। संजातक बहुत अच्छी तरह बढते है और प्राप्त लाख की पपड़ी गुणों में तथा परिमाण मे कुसुम की पपड़ी के समान होती है। लाख के कीड़े की जो सन्तति खैर के वृक्ष पर पैदा हुई है उसे फिर कुसुम पर छोड़ दिया जा सकता है। यह सुझाव दिया जाता है कि जहां खैर और कुसुम एक ही वन में पैदा होते हों वहा लाक्षा-कीट के संजातको की अदला-बदली करते रहना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि लाख की एक अत्यन्त स्वस्थ और सहिष्णु किस्म पैदा हो जाती है।

चिकित्सा में उपयोग : चिकित्सा की भारतीय पद्धति आयुर्वेद में खैर वृक्ष के विविध अंग-प्रत्यंग अत्यन्त प्राचीन काल से विभिन्न रोगो के निवारण में काम आ रहे हैं। अगले पृष्ठों में हम इनके उपयोग दे रहे हैं।

मुख के रोग : मसूड़ों में जख्म हों और इनके कारण वे छिद्रित (स्पन्ज) के समान लुचलुचे बन गए हों तो कत्थे के सुपव निष्कर्ष (टिक्चर कंटेचु) को फुरेरी पर लगा कर लेप कर देते है। जरा से कत्थे को पानी में घोल कर पायोरिया के रोगी को कुल्ले कराये जाते है। खैर की छाल का या अन्दर की लकड़ी का काढा पीने से और

उसके कुल्ले करने से मसूड़ों से खून का आना बन्द हो जाता है। हलकी-सी भुनी हुई सुपारी के साथ कत्थे का बहुत सूक्ष्म चूर्ण देहाती लोग छिद्रिष्ट मसूड़ों में प्रयुक्त करते हैं। इसका निरन्तर उपयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक देर तक इसका प्रयोग दांतों को काला कर देता है। बादाम के छिलके, अखरोट के छिलके, बोल और सुपारी को हांडी में बन्द करके जला देते हैं। इसमें कत्था मिला कर बारीक पीस लेते हैं। घरेलू दन्तमजन के रूप में इसे इस्तेमाल किया जाता है।

कत्थे को पानी में पका कर लेई जैसा गाढा बना लें। इसमें बारीक पीसी हुई सुपारी, जायफल और कपूर मिला कर खरल में रगड़ लें। चने के बराबर गोलिया बना लें। मसूड़े, तालू, जीभ और दांतो के रोगों मे इसे मुंह में रखते है।

अन्न-प्रणाली के विकारों में : स्रावों को सुधारने की कत्थे की क्रिया आमाशय पर भी होती है जिससे कत्था खाने वाले के आमाशय का पाचन रस कम परिमाण में निकलता है। अन्य ग्राही द्रव्यों के समान प्रबल ग्राही औषधि के रूप में यह श्लैष्मिक आवरण के शिथिल होने के कारण उत्पन्न अतिसार (दस्तों) मे दिया जाता है। आंतो के स्रावो को सुखा कर यह मल को गाढा करता है जिससे पतला मल बंध कर आने लगता है। इस गुण के कारण इसे संग्रहणी, अतिसार आदि अवस्थाओं में लाभ के साथ प्रयुक्त किया जाता है। दस्तों को रोकने के लिए युवाओं को सामान्य चूर्ण रूप की मात्रा मे मधु के साथ चटाया जाता है। पेचिश में इसकी बड़ी मात्रा देने की सलाह दी जाती है।

अन्न-प्रणाली में विकारो के कारण मतली, जी घबराना आदि लक्षण हों तो स्वादु और सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिला कर देहाती लोग कत्थे का प्रयोग करते हैं। खट्टे डकार आते हो तो कत्था लाभ के साथ दिया जाता है।

खांसी में : कत्था अच्छा संग्राहक है। इसकी क्रिया श्लैष्मिक आवरण (म्यूकस मेम्ब्रेन) पर तथा रक्तवाहिनियों पर होती है। इससे बलगम में कमी होती हैं और छोटी-छोटी रक्तवाहिनियो का संकोच होता है। तरुणो के कफ विकार में जब बलगम बहुत पड़ता हो, बलगम पतला हो, शरीर फीका पड़ गया हो और हलका-हलका ज्वर रहता हो तब कत्थे और बोल को सम भाग में लेकर बनाई गोलियां देने से लाभ होता है। कत्थे की डली को मुख में रख कर चूसने से काग की शिथिलता के कारण उत्पन्न सूखी खांसी में लाभ होता है।

अधिक या दुर्गन्धित लालास्राव में, गल शुण्डिकाओं (टौन्सिलों) के बढ़ जाने में, काग के शिथिल होने में, वाचिक तन्त्रियो (वोकल कौर्डस) के क्षोभ में और इसके कारण उठने वाली कष्टदायक खांसी में कत्थे का एक छोटा टुकड़ा मुख में रख कर धीरे-धीरे घुलने दिया जाय तो यह एक उत्तम औषध का काम करता है। स्वरभंग मे कत्थे के के जरा-से टुकड़े को मुख में रख कर चूसा जाता है। श्वास प्रणाली के कष्टों से कत्थे को मिश्री और हल्दी के साथ प्रयोग किया जाता है। खांसी में कत्थे के चूर्ण को महर्षि चरक

मदिरा के साथ या दही के पानी के साथ खिलाना लाभदायक समझते है। यह अच्छे कफ निस्सारक का कार्य करता है।

खून बन्द करने के लिए : बलगम के साथ रोगी खून भी थूकता हो तो कोकण में खैर की छाल के ताजे रस के साथ हींग का सेवन करते है। श्वास संहति के किसी अंग से खून आने पर यह औषध देने की सिफारिश की जाती है। शरीर के किसी भाग से खून बहने की अवस्थाओ (रक्तपित्त) में चरक खैर के फूलों के चूर्ण को शहद के साथ चटाते हैं। खैर की सार-काष्ठ जीवति (विटामिन) बी का महत्त्वपूर्ण स्रोत होता है। स्कर्वी रोग में कत्था उपयोगी पदार्थ माना जाता है। इस रोग मे शरीर पर छोटे-बड़े नीले धब्बे पड़ जाते है, अंगों में वेदनाएं होती है और प्राय: सभी श्लैष्मिक आवरणों से रक्त स्राव होने लगता है।

स्त्रियों के रोगों में : प्रसव के बाद तीव्र रक्त स्राव को रोकने के लिए खैर की मध्यकाष्ठ का काढा बहुत उपयोगी होता है। गर्भाशय की शिथिलता के कारण उत्पन्न प्रदर, रक्तस्राव और योनि शैथिल्य में कत्थे और बोल के समभाग से बनाई गोलियां लाभदायक होती हैं। प्रसव के बाद स्त्रियों को शक्ति पहुंचाने के लिए और दुग्ध स्राव को बढ़ाने के लिए कत्थे और बेल का मिश्रण दिया जाता है। श्वेत प्रदर और निर्बलताजन्य रक्त प्रदर में कत्थे के जलीय घोल का सूचीवेध दिया जाता है।

मूत्र तथा प्रजनन-संहति के रोग : पेशाब को कम करने वाली दस औषधियों में चरक ने खैर को गिनाया है। खैर के सार काष्ठ के काढे में शहद मिला कर गोविन्द दास क्षौद्र मेह (डायबिटीज) में पीने को देते है। खैर और विट खदिर की पक्की लकड़ी की कतरनों को सुपारी के साथ पका कर काढा बना लेते हैं। क्षौद्र मेह के रोगी को यह पिलाया जाता है।

मूत्र मार्ग से पीप जाने की अवस्थाओ, सुजाक व पूयमेह, मे खैर का काढ़ा दिया जाता है। खैर के पुष्पित शिखरों को जरा-से जीरे के साथ दौरी-डण्डे में ठंडाई की तरह रगड़ लेते हैं। जरा-सा पानी डाल कर कपडे में छान लेते है। दूध में मिला कर इस पेय को पूयमेह मे लाभ के साथ दिया जाता है।

कत्थे में पुंस्त्वहर गुण की अधिकता मानी जाती है। कहा जाता है कि अधिक मात्रा मे उपयोग करने से यह जनन शक्ति को क्षीण कर देता है। 605 से 1,210 मिलिग्राम की मात्रा मे इसके चूर्ण को पानी के साथ हिन्दू विधवाएं कामेच्छा को दबाने के उद्देश्य से खाती देखी गई हैं।

गुदा के रोग : बवासीर के मस्सो को कत्थे के जलीय घोल से धोया जाता है। गुदभ्रंश (गुदा का बाहर आने मे) और बवासीर के उभरे हुए मस्सो मे सूअर की चरबी या वैसलीन के साथ मिला कर बारीक पिसे हुए कत्थे की मरहम का लेप बहुत लाभ करता है। कत्थे के फाण्ट से या खैर के काढ़े से धोना और सेक करना भी लाभप्रद होता है।

शार्ङ्गधर और गोविन्ददास ने भगन्दर में इसका उपयोग इस प्रकार बताया है : खैर की सार काष्ठ की कतरनों में त्रिफला मिला कर काढ़ा बना लें। इसमें वायविडंग के चूर्ण की चुटकी दे कर भैंस का घी मिला कर पी जायं। गुदा के कैंसर में कत्थे को जली हुई सुपारी के साथ पीस कर लेप किया जाता है।

आंख के रोग : आंखों की सोज में और आंखों के जख्मों में कत्थे को पानी में घोल कर आंख में टपकाते हैं।

कान के रोग : कान से पीप आती हो तो कत्थे को पानी में घोल कर पिचकारी करते है। फिर फुरेरी से साफ कर के सुखा लेते हैं और कत्थे का बारीक चूर्ण छिड़क देते है। कहते हैं कि इस उपचार से अच्छा लाभ होता है।

बुखारों में : खैर विषमज्वर (मलेरिया) को रोकने वाला कहा जाता है। सतत ज्वर में यह उपयोगी बताया जाता है। जीर्णज्वर में खैर की छाल और चिरायते का काढ़ा सेवन करने से बढ़ी हुई तिल्ली कम होती है और शरीर को बल मिलता है।

त्वचा के रोगों और जख्मों में : भारतीय वैद्य खैर को त्वचा के रोगों में बहुत प्रयुक्त करते हैं। इसे खिलाया भी जाता है और बाहरी प्रयोग भी किया जाता है। शोथ-युक्त भागों को और व्रणों को कत्थे के काढ़े से धोया जाता है। गरम काढ़े से धोने पर सोज पटक जाती है। त्वचा के रोगों में जख्म हो जाने पर पीप और खून आता हो तो खैर की छाल का काढ़ा पिलाते हैं और इसी से व्रणों को धोते हैं। घावों से बहते हुए खून को रोकने के लिए उन पर पीसा हुआ कत्था छिड़कते हैं। ग्राही होने से यह रक्त शमन का कार्य करता है और संज्ञास्थापन करता है। स्तन-व्रणों में कत्थे का लेप उपयोगी होता है। पुराने व्रण, जिनमें स्राव बहुत गन्दा और दुर्गन्धित हो, कत्थे के बारीक चूर्ण तथा सूअर की चरबी या मोम और तेल मिला कर बनाये हुए मरहम के लगाने से बहुत शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। व्रण बहुत कठोर हो, पुराने हों और उनमें बहुत से नवीन तन्तुओं की वृद्धि हो गई हो तो इस मरहम में अत्यल्प परिमाण में नीला थोथा भी मिला लिया जाता है।

गोविन्द दास के अनुसार खैर की लकड़ी, त्रिफला, नीम की छाल, पटोलपत्र, गिलोय और बांसे की छाल का काढ़ा खसरा, मसूरिका, कुष्ठ, विसर्प, विस्फोट तथा कण्डू को नष्ट करता है।

त्वचा के सभी प्रकार के विकारों को नष्ट करने के लिए चक्रपाणिदत्त बताते हैं कि खैर के जल का रोगी को खूब प्रयोग कराना चाहिए। उसकी खाने पीने की सभी चीजें खैर के पानी से बनानी चाहिए। उसके शरीर पर लगाये जाने वाले प्रलेप और उबटन इसी पानी से तैयार किये जाने चाहिएं और इसी से उसे स्नान करना चाहिए। चक्रदत्त, कुष्ठ चिकित्सा; 92।

कैंसर में : पीले कत्थे का कैन्सर में प्रयोग किया जाता है। पहले इसे पानी में नरम करके कल्क बना लिया जाता है और तब आक्रान्त भाग पर कुछ समय तक निरंतर

लेप करना पड़ता है। कत्थे के बहुत सूक्ष्म चूर्ण को घी में मिला कर बनाए हुए मरहम का भी कैंसर पर लेप करते है। पूर्वीय अफ्रीका मे कत्थे और नीले थोथे को अण्डे की जर्दी में पीस कर कैंसर पर प्राय: लेप करते हैं।

फिरंग व्रण : पंजाब में मरहम के रूप में कत्थे का प्रयोग खुजली, फिरंग (आतशक, सिफलिस) और दाह पर किया जाता है। प्राथमिक फिरंग व्रण में कत्थे का स्थानीय उपयोग लाभप्रद कहा जाता है।

कुष्ठ में : आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों ने कुष्ठ और त्वचा के रोगों में खैर का बहुत उपयोग किया जाता है। चरक ने कुष्ठ को हरने वाली दस चीजों में खैर को गिनाया है। इस सूची में सबसे पहले खैर का नाम लेते हैं। वे कहते हैं कि खैर के मध्य-काष्ठ से बनाया काढ़ा कुष्ठ रोगी को पिलाने से तथा इसी से स्नान कराने से लाभ होता है। स्नान, पान व लेप द्वारा गोमूत्र के साथ खैर का प्रयोग कुष्ठ के कृमियों को नष्ट करता है। कुष्ठ रोगी के अन्न-पान के विधानों में, परिषेक में, धूपन मे और प्रदेह में खैर का प्रयोग होता है। खैर की अन्तर्दारु का कषाय कुष्ठ मे लगातार दीर्घ काल तक पीने के लिए देना चाहिए। कुष्ठ-व्रणों को इस कषाय से साफ करके खदिर-काष्ठ का सूक्ष्म चूर्ण उन पर छिड़क देना चाहिए या काष्ठ को सिल के ऊपर चन्दन की तरह घिस कर लेप करना चाहिए। खैर के तेल से कुष्ठ रोगी को प्रतिदिन मालिश की जाती है।

तेल बनाने के लिए खैर के चार किलोग्राम मध्यकाष्ठ को चौंसठ लिटर पानी में पकाएं। आठ लिटर काढ़ा बचने पर उतार लें और छान कर फोक फेंक दें। आधा किलोग्राम खैर की लकड़ी के बुरादे को सिल पर पीस कर चटनी सी बना लें। इसको और दो किलोग्राम तिल के तेल को काढ़े में मिला कर हल्की आंच पर पकाएं। पानी उड़ जाने पर उतार लें और छान कर शीशियों में भर लें। यह तेल मालिश के लिए उपयोगी होता है। खैर का घी भी इसी तरीके से बनाया जाता है। प्रतिदिन प्रातःकाल बारह ग्राम की मात्रा में यह घी सेवन कराया जाता है। कफज, पित्तज और वातज कुष्ठों में भी इस घृत के सेवन करते रहने और तेल की मालिश करते रहने से लाभ होता है। रक्तपित्त प्रधान कुष्ठों में खदिर घृत का उपयोग रोग को जीतने में मदद करता है। चक्रपाणि दत्त कुष्ठ में खैर का प्रयोग इस प्रकार लिखते हैं : ताजे काटे हुए खैर के पेड़ की मोटी जड़ों में छिद्र करके उन्हें घड़े के अन्दर डाल दें। घड़े का मुख अच्छी तरह बन्द कर दें। वृक्ष के ऊपर के भाग पर आग जलायें। गरमी पा कर वृक्ष के अन्दर का रस जड़ों में किए गए छिद्रों में से टपक टपक कर घड़े में इकट्ठा हो जाएगा। चक्रपाणि कहते हैं कि इस रस में समान भाग आंवले का रस तथा घी और शहद डाल कर सेवन करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है। रसायन के समान यह औषध रोगी के शरीर को बल प्रदान करती है।

कुष्ठ रोग में जब खैर से बनाये औषध द्रव्यों के द्वारा चिकित्सा की ...
तो रोगी को तिक्तरस वाले पथ्य का विशेष रूप से प्रयोग करना हितकर है।

सफेद दागों में : कुष्ठ रोग के निवारण के लिए जो उपचार किया जाता है वह सब सफेद दागो (श्वित्र कुष्ठ) में हितकर है, ऐसा चरक का मत है। कुष्ठनाशक औषधियो के साथ खदिरोदक मिला कर श्वित्रकुष्ठ में दिया जाता है। प्यास लगने पर रोगी को खदिरोदक ही दिया जाय तो अच्छा है। खदिरोदक बनाने के लिए खैर के मध्यकाष्ठ के छोटे-छोटे टुकड़ों को पानी मे भिगो देते हैं और वह पानी रोगी को देते है। खैर की लाल लकड़ी का बरतन बना लिया जाता है उसमें रखे हुए पानी को भी खदिरोदक कहते हैं। चक्रपाणिदत्त का अनुभव है कि खैर के मध्यकाष्ठ और आंवले को एक साथ उबाल कर बनाये काढे में बावची का चूर्ण डाल कर सेवन करने से शंख और चांद के समान सफ़ेद चमकने वाले दाग भी दूर हो जाते हैं। (चक्रदत्त, कुष्ठ चिकित्सा; 60)।

: दस :

भिलावा

कहां-कहां मिलता है ? : उपहिमालय प्रदेश (sub-himalayan tract) में व्यास से पूर्व की ओर ऊपर जाएं तो बाहरी पहाड़ियों पर 1,067 मीटर तक, बंगाल, सिक्किम, असम, खासिया पहाड़ियां, चिटागोंग, मध्य भारत, वीरभूम, हजारीबाग, कटक, हुगली, हवड़ा, चौबीस परगना, बिहार, छोटा नागपुर, गुजरात, कोंकण, दक्षिण महाराष्ट्र, कन्नड़ और तमिलनाडु के सभी जिलों के पर्णपाती वनों (deciduous forests) में भिलावे के वृक्ष पाये जाते हैं। सामान्यतया भारत के गरम भागों में सर्वत्र इसके वृक्ष मिल जाते हैं। पूर्वीय द्वीपपुंज (archipelago) और उत्तर आस्ट्रेलिया में भी यह वृक्ष पाया जाता है।

विभिन्न भाषाओं में नाम :

हिन्दी भिलावा।
कश्मीर बिलावा।
पंजाबी भिलावा।
कुमाउंनी भल्यावा, भल्या।
मराठी बिब्बा।
गुजराती भिलामो, भिलामु।
बंगला भेला।
उड़िया भोल्ला-तोली, भोल्लिआ, भिल्लिया।
कन्नड़ अग्निमुखी, भल्लातक, गेरु, गेरुबीज, गेरकाई, घेरु, गोड्डुगेरु, करीघोरु, केरु, केरु बीज।
तेलुगु भल्लातकी, भल्लातमु, गुदोवा, जीडी, जीरी, नल्लजीडी, नल्लजेड्डी, तुम्मेदाममीडी।
तमिल कृमुगी, कलगम्, कवग, पल्लम, पल्लीवकई, उदनशनम्, से, सेरन, शईंग, शयरंग, शेन्कोट्टई, शेरनकोट्टई, सिन्दूरम्, सोम्बलम, तगिलिमा, तेन्बारई, विन्गि, विरसगी।

तुलु जेरकई, तेरे।
मलयालम चेर, चोरक्कुरु, चेरकोट्ट, कम्पीरा, येन्कोट्ट, शेन्वीरी, चक्कुर, चेरक्कोट।
सिंहाली किरिबदुल।
ब्रह्मी च्यायवेंग खिसी।
कच्छी भिलामा।
अरबी बलाजुर, हब्बुल, कल्ब।
फारसी बिलादुर।
तुर्की बलादुर आग।
इटालियन सेमिकार्पो द' ओरिएण्टे।
फ्रेंच नॉयक्स दे मारेस।
जर्मन तिन्तिन्बॉम। ·

अंग्रेजी में इसे मार्किंग नट ट्री कहते हैं क्योंकि भारत मे सभी जगह इसका रस अंकन स्याही के रूप में प्रयुक्त होता है।

औद्भिदी नाम : औद्भिदी (botany) के विद्वान् भिलावे को सेमेकार्पुस आनाकार्डियम (*Semecarpus anacardium* Linn. f.) कहते हैं। ग्रीक भाषा के सेमिओन (semeion) और कार्पोस (karpos) शब्दो में मिल कर सेमेकार्पुस शब्द बना है। सेमिओन का अर्थ है—चिह्न और कार्पस का अर्थ है फल। फल का रस पहले जमाने में क्षौम-वस्त्रों (लिनन) पर निशान लगाने के काम आता था। सेमेकार्पुस शब्द भिलावे के इसी गुण की ओर संकेत करता है। आनाकार्डिउम शब्द ग्रीक के आना (ana) और कार्डिया (kardia) शब्दो से मिल कर बना है। आना का अर्थ है 'के समान' और कार्डिया का अर्थ है 'हृदय'। इसलिए आनाकार्डियम का अर्थ हुआ 'हृदय के सदृश आकार वाला'।

संस्कृत के नाम : राजनिघण्टु, धन्वन्तरि निघण्टु, भावप्रकाश निघण्टु, मदन पाल निघण्टु और कैयदेव निघण्टु में भिलावे के क्रमशः सोलह, दस, आठ, नौ और दस पर्याय आये हैं। जामनगर से प्रकाशित चरक संहिता में इसके इकत्तीस नाम दिए हैं जिनमें से तेरह इन निघण्टुओं में नहीं आए। इन प्रसिद्ध निघण्टुओं के तेरह पर्याय जामनगर के चरक में संकलित नहीं किये गए।

संस्कृत नामों का अर्थ : परिचय बोधक नाम : धनु, धनुर्बीज, धनुर्वृक्ष (धनुष की तरह मुड़े हुए बीजों वाला वृक्ष), स्नेह बीज, तैल-बीज (बीजो में से स्निग्ध तैल निकलता है), पृथग्बीज, बीज पादप (उपयोगी बीजों वाला वृक्ष); शैल बीज (शिला के समान बीज काले तथा कठोर होते हैं)।

गुण प्रकाशक नाम : भल्लाक, भल्ली (भाले के घाव के समान व्रण पैदा कर देने वाला), शोफ कृत, स्फोट हेतु, व्रण कृत् (शोफ, स्फोट और व्रण पैदा कर देने वाला); अनल, अग्निक (मानो आग से भरा हुआ है); अग्नि मुखी (फल के मुख से अग्नि के

तालिका

राजनिघण्टु (12वी शती)	धन्वन्तरि निघण्टु (800 ईस्वी पश्चात् से पूर्व)	भावप्रकाश निघण्टु (1500 ईस्वी पश्चात्)	मदनपाल निघण्टु (1335 ईस्वी पश्चात्)	कैयदेव निघण्टु (1450 ईस्वी पश्चात्)	चरक (जामनगर), (1949) में संग्रहीत
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
1 भल्लात	1 भल्लात				1 भल्लात
2 भल्लातक	2 भल्लातक	1 भल्लातक	1 भल्लातक	1 भल्लातक	2 भल्लातक
					3 भल्लातकी
		2 भल्ली		2 भल्ली	4 भल्ली
					5 भल्लिका
3 अरुष्कर	3 अरुष्कर	3 अरुष्कर	2 अरुष्कर	3 अरुष्कर	6 अरुत्कर
	4 अरुष्क	4 अरुष्क		4 अरुष्क	
	5 अग्निमुख	5 अग्निमुखी	3 अग्निमुखी	5 अग्निमुखी	7 अग्निमुखी
	6 अग्निक	6 अग्निक			8 अग्निक
4 अग्नि					
			4 अग्निवक्त्रक		
5 वह्नि					9 वह्नि
					10 वह्निनामा
				6 अनल	11 अनल

(क्रमशः)

तालिका (क्रमशः)

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
7 तपन	7 तपन		5 तपन		12 तपन
8 दहन	8 दहन				
					13 निर्दहन
					14 महातीक्ष्ण
		7 वीरवृक्ष	6 वीरवृक्ष		15 वीरवृक्ष
	9 वीतरु				
9 वरतरु				7 वीरतरु	16 वीरतरु
			7 रूक्ष		
			8 नभोवल्ली		
	10 धनु		9 धनु		
10 धनुर्बीज					
					17 धनुर्वृक्ष
				8 दनु	
		8 शोफकृत्			
					18 शोफनुत्
					19 शोथहृत्
11 स्फोटबीजक				9 व्रणकृत्	20 व्रणकृत्
				10 स्फोटहेतु	21 स्फोटहेतु
					22 स्फोठबीजक

12 कृमिघ्न
13 वातारि

14 पृथग्बीज
15 बीजपादप
16 तैलबीज

23 भूतनाशक
24 कृमिघ्न
25 वातारि
26 रक्तहर
27 शैलबीज
28 पृथग्बीज
29 बीजपादप

31 स्नेह बीज
31 अन्तःसत्त्व

समान उग्र दाहक रस निकलता है), अग्नि वक्त्र (आग सदृश दाह पैदा करने वाला वक्र फल तपन तपाने वाला वृक्ष), वीरवृक्ष, वीरतरु (आत्मरक्षा के लिए आक्रान्ता को वीरता से हानि पहुंचाने वाला अरुष्क, अरुष्कर (व्रण कारक), दनु (दानव, राक्षस); रुक्ष (रुक्षता पैदा करने वाला), कृमिघ्न (कृमि नाशक), भूत नाशन (जीवाणुओं का नाशक)।

भल्लातक गण : भल्लातक (*Semecarpus* Linn. f.) गण (genus) में चालीस जातियां (species) हैं जो वृक्ष हैं। ये भारत और मलय देश में पैदा होते हैं। इनमें से केवल भिलावा (*Semecarpus anacardlun* Linn. f.) चिकित्सा में प्रयुक्त होता है।

औद्भिदी वर्णन : यह मध्यम आकार का वृक्ष है जिसमें से काले उग्र रस का निष्यन्दन होता है। इसकी छाल खुरदरी, गहरे रंग की होती है अनियमित टुकड़ों में उतरती रहती है।

पत्ते : बहुत बड़े 18-60 सेन्टीमीटर लम्बे तथा 10-30 सेन्टीमीटर चौड़े और शाखाओं के सिरों पर संकुलित होते हैं। पत्राग्र तथा पत्राधार गोल होते हैं। पत्तों का ऊपर का पृष्ठ चमकीला तथा निचला पृष्ठ सफ़ेद और प्रायःकर रोमकावृत रहता है। मुख्य नाड़ी के 15-25 जोड़े होते है। पत्रवृन्त 1.2 से 3.8 सेन्टीमीटर लम्बे होते हैं। फरवरी-मार्च मे पुराने पत्ते गिर जाते है। नये पत्ते मई में निकलते हैं।

फूल : भिलावे पर एकलिंगी तथा उभयलिंगी दोनो प्रकार के फूल लगते हैं जो प्रायःकर वृन्तविहीन होते है। फूल सफेद-पीले-हरे-से वर्ण के होते है। शाखाओ के सिरो पर रोमकावृत (pubescent) बड़े सयुक्त एकवर्ध्यक्ष (panicles) पर गुच्छो मे मई से सितम्बर तक खिलते रहते है। चार से पाच मिलीमीटर लम्बे, दो मिलीमीटर चौड़े पुष्पदलों (petals) की सख्या पाच होती है। डिम्बाशय घने रोमो से आवृत रहता है। नर पुष्प पृथक् वृक्ष पर लगते है। उभयलिंगी फूलो से ये छोटे होते है।

फल : अष्ठिफल (drupe) ढाई सेन्टीमीटर लम्बा, तिरछा मुड़ा हुआ, हृदयाकार, दोनो पार्श्वों से चपटा, चिकना, चमकदार, कच्ची अवस्था मे हरा और पकने पर काला होता है। कच्ची अवस्था में हरा तथा कठोर वृन्तफल (hypocarp) पकने पर नारंगी रंग के नरम गूदेदार फल मे परिणत हो जाता है। भिलावे की मूर्धा पर यह टोपी के रूप में चढ़ा होता है। दिसम्बर से मई तक फल पकते रहते हैं। इन दिनों वृक्ष पत्र विहीन रहता है। रुंड-मुंड शाखाओं के सिरो पर हरे, नारंगी, काले रंग के फूल गुच्छों में लटके होते हैं। पेड़ पर चढ़ कर शाखाओं के हिलाने से फल नीचे टपक पड़ते हैं।

बीज : बीज का आवरण या कवच दो पत्तरों (lamina) से मिल कर बना होता है। अन्दर की पत्तर कठोर होती है। बाहर की पत्तर इतनी कठोर न होकर चर्मश होती है। इन दोनो पत्तरों के बीच में वे कोष्ठ होते हैं जिनमें काला, दाहक उद्यासीय (resinous) रस रहता है जिसने भिलावे को चिरकाल से प्रसिद्ध कर रखा है। कच्चे

भिलावो मे यह रस हलके दूधिया रंग का होता है। पूर्णतया पक जाने पर काला हो जाता है।

गोंद : छाल में किये गये घावों से मैली दीखने वाली भूरी-सी मृदु गोंद प्राप्त होती है। यह मुख में रखने से धीरे-धीरे घुल जाती है। इसका कोई विशेष स्वाद नही होता।

अधिक फल प्राप्त करना : बहुत छोटी आयु मे ही यह वृक्ष फल देना शुरू कर देता है। एक वर्ष की आयु के स्थूल-प्ररोहो में लगे बीजों की परीक्षा की गई और उन्हे उचित पाया गया। दो-तीन वर्ष की आयु के स्थूण-प्ररोहों को खूब फल धारण करते हुए देखा गया है। इसलिए, यदि व्यापार मे फलों की मांग अधिक हो तो स्थूणवन-पद्धति से पैदा कर के मांग की पूर्ति के प्रयत्न किये जा सकते हैं।

स्थूण-वन : भिलावे के वृक्ष का स्थूणाकुरण अच्छा होता है। एक तथा दो वर्ष की आयु के स्थूण प्ररोहो के गोडा जिले मे 1911 में लिए गए नाप क्रमशः नब्बे सेन्टीमीटर और डेढ़ मीटर थे। भडारा (मध्य भारत) मे 1912-13 मे एक वर्ष की आयु के स्थूण प्ररोहों की औसत ऊंचाई 1.43 मीटर।

मौसम का प्रभाव : भिलावे के नये पौधे अधिकतर पाले को सहन नही कर पाते। परन्तु, पाले के बुरे प्रभाव से स्वस्थ होने की शक्ति इनमे अच्छी है। इस वृक्ष में छाया को सहन करने की क्षमता साधारण है, इसलिए इन्हें खुली जगहों पर रोपना चाहिए।

संग्रह करना : औषध के लिए उपयोगी उत्तम भिलावे वे हैं जो चोट खाये हुए न हों, कीड़ो से खाये हुए न हों रोग रहित न हों, रस तथा वीर्य से भरपूर हो और जिन मे पके हुए जामुन फलो जैसी चमक हो। भलीभाति पक जाने पर चैत्र या बैशाख महीने में इन्हे सग्रह कर जो के ढेर मे या उड़द के ढेर में रख देना चाहिए। चार महीने इसी तरह पड़ा रहने दें। फिर मार्गशीर्ष या पौष मे इनका प्रयोग आरम्भ करना चाहिए।

गुण : आयुर्वेद के लेखको ने भिलावे के वृन्त, फल, गुठली या मज्जा के गुणो को अलग-अलग प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त अनेक लेखक भिलावे के गुणो को सामान्य रूप से एकत्र दिखाते है। भिलावे के विविध अगो के गुण पृथक्-पृथक् दिखाने के साथ-साथ सामान्य रूप से भिलावे के गुण दिखाने का अभिप्राय सम्भवतः यह है कि ये गुण वृक्ष के पत्र, पुष्प, त्वक् फल आदि प्रायः सभी अंगो मे विद्यमान है। सस्कृत लेखको के अनुसार ही हम इस प्रकरण मे पहले भिलावे के समस्त अंगों के सामान्य गुण और तत्पश्चात् प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् गुण दे रहे है।

सामान्य गुण : यह कषाय तथा मधुर रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण वीर्य, वाजीकर, वीर्यवर्धक, लघुपाक, कटु, दीपन, ग्राही, स्वेदजनन, अनुलोमन, यकृद् उत्तेजक, मूत्रजनन, चेतासंहति (nervous system) के लिए उद्दीपक, रक्ताभिसरण करने वाला, श्लेष्म निस्सारक, रस ग्रंथियो के लिए उत्तेजक, आमनाशक, रक्त के श्वेत कणों को

वाला और रसायन है। वातकफ, अफारा, अग्निमान्द्य, संग्रहणी, गुल्म आदि उदररोग, सफ़ेद कुष्ठ, त्वचा के विविध रोग, बवासीर, शोथ, कास, ज्वर, कृमियों द्वारा उत्पन्न विविध रोग और व्रणो को यह ठीक करता है। सुश्रुत की सम्मति से यह रक्तपित्तहर है और शरीर में दाह को शान्त करता है। कैयदेव (1450 ईस्वी पश्चात्) ने भी इसे शीतल बताया है। धन्वन्तरि भावमिश्र (1500 ईस्वी पश्चात्) तथा मदनपाल (1365 ईस्वी पश्चात्) ने इसे वातश्लेष्मनाशक और नरहरि (12वीं शती) ने कफवातनाशक बताया है। कैयदेव इसे पित्तकफ का नाशक और वायु कारक बताते है। नरहरि ने इसे मूत्र तथा प्रजनन सहति के रोगो (मेह) को दूर करने वाला भी माना है।

फल के गुण : भिलावे का पका फल विपाक मे मधुर-कषाय तथा कटु रस युक्त तीक्ष्ण, स्निग्ध, उष्ण वीर्य, लघु जठराग्नि को उद्दीप्त करने वाला, भोजन को पचाने वाला, अफारे को दूर करने वाला, ग्रहणी, वायुगोला (गुल्म) आदि उदररोगो को नष्ट करने वाला है। यह मल का भेदन करता है। जमे हुए दागों को उखाड़ कर निकाल देता है। धारणा शक्ति को बढ़ाता है। ज्वर, शोफ, ऐंठन (उदावर्त), मूत्र तथा उत्पादक सहति के रोग (प्रमेह) बवासीर, कृमि, त्वचा के विविध रोग, व्रण तथा कफ और वात के रोगों को नष्ट करता है। नरहरि ने भिलावे के फल को कुछ गरम बताया है। उनके अनुसार यह श्रमहर, मलबन्ध निवारक तथा श्वास के कष्टो को दूर करने वाला है।

गुठली की गिरी : भिलावे की गुठली की मींगी मधुर रस युक्त, धातुओं को पुष्ट करने वाला पौरुष बढ़ाने वाली तथा वात और पित्त को दूर करने वाली है। चरक ने गुठली को अग्नि के समान तीक्ष्ण बताया है। कैयदेव ने गुठली के गुण विस्तार से लिखे है। उनके अनुसार यह मधुर, किञ्चित् कसैली, कटुपाक रस, तीक्ष्ण, गरम, स्निग्ध, दोषों का छेदन करने वाला, मलो का भेदन करने वाली, अग्निदीपक, पाचक, अफारा उतारने वाला, गुल्म, ग्रहणी और पेट के रोगों का निवारण करने वाली, ज्वरनाशक, कृमिनाशक, व्रण को ठीक करने वाली, कुष्ठ, शोफ और अर्श मे हितकर, कफ और वात के विकारों को दूर करने वाली और मेधाजनक है। नरहरि इसे शारीरिक क्षीणता और दाह को शान्त करने वाला तथा अरुचि दूर करने वाली मानते है।

वृन्त फल के गुण : फल नीचे का वृन्त मोटा, फूला हुआ और गूदेदार होने से फल के समान दीखता है। अन्य फलों के समान इन वृन्तों को खाया जाता है। चरक, भाव मिश्र, राज वल्लभ आदि लेखकों ने इसके गुण इस प्रकार बताये हैं—यह स्वादिष्ट है, मिठास के साथ इसमे कुछ कसैलापन भी रहता है। यह शरीर मे बल और शीतलता पहुंचाता है। शुक्र बढ़ाता है। राजवल्लभ और कैयदेव इसे देर से पकने वाला, उदर मे गुड़गुड़ाहट पैदा करने वाला मानते है। राज वल्लभ इसे वात को प्रकुपित करने वाला और रक्तपित्त प्रकोपक समझते है। भाव मिश्र का अनुभव इससे भिन्न है। वे इसे पित्त-नाशक, जठराग्नि को बढ़ाने वाला और बालो के लिए हितकर भी मानते हैं। कैयदेव ने

भल्लातक फल के नाम से जिसके गुण लिखे हैं वह वृन्त फल प्रतीत होता है। वे इसे रुक्ष और रक्तपित्तनाशक बताते है।

अमृत कल्प : महर्षि चरक कहते है कि भिलावे यद्यपि अग्नि के समान बहुत तीक्ष्ण प्रभाव करने वाले हैं और शरीर को पका तक डालते हैं परन्तु विधिपूर्वक प्रयुक्त किये जाएं तो ये अमृत का कार्य करते हैं और मेधा को बढाते है। भिलावा शीघ्र ही, सामान्य रक्त संचार में मिल कर शरीर के सब अवयवो के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। थोड़ी मात्रा में लेते रहने से यह चयापचय (मेटाबौलिज्म) की प्रक्रिया को सुधारता है जिससे यह रसायन द्रव कहा जाता है। अगस्त्य मुनि द्वारा कल्पित अमृतभल्लातक नामक निर्मिति की उपयोगिता दिखाते हुए गोविन्ददास ने इसे असाधारण मेधाजनक और सिंह के समान तेजस्वी बनाने वाला बताया है। अमृत भल्लातक रसायन के सेवन से बुद्धि का सब विषयों में अव्याहत प्रवेश हो जाता है। अल्प बुद्धि वाला मनुष्य भी इस का विधिवत् सेवन करने से विशाल ग्रंथो को पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, विशाल ग्रंथों में वर्णित पुनरुक्ति दोषो को वह झट पकड़ लेता है। इस रसायन की कृपा से मनुष्य बृहस्पति से भी अधिक बुद्धि सम्पन्न हो जाता है। यह सब रसायनो का राजा है और सेवन करने वाले को दीर्घायु बनाता है। इस रसायन के सेवी की इन्द्रियां ऐसी हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी दीखती है जैसे कि सोने के ढेर से बनी मूर्ति चमक रही हो। गिरे हुए दांत फिर निकल आते है। स्वर भौरों की मीठी बोली को मात करने लगता है। बल मे वह हाथियो को पछाड़ देता है। घोड़े उसके वेग से मुकाबला नही कर सकते। इस रसायन को बनाने की विधि यहां दी जाती है।

अमृत भल्लातक : वृक्ष पर से तोड कर इकट्ठे किये हुए ताजे पके भिलावे 5 696 ग्राम ले कर ईंट के चूर्ण से रगड़ कर जल से धो लें और सुखा लें। सूख जाने पर प्रत्येक भिलावे के दो टुकडे कर के 25.500 लिटर पानी मे पकाएं। चौथाई (6.375 लिटर) पानी शेष रहने पर आग देनी बन्द मर दें। ठण्डा होने पर छान लें। इसे 6.375 लिटर दूध में पकाएं। खौंचे से चलाते जाएं। चौथाई शेष रहने पर उतार लें। इसे 6 375 लिटर घी में हलकी आंच पर भूनें। 3.125 किलोग्राम खाड मिला कर सात रात पड़ा रहने दें। रखे रहने पर भी इस में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं जिससे औषध अधिक वीर्यवान् बन जाती है।

मात्रा : दस से बारह ग्राम।

सेवन विधि : प्रात.काल शुद्ध होकर सन्ध्या-वन्दना आदि करने के बाद शरीर के बल के अनुसार योग्य मात्रा में इसे खाना खाहिए।

पथ्य : इस रसायन के निर्माता अगस्त्य ऋषि की सम्मति में अमृत भल्लातक का सेवन करते हुए कुछ विशेष परिहार्य नही है। देशाटन में जब धूप आदि में भी चलना पड़ता है तब इस रसायम का सेवन किया जा सकता है। इसी तरह खान-पान में और

मैथुन में भी कुछ त्याज्य नहीं है। अपनी प्रवृति और आवश्यकतानुसार आहार-विहार करना चाहिए।

रसायन : रसायन के रूप में सुश्रुत ने भिलावे का प्रयोग किया है। व्रणों में भिलावे की उपयोगिता को दिखाते हुए हमने जो प्रयोग दिया है उस विधि के द्वारा भिलावे से चुआये हुए तेल को प्रातःकाल एक तोले तक की मात्रा में सेवन किया जा सकता है। मुखगह्वर और ओठों को पहले घी से आसिक्त कर लेना चाहिए। औषध पच जाने पर दोपहर को घी और दूध के साथ चावल खाने चाहिए।

भिलावे की मज्जा से निकाले तेल को भी सुश्रुत बहुत उपयोगी रसायन मानते हैं। वे कहते हैं कि वमन-विरेचन आदि से शरीर शुद्ध कर के, पेया-विलेपी आदि का क्रम सेवन कर के बल के अनुसार आधा पल से दो पल तक मज्जा का तेल पी लें। ऐसे मकान में रहे जहां बहुत तेज हवाओं के झोंके व्यथित न करते हों। स्नेह के पच जाने पर दूध, घी और चावल खाये। एक मास तक इसी विधि से स्नेह का सेवन करे। उसके बाद स्नेह तो बन्द कर दे परन्तु भोजनो में उसी तरह दूध, घी और चावल खा कर तीन मास तक रहे।

इस प्रयोग से मनुष्य सब रोगों से मुक्त हो जाता है, बलवान् बनता है, उसका रंग निखर जाता है, सुनने की शक्ति बढ जाती है उसकी बुद्धि विषयों को झट ग्रहण कर लेती है और उसकी धारणा-शक्ति बढ़ जाती है। यदि वह स्वास्थ्य के नियमों पालन करता हुआ जीवन बिताए तो एक मास के स्नेह प्रयोग से सौ साल की आयु प्राप्त कर लेता है। सुश्रुत ने तो इसके लाभो का अतिशयोक्ति से बखान करते हुए यहां तक लिख दिया है कि हर सौ बरस मे यदि एक बार यह प्रयोग कर लिया जाए तो दस बार अर्थात् दस मास के प्रयोग से एक हजार वर्ष की आयु हो जाती है। (सुश्रुत, अर्श चिकित्सिक अध्याय 6, 18)

चरक ने एक हजार भिलावों के प्रयोग का वर्णन रसायन के लिए किया है। वे रोगी को पहले कुछ दिनों तक स्निग्ध, मधुर और शीतल आहार पर रख कर शरीर का संस्कार कर लेते हैं। तब, निम्नलिखित विधि से सेवन कराते हैं :

प्रारम्भ में दस भिलावो को कुचल कर आठ गुणे जल मे अच्छी तरह पकाएं। आठवां भाग पानी बचने पर छान लें। गाय के दूध के साथ इस कषाय को पी लें। पीने से पूर्व मुख को अन्दर से गाय के घी के द्वारा आलिप्त कर लें। इसके लिए एक घूंट घी पी लिया जाता है। दस भिलावे से आरम्भ कर के प्रतिदिन एक-एक भिलावा बढाते हुए तीस की संख्या तक आ जाएं। तीस भिलावे से अधिक का प्रयोग निषिद्ध है। उसके बाद एक-एक भिलावा घटाते हुए दस तक पहुंच जाएं। इस प्रकार एक हजार भिलावों का प्रयोग करें। इस से अधिक भिलावों का सेवन नही करना चाहिए।

प्रातः सेवन किया हुआ यह रसायन जब पच जाय तो शालि या साठी के चावलों में घी और दूध डाल कर खाएं। प्रयोग के पश्चात् कुछ दिनों तक दिन मे दो बार दूध

अवश्य पीना चाहिए। इसके प्रयोग से पुरुष बुढ़ापे के प्रभावों से बचा रह कर सौ बरस तक जीवन का आनन्द उठाता है। (चरक, चिकित्सितस्थान 1, प्राणकामीय रसायनपाद 2; 13)।

उष्ण प्रकृति वाले व्यक्तियों को तथा उष्णकाल में व पैत्तिककाल में इस भल्लातकक्षीर का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अष्टाग संग्रह (626 ईस्वी पश्चात्) के टीकाकार इन्दु के मतानुसार इस प्रयोग का विधान इस प्रकार है : प्रथम दिन दस भिलावे, दूसरे दिन ग्यारह तथा तीसरे दिन बारह। इस प्रकार प्रतिदिन एक बढ़ाते हुए बीसवें दिन उनत्तीस भिलावों का प्रयोग होता है। इनको एकत्र गणना करने से बीसवें दिन तक तीन सौ नब्बे भिलावे सेवन किये जा चुके होते हैं। इक्कीसवें दिन तीस भिलावे। तीस भिलावों से अधिक प्रयोग कराने का निषेध है और हजार संख्या पूर्ण होनी चाहिए। अत: सत्ताइसवें दिन तक प्रतिदिन तीस-तीस भिलावों का प्रयोग कराएं। अट्ठाईसवें दिन उनत्तीस भिलावे उनत्तीसवें दिन अट्ठाईस और तीसवें दिन सत्ताईस। इस प्रकार क्रमश: एक-एक घटाते जाएं तो सैंतालीसवें और अडतालीसवें दिन भी दस-दस भिलावों का प्रयोग होगा। इस प्रकार 390+210+390+10 =1000 भिलावे पूर्ण हो जाते हैं।

प्रतिदिन लगातार एक भिलावे की बढ़ती और पुन: क्रमश: एक की घटती करने पर एक हजार की संख्या पूरी नहीं होती। बीसवें दिन तक क्रमश: एक-एक बढ़ाने से 390 भिलावे होते हैं। इक्कीसवें दिन तीस। इसके बाद बीस दिन तक क्रमश: घटाने से 41 वें दिन दस का प्रयोग होता है। इन बीस दिनों के भी 390 होते हैं। इसके पश्चात् क्रमश: बढ़ाते हुए 53वें दिन बाईस भिलावों का प्रयोग होता है। इन बारह दिनों के भिलावों की संख्या 198 होती है। अत: कुल मिला कर 390+30+390+198=1008 संख्या होती है। इस प्रकार यह क्रम भी पूर्ण नहीं होता और इसमें आठ भिलावे अधिक भी हैं। यदि इस क्रम में बाईसवें दिन भी तीस भिलावों का प्रयोग हो तो 42वें दिन पुन: दस दस भिलावों के प्रयोग की बारी आयेगी और यदि पुन: 43वें दिन भी दस का ही प्रयोग कराया जाय तो पुन: बढ़ाते हुए 53वें दिन दस भिलावों का प्रयोग होगा। इन दस दिनों के भिलावों की संख्या का योग 155 होता है। इस प्रकार कुल मिला कर 390+30+30+390+10+155 =1005 भिलावे होते हैं। इसमें भी पूर्ववत् क्रम पूर्ण नहीं होता और पांच भिलावों का प्रयोग अधिक होता है।

अष्टाग संग्रह के अनुसार भल्लातक प्रयोग के पश्चात् जितने काल तक भल्लातक प्रयोग किया गया है उससे तिगुने काल पीछे तक दूध और शालि व साठी के चावलों का आहार करना चाहिए।

आजकल के क्षीणबल व्यक्तियों के लिए भिलावे को इन मात्रा में देना व्यवहार्य नहीं है। इतनी बड़ी मात्राओं में वे भिलावे को सहन नहीं कर सकेंगे। उनके बल के अनुसार अल्पमात्राओं में, साधारणतया 121 से 364 मिलिग्राम की मात्राओं में, भिलावा

देना हितकर होगा।

भल्लातक क्षौद्र : भिलावों के छोटे-छोटे टुकड़े कर के एक घड़े में भर दें। घड़े के तल मे छेद हो। भूमि में एक गड्ढा खोद कर उसमें एक अन्य घड़ा रख दें। इस घड़े के अन्दर की सतह चिकनी हो और उस पर घी का लेप कर दिया गया हो। इसकी पेंदी में छिद्र नही होना चाहिए। इसके ऊपर भिलावों का घड़ा इस प्रकार टिका दें कि पेंदी का छिद्र निचले घड़े के मुख के ऊपर ही रहे। दोनों की सन्धि को कपड़े-मिट्टी से बन्द कर दें। निचले घड़े के चारो ओर के गड्ढे को मिट्टी से भर कर स्थिर कर दें। ऊपर के घड़े के मुख पर मिट्टी की तश्तरी रखकर कपड़-मिट्टी कर दें। इस घड़े को बाहर से चिकनी काली मिट्टी के द्वारा लीप दें। अब इसके चारो ओर गौ के उपले चिन कर आग लगा दें। गरमी के प्रभाव से भिलावो का रस व तेल चू-चू कर निचले घड़े में टपकता जायगा। आग शान्त हो जाने पर भिलावे के रस को निकाल लें, रस से दुगुना घी और आठवां भाग शहद मिलाएं।

एक से दो बूंद की मात्रा मे इस भल्लातक क्षौद्र निर्मिति की रसायन का लाभ चाहने वाले सेवन करें। अन्य रसायनों के समान ही चरक ने इसके लाभ लिखे हैं और इसे सेवन करने वाले को सौ बरस तक बुढ़ापा नही सताता।

भल्लातक तैल : भल्लातक क्षौद्र में प्रतिपादित विधि से निकाला हुआ भिलावे का तेल 11.936 लिटर लें। इसे अडतालीस लिटर गौ के दूध में मिलाएं। 24 ग्राम मुलहठी का कल्क डाल कर विधि पूर्वक तेल पकाएं। इस तेल में फिर उतना ही दूध और मुलहठी का कल्क डाल कर तेल पकाएं। इस तरह सौ बार तेल को पकाएं। इसके गुण और प्रयोग भल्लातक क्षौद्र के समान है।

भल्लातक घृत प्राश : डाल पर पक कर पुष्ट हुए और स्वत: ही टपके हुए 5.916 किलोग्राम भिलावो को ईंटों के चूरे में रगड़ें। पानी से धो कर छाया में सुखा लें। इनके छोटे-छोटे टुकड़े कर पच्चीस लिटर पानी में पकाएं। चौथाई पानी बचने पर कपड़े में छान लें। इसमें पच्चीस लिटर गौ का दूध और 5.916 किलोग्राम गाय का घी मिला कर पकाएं। पानी का अंश उड़ जाने पर घी को छान लें। इसमें आधा भाग खांड डाल कर घी का लेप की हुई हांडी में रख दें। सात दिन तक धान के ढेर में इसे गाड़ रखें।

मात्रा : आधा ग्राम।

निर्देश : वाग्भट कहते हैं कि इसके सेवन से व्यक्ति स्मृति, बुद्धि, मेधा, बल तथा सत्त्व से युक्त होता है। उसके शरीर का रंग निर्मल और गौर हो जाता है। वह दीर्घ आयु को प्राप्त करता है।

अनुपात : पानी, दूध, मांस रस या यूप।

भल्लातक विधान : जैसे भल्लातक क्षीर, भल्लातक क्षौद्र और भल्लातक तेल का प्रयोग बताया है उसी प्रकार गुड भल्लातक, भल्लातक यूप, भल्लातक घृत, भल्लातक

पलल, भल्लातक शक्तु, भल्लातक लवण और भल्लातक तर्पण के प्रयोग का विधान है। जब भिलावे को गुड़ के साथ मिला कर प्रयोग करायेंगे तो उसका नाम गुड़ भल्लातक होगा। इसे भल्लातक क्षौद्र के समान ही समझना चाहिए। भल्लातक यूष को भल्लातक क्षीर की तरह समझना चाहिए। यहां दूध के स्थान पर यूष का प्रयोग किया जायगा। भल्लातक सर्पि को भल्लातक तेल के सदृश समझें। यहां कृष्ण तिलों के तेल के स्थान पर गौ के घी से पाक किया जायगा। भल्लातक पलल में भिलावे और तिलों के कल्क को मिला कर प्रयोग किया जाता है। भिलावे और जौ के सत्तू मिला कर प्रयोग के विधान को भल्लातक शक्तु कहते हैं। भिलावे और सेंधा नमक का एकत्र प्रयोग किया जाय तो भल्लातक लवण कहाता है। भिलावे लाजा के सत्तुओं के एक साथ प्रयोग को भल्लातक तर्पण कहते हैं।

महाभल्लातक गुड़ : नीम की छाल, श्यामालता, अतीस, कुटकी, त्रायमाणा, त्रिफला, नागर मोथा, पित्त पापड़ा, वाकुची, अनन्त मूल, वच, खैर का अन्त.काष्ठ, लाल चन्दन, पाठा, सोंठ, कचूर, भारंगी, बांसे की छाल, चिरायता, कुटज की छाल, गिलोय, बकायन की छाल, विधारा मूल, इन्द्रायण की जड़, मूर्वामूल, वायविडंग, इन्द्रजौ, मीठा विष, चित्रक की जड़, हस्तिकर्ण पलाश की छाल, गिलोय, बकायन की छाल, पटोलपत्र, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, अमलतास की फली का गूदा, सप्तपर्ण की छाल, कृष्णवेत्र, रत्तियां, जिमिकन्द, तृणपर्ण, मंजीठ, पनवाड़ के बीज, मुसली, प्रियंगु, कट्फल की छाल, शरपंख, खिरनी वृक्ष की छाल, प्रत्येक 185 ग्राम ले कर यवकुट कर लें। इसे 40 लिटर पानी में पकाएं। 16 लिटर काढ़ा बन जाने पर उतार लें। छान कर रख लें। इसके बाद तीन हजार शुद्ध भिलावों के दो-दो टुकड़े करके 40 लिटर पानी में 13 लिटर शेष रहने तक पकाएं। छान कर पहले बनाये काढ़े में मिला दें। इसमें 9.500 किलोग्राम गुड़ मिला कर स्वच्छ चाशनी बन जाने पर एक हजार भिलावों की मज्जा डाल कर पकाएं। जब गाढ़ा होने लगे तो निम्नलिखित प्रक्षेप द्रव्यों का चूर्ण मिला कर उतार लें—त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला की गुठलियां निकाल कर), नागर मोथा सेन्धा नमक, अजवायन प्रत्येक 96 ग्राम, दालचीनी, तेजपत्र, छोटी इलायची, नागकेसर प्रत्येक 24 ग्राम, शुद्ध गन्धक का चूर्ण 48 ग्राम। चिकने मर्तबान में ढक कर रख दें।

मात्रा : छह से बारह ग्राम तक।

अनुपान : गिलोय का काढ़ा या दूध।

पथ्य : महादेव द्वारा निर्मित इस रसायन का सेवन करते हुए सदा गरम भोजन करना चाहिए। (भैषज्य रत्नावली, कुष्टाधिकार; 24)

भल्लातक मोदक : हरड़, बहेड़ा और आंवले का गुठली रहित चूर्ण 465 ग्राम, विडंग 650 ग्राम, लोहभस्म 190 ग्राम, शुद्ध भिलावे गंस्या में गो, बावची 930 ग्राम, शिलाजीत 48 ग्राम, शुद्ध गुग्गुलु 190 ग्राम, पोहकर मूल 95 ग्राम, त्रिवृत 48 ग्राम,

चित्रक की जड़, काली मिरच, पिप्पली, सोंठ, दालचीनी, तेजपत्र, केसर, मोथा प्रत्येक 48 ग्राम। कूट कर चूर्ण बनाएं। सबके समान पिसी हुई चीनी मिलाएं।

मात्रा : एक से दो ग्राम।

सेवन विधि : प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करें और यथेष्ठ भोजन करें।

भल्लातक घृत : शुद्ध भिलावे 190 ग्राम, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, गोखरू प्रत्येक 95 ग्राम को 12 लिटर पानी में पकाएं। तीन लिटर बचने पर काढ़े को छान लें। इसे तीन लिटर दूध और तीन किलोग्राम घी में मिलाएं। पिप्पली, सोंठ, वचा, वायविडंग, सेन्धानमक, हींग, यवक्षार, बिडनमक, कचूर, चित्रक, मुलहठी, रास्ना प्रत्येक चौबीस ग्राम का कल्क बना कर उपर्युक्त द्रव्यों में मिला दें। विधिपूर्वक पका कर घी बना लें।

मात्रा : तीन से छह ग्राम तक।

निर्देश : तिल्ली के रोग, पाण्डु, खांसी और सांस के कष्ट, ग्रहणी के विकार, *गुल्म तथा कफगुल्म आदि रोगों में इसे दिया जाता है।*

नारसिंह चूर्ण : शतावरी गोखरू 640 ग्राम, वराही कन्द 4 6 किलोग्राम, गिलोय 1.2 किलोग्राम, शुद्ध भिलावा 1.490 किलोग्राम, चित्रक की जड़ 465 ग्राम, तिल 640 ग्राम, दालचीनी 130 ग्राम, तेजपत्र 130 ग्राम, छोटी इलायची के दाने 130 ग्राम, शर्करा 3.35 किलोग्राम, विदारी कन्द 740 ग्राम, कूट-छान कर चूर्ण बना लें।

मात्रा : आधे से एक माशा।

निम्नलिखित निर्मितियों में भिलावा एक घटक है : धान्वन्तर घृत (भैषज्य रत्नावली, प्रमेहाधिकार, 73-80), अमृतांकुर लोह (भैषज्य रत्नावली, कुष्ठाधिकार, 244-253)।

उपयोगी भाग : कैयदेव (1450 इस्वी पश्चात्) ने भिलावे के निम्नलिखित *भागों की चिकित्सोपयोगी पदार्थों में गणना की है :* वृक्ष की छाल, फूल, फल का छिलका, फल का गूंदा, छाल का वृन्त (निबन्धन)। जड़ की छाल का रस भी अपने उग्र गुणों के कारण भेषज रूप में काम आता है।

संघटन : फलभित्ति (pericarp) में एक उग्र, तिक्त, अत्यधिक ग्राही रस भी लगभग बत्तीस प्रति शत रहता है। अभिनव होने पर यह बभ्रु वर्ण और तैलीय होता है। *हवा में खुला पड़ा रहने पर इसका रंग बदल कर काला पड़ जाता है।*

भिलावे के दाहक रस की रचना उदासीय धूपियास (रेज़िनस बालसम) सदृश है। इसलिए रौक्सबर्घ (1874) आदि लेखकों ने भल्लातक रस को उदासीय धूपियास नाम दिया है। यह पानी में नहीं घुलता, केवल अगूरी शराब मे विलीन होता है।

भिलावे को कुचल कर पानी में उबालने से एक गहरा भूरा तेल बत्तीस प्रति शत निकाला जाता है। इस तेल मे भी भिलावे के रस के उग्र गुण विद्यमान रहते हैं। यह तेल काजू के उद्स्फोटी तल से बहुत अधिक समानधर्मा है।

भिलावे के रासायनिक संघटन के सम्बन्ध में बहुत कम व्यवस्थित कार्य हुआ है। आरम्भ के अन्वेषकों ने बताया था कि फलभित्ति (pericarp) के काले संक्षारी (corrosive) रस में एक विराल सदृश (tarry) तैल होता है जिसमें एनाकार्डिक अम्ल (anacardic acid) नामक एक जाराम्ल (oxy-acid) नब्बे प्रति शत और कार्डोल (cardol) नामक एक उच्चतर अनुत्पत सुपव (nonvolatile alcohol) दस प्रति शत रहता है।

नायडू (जर्नल, इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ साइन्स, जिल्द 8, पृष्ठ 129, 1925) ने खदिरव (catechol) और एकोदजार दर्शव (mono-hydroxy phenol) पृथक् किये। एकोदजार दर्शव को उन्होंने एनाकार्डोल (anacardol) नाम दिया। इनके अतिरिक्त उन्होने दृढफल (nut) की गुठली से दो दार्शविक अम्ल (phenolic acids) और एक स्थायी तैल निकाला।

बाद में, पिल्ले और सिद्दीकी (1931) ने भिलावे के संघटन का अध्ययन किया। पहले के अन्वेषको के प्रतिवेदन के अनुसार वे न तो एनाकार्डिक एसिड या कार्डोल या खदिरव और न ही एनाकार्डोल निकालने मे समर्थ हो सके। फलभित्ति रस से निम्न-लिखित संघटक पृथक् करने में उन्हे सफलता मिली :

1 एक एकोदजार दर्शव (mono-hydroxy phenol) जो निस्सार (extract) का 0.1 प्रति शत बनता है। इसका नाम सेमिकार्पोल (semecarpol) रखा गया। इसका बुदबुदांक (boiling pont) 185-90° है। 25° से नीचे यह एक स्निग्ध पुञ्ज (fatty mass) के रूप में जम जाता है।

2 एक ओ-डिहाइड्रोक्सि समास जो निस्सार का लगभग छियालीस प्रति शत बनता है। दृढ़फल (nut) का यह लगभग पन्द्रह प्रति शत बैठता है। इसको भिलावा-नोल (bhilawanol) नाम दिया गया है। यह 225-226° पर आसुत (distilled) होता है और 5° के नीचे जम जाता है।

3 एक विराल सदृश (tarry), अनुत्पत संक्षारी (nonvolatile corrosive) अवशेष जो दृढ़फल (nut) का लगभग अठारह प्रति शत निकला।

उपयोग : इस वृक्ष की लकड़ी काम में नही लाई जाती। इसका मुख्य कारण यह है कि पातन के समय इसकी छाल में से जो कृष्ण वर्ग दाहक रस निकलता है वह छाले डाल देता है। जड़ की छाल में भी उसी प्रकार के उद्स्फोटी पदार्थ विद्यमान होते हैं।

भिलावे के चौड़े पत्ते पत्तलों के काम आते है। जंगलों में काम करने वाले लोग पत्तों पर खिचड़ी और भोजन परोसते हैं। ऐसे उपयोग में पत्ते बुरा प्रभाव करते हुए नही देखे गये।

निशान लगाने की स्याही : भिलावे का फल भारत में सर्वत्र व्यापक रूप से निशान लगाने की स्याही (अंकन मसी) के रूप में बरता जाता है। फल के सिरे मे सूराख कर के धोबी लोग उसमे सूई डाल देते हैं। सुई पर रस लग जाता है उससे कपड़ो

पर निशान लगा देते हैं। ये निशान पक्के होते हैं जो कपड़ों को भट्टी पर चढ़ाने से भी नहीं उतरते।

अंकन मसी (marking ink) बनाने की एक विधि में भिलावे के रस को चूने के पानी या दह चूर्णक (कौस्टिक लाइम) के साथ मिला लेते हैं। चूना रंगस्थापक का कार्य करता है। यह अमिट स्याही पानी में तो बिलकुल नहीं उतरती, परन्तु तीव्र क्षारक (एल्कली) के उपचार के बाद सुषव (एल्कोहल) में धोने पर उतर जाती है।

छाल मामूली-सी ग्राही (astringent) है। काढ़ा बनाने पर यह गूढ़ा रंग देती है जो विभिन्न छायाओं के भूरे वर्ण में रंगती है। हाथियों के पैरों को चोवने के लिए बरती जाने वाली निर्मितियों में महावत भिलावे को भी डालते हैं।

वार्निशों में : भिलावे के रस को ऐसे पदार्थों में परिणत किया जा सकता है जिनमें छाले डालने का धर्म न रहे। फिर उनसे व्यापारिक पैमाने पर प्रलाक्ष (lacquers), लाक्षी (वार्निश), आकाच (इनेमल्स), अर्द्ध सांश्लेषिक शल्की पदार्थ (सेमी-सिन्थेटिक टैनिंग मैटीरियल्स) और संचकन अभिघट्य (मोल्डिंग प्लास्टिक्स) बनाये जा सकते हैं। छाला न डालने वाली इन उपजों को धूपि क्षेप्य (रबर वेस्ट) से मिला कर कठोर, अर्द्धकठोर और मृदु धूपि वस्तुएं (रबर गुड्स) बनाई जा सकती हैं। तने से निकला हुआ आलग (viscid) रस यद्यपि प्रबल संतापक और उद्स्फोटन है परन्तु उसे भी लाक्षी (वार्निश) में परिणत किया जा सकता है। बीज में से भी एक तेल निकलता है जो दीमकों के हमलों से बचने के लिए परिरक्षी (प्रिज़र्वेटिव) के रूप में काम आता है। बैलगाड़ियों के लकड़ी के धुरों के लिए उपस्नेहन द्रव्य (लुब्रिकैण्ट) के रूप में बीज के *तेल का प्रयोग किया जाता है।*

हरे दृढ़फलों (nuts) को कूट कर बनाया हुआ गूदा अच्छे चूने (lime) का काम करता है।

आहार द्रव्य : वृन्तफल या गूदेदार ग्राह (fleshy receptacle) जिस पर बीज टिका रहता है, खाया जाता है। यह स्वादिष्ट मधुर होता है, इसकी मिठास में ज़रा-सा कसैला ग्राही (astringent) स्वाद रहता है जो जीभ पर कुछ देर बना रहता है। भूनने से इसका स्वाद उन्नत हो जाता है। आदिवासी इसे गरम राख में दबा कर भून लेते हैं और चाव से खाते हैं। इसका स्वाद भुने हुए सेव से बहुत अधिक मिलता है।

बीज की गिरी भी खाने के काम आ सकती है परन्तु उसे खाने का इतना प्रचलन नहीं है। यह मींगी पुष्टिकारक मानी जाती है और बंगाल में सन्देश प्रभृति मिठाइयों *में बादाम की तरह व्यवहृत होती है।* इसमें से एक मीठा तेल निष्पीड़न किया जाता है जिसमें छाले डालने का गुण नहीं होता।

मात्रा सेवन विधि : डिमक (1890-93) के समय भारतीय वैद्य एक भिलावे के रस को 250 मिलीलिटर दूध में मिला कर पिला देते थे। यह इसकी साधारण मात्रा समझी जाती थी। यूनानी लेखक भैषजीय मात्रा के रूप में 728 से 1455 मिलीग्राम रस

किसी तेल में या घी में देते थे। कनाई लाल दे (1896) के अनुसार भिलावे के उग्ररस और उद्स्फोटी तेल की मात्रा एक से दो बूंद है। जैतून, बादाम या किसी अन्य तेल में हल कर के इसे दिया जाता है।

शोधन : हानिप्रद प्रभावों को दूर करने के लिए वैद्य और हकीम लोग भिलावे को शुद्ध कर के प्रयोग करते हैं। शोधन के लिए भिलावो के टुकडे कर के खरल में ईंट के छोटे-छोटे कंकरों के साथ रगड़ते हैं। फिर कंकरो में से निकाल कर इन्हे नारियल के पानी, दूध व साधारण पानी में ज़रा उबालते है। साधारण शुद्धि के लिए तो भिलावे के टुकड़ों को पानी में उबाल कर उसे पानी से धो डालते हैं। अधिक मात्रा में शुद्धि करनी हो तो भिलावे के खंडो को ईंट के टुकड़ों के साथ बोरी मे भर कर रगडते हैं।

गर्भपात के लिए : भ्रूण-हत्या कराने के उद्देश्य से भिलावे की गुठली को पीस कर गर्भाशय के मुख पर लेप करते है। वैडल (लौयन्स मेडिकल जूरिसप्रुडेन्स फ़ौर इण्डिया, 1928) ने एक ऐसे अभियोग का अभिलेख किया है जिसमें एक मनुष्य ने अपनी पत्नी को दुश्चरित्रता का दण्ड देने के लिए उसकी योनि में तीन भिलावे पीस कर रख दिए थे।

विषालुता : अनेक देहातियों ने मुझे बताया है कि भिलावे के पेड़ के नीचे बरसात में बैठना या सोना हानिकर है। उनका विश्वास है कि वृक्ष के ऊपर से हो कर नीचे टपकने वाला पानी या रस शरीर पर पड़ जाये तो शोथ पैदा कर देता है। इसी प्रकार वे कहते हैं कि इस वृक्ष से विषैले वाष्प उठते है। वाष्पों से सम्भवतः उनका अभिप्राय परागधूलि से है। वनौषधियो के गुणों का प्रतिपादन करने वाले एक सस्कृत लेखक कैयदेव (1450 ईस्वी पश्चात्) ने भिलावे के फूल की पराग-धूलि को बड़ा भयानक बताया है। उनके अनुसार 'पुष्पित अवस्था मे इस वृक्ष के नीचे बैठने या लेटने से, एवं उससे दूर ठहरने पर भी, जब वायु चलता हो, इस वायु-संचालित धूलि के स्पर्श से शोथ हो जाता है।'

आयुर्वेदिक दवाओं के निर्माण में भिलावे को पाक आदि विविध प्रक्रियाओं में से जब गुज़ार रहे होते है तो उठ रहे वाष्पो के माध्यम से अथवा सीधा ही शरीर के अगो पर भिलावे का तेल लग जाने से भीषण लक्षण प्रकट हो जाते है। मुझे अपने एक सहपाठी का उदाहरण याद है। भिलावो को शुद्ध करने के लिए वह उन्हें किसी द्रव मे उबाल रहा था। बीच-बीच में वह उसका निरीक्षण भी करता जाता था। अनजाने में ही उसकी बांहों और टांगों पर उबलते द्रव की भाप लग गयी और वह उसकी विषालुता का शिकार बन गया। आंख तथा मुख पर सोज, बाहो और टांगो पर छाले फूट निकलने से उसे कितने ही दिन हॉस्पिटल में रहना पड़ा था।

पश्चात् प्रभाव : औषध प्रयोग के निमित्त शुद्ध किए जाते हुए भिलावे ने जिन लोगों पर विषैला प्रभाव उत्पन्न किया है ऐसे कुछ लोगों से मैंने इसकी विषालुता के विवरण प्राप्त किए है। हरिद्वार के एक उदाहरण में काला रस त्वचा पर लगने के बारह दिन बाद सूजन शुरू हुई थी। वह भी बरसात के प्रभाव से। हरिद्वार के दो भुक्त-

भोगियों का अनुभव है कि यद्यपि अब उनके शरीर पर भिलावे के विष का कोई प्रकट प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु प्रतिवर्ष बरसात में उनके शरीर में खाज, गरमी, जलन आदि लक्षण अब भी उभर पड़ते हैं, यद्यपि आरम्भिक घटना को घटे दस-बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। जिस वर्ष आम की फसल अधिक होती है उस वर्ष भिलावे का बुरा प्रभाव भी अधिक प्रकट होता है। उनका खयाल है कि आम अधिक खाने से ऐसा होता है।

छद्म रोगियों के लिए : बाहर लगाने से भिलावे का रस प्रबल प्रतिसंतापक (काउण्टर इरिटेण्ट) तथा छाला डालने वाला (vesicant, उद्स्फोटक) है। किसी अभियोग में छद्मरोगी बनने के उद्देश्य से इसका अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। छद्मरोगी इसके द्वारा अक्षिकोप (ओफ्थैलमिया) तथा त्वचा के क्षत पैदा कर लेते हैं। शत्रु द्वारा घायल करने के लिए झूठे आरोपों को पुष्ट करने के उद्देश्य से वे रस को त्वचा पर लगा कर बनावटी घाव बना लेते हैं। भिक्षु और कुष्ठरोगी त्वचा में विकार पैदा करने के लिए भिलावे का प्रयोग करते हैं जिससे उनके विकार की घृणास्पद अवस्था से द्रवित हो कर उन्हें पर्याप्त भिक्षा मिल सके।

नीम हकीम खतरा-ए जान : हकीमों और वैद्यों के द्वारा भिलावा प्रयोग में कई बार विष-दुर्घटनाएं होने के समाचार मिले हैं। एक हकीम की सलाह से बालों को काला करने के उद्देश्य से सिर पर लगाने के लिए देहरादून के एक ऑफ़िसर ने भिलावे को तेल में डाल कर स्वयं तेल पकाया था। प्रातः स्नान के बाद उन्होंने इस केशतैल को सिर पर लगाया। लगभग आठ घण्टे बाद शाम को उनके माथे, गरदन तथा कानों के पीछे छपाकी जैसे धप्पड़ उठ आये जिनमें खुजली भी छिड़ती थी। उन्हें ध्यान तक न था कि भिलावे के तेल को लगाने का यह परिणाम हो सकता है। छपाकी की मामूली-सी कोई दवा ले कर वे सो गये। प्रातः आख पर सोज थी और मुख पर भी छपाकी जैसे धप्पड़ प्रकट हो गये थे। खाज बढ़ती गई और अगले दिन प्रातः तो गरदन तक सारा भाग बुरी तरह शोथयुक्त हो गया था। कहीं-कहीं से पानी सिमने लगा था। लगभग सप्ताह के बाद लक्षण शान्त हुए। बातचीत में मुझे पता लगा कि तेल में भिलावां की मात्रा अधिक होने के कारण ही ये सब विष लक्षण प्रकट हुए थे। सिर और मुख की सोज, जलन, हृदय की धड़कन, घबराहट, हर समय दिल बैठने की-सी अनुभूति आदि लक्षणों से वे बहुत बेचैन रहे।

बम्बई के रासायनिक विश्लेषक (केमिकल एनेलाइज़र) की 1925 की वार्षिक रिपोर्ट (पृष्ठ 6) में बारह साल के रोगी का उल्लेख है। बम्बई में एक हकीम ने उसके स्तब्ध (पैरेलाइज्ड) अंगों पर एक तैलीय पदार्थ का लेप किया था। उसके दाहक प्रभाव से वह जी. टी. हॉस्पिटल में मर गया था। रासायनिक विश्लेषण करने पर वह पदार्थ भिलावे की एक निर्मिति सिद्ध हुआ था। बंगाल के रासायनिक परीक्षक के वार्षिक प्रतिवेदन (पृष्ठ 13, 1929) में पता चलता है कि अंगुल के हिन्दू पुरुष ने भिलावे डाल कर

उबोला हुआ थोड़ा दूध पिया था जिससे उसे उलटियां तथा दस्त शुरू हो गये थे और कुछ घण्टे बाद वह मर गया था।

छः ग्राम की मात्रा में भिलावे का अन्तःप्रयोग विषैला प्रभाव करता है। इसकी घातक मात्रा 9 ग्राम के लगभग समझी जाती है।

पर-पीड़न के लिए : एक ऐसे अभियोग का विवरण मिलता है जिसमें नुक्सान पहुंचाने के उद्देश्य से एक व्यक्ति पर भिलावे का रस फेंका गया था। वास्तव में पर-पीड़न के लिए जहां एक उग्र और उद्स्फोटन (छाले डालने वाले) पदार्थ की आवश्यकता होती है वहां भिलावे का अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता रहा है। मद्रास के रासायनिक परीक्षक की वार्षिक रिपोर्ट (1924) में एक घटना अंकित है जिसमें भिलावे के रस में भिगो कर कुछ शाखाएं एक आदमी के बिस्तर मे फेंक दी गई थी। जब उसका पैर उनसे छुआ तो तीव्र छाले पैदा हो गये थे। परीक्षा से शाखाओं पर भिलावे का रस खोज लिया गया था।

छालों का द्रव विषैला : बैसिनर (1882) ने पाया था कि भिलावे का भूरा तेल बारह घण्टे के अन्दर काला छाला उठा देता है। इसे छेड़ना नही चाहिए। यदि यह फूट जाय तो इसके अन्दर का द्रव जहां-जहां लगता है वहां छाले डालता जाता है। इस प्रकार शरीर का वह भाग विसर्पी उद्स्फोटो से भर जाता है। बैसिनर ने यह भी देखा था कि तेल के बाहर लगाने के परिणामस्वरूप भी मूत्र विसर्जन वेदनामय हो जाता है। मूत्र आरक्त बभ्रु और रक्तमय हो जाता है। मल के विसर्जन में भी बहुत वेदना होती है।

पहिचान : कोई छाला भिलावे के प्रयोग से बना है या नही—इसकी परीक्षा करने के लिए छाले के ऊपर से छिलका उतार लें। लिण्ट को सुपव (एल्कोहल) में भिगो कर छाले के घाव पर रखें। ऊपर से गटापार्चा (निक्षीरेय) तन्तु रख दें। दहातु विलयन (liquor potash) के साथ वह सुपविक निस्सार (एल्कोहलिक एक्स्ट्रैक्ट) चमकीला हरा-सा रंग देता है जो बदल कर आरक्तबभ्रु (reddish-brown) हो जाता है।

कुमाऊं मे लोक विश्वास है कि भिलावे के लग जान से हो जाने वाले त्वचा के विष-विकारों (चोप) की दवा टेणुआ वृक्ष है। लोक विश्वास के अनुसार भिलावे के विष से आक्रान्त व्यक्ति 'टेणुआ लाओ' कहने मात्र से चोप से मुक्त हो जाता है।

बवासीर, भगंदर : जठराग्नि का दीपक होने से चरक ने भिलावे को दस दीपनीय औषधियों की सूची मे रखा है। सुश्रुत इसे पाचन और संग्राही बताते हैं। महास्रोतस् में आमाशय पर तथा उत्तर गुद प्रदेश पर भिलावे का विशेष प्रभाव होता है। यकृत् पर यह प्रबल उद्दीपन कार्य करता है जिससे पित्त का निर्हरण भलीभांति होता है। यह यकृत् के अन्दर रक्ताभिसरण को नियमित करता है और उत्तर गुदा प्रदेश मे वाहिनियों के अन्दर रक्त को नियंत्रित करता हुआ गुदा मे रक्त के दबाव को कम करता है। परिणामतः गुदा में अवस्थित रक्त की फूली हुई सिराए (जिन्हे अर्श कहते है) सङ्कुचित

होने लगती हैं। इसके साथ ही गुदा की मांसपेशियों को शक्ति मिलने से वे गुदा में मल का सचय नही होने देती। गोविंद दास ने भिलावे की एक निर्मिति महा भल्लातक गुड़ को छ. प्रकार के अर्श (बवासीर) और भगन्दर मे लाभदायक पाया है। भगन्दर में योग रत्नाकर का भल्लातक मोदक खिलाया जाता है। शुद्ध भिलावे, काले तिल, हरड़ तथा गुड़ को समपरिमाण में लेकर कूट लिया जाता है। गोविन्द दास इसकी गोलियां बना कर दो ग्राम से चार ग्राम की मात्रा मे पैत्तिक अर्श के रोगी को खिलाते हैं। योग रत्नाकर में इस निर्मिति का नाम तिलादि मोदक है और भैषज्य रत्नावली में भल्लातकादि मोदक। इन द्रव्यों का अवलेह बना कर भी रोगी को सेवन कराया जा सकता है। पैत्तिक अर्श मे भल्लातामृत नामक एक निर्मिति को उपयोगी बताया है। इसे बनाने की विधि गोविन्द दास ने इस प्रकार बताई है—कच्चे भिलावे के बीजों को गिलोय, कलिहारी, काकड़ा सिंगी, गोरख मुण्डी, रत्ती और केवडा इन छहों के पत्तों के रस में एक-एक दिन घोट कर सुखा लें। 365 मिलिग्राम की मात्रा मे सेवन कराएं। बवासीर के मस्सों के संकोच के लिए भिलावे के धुएं की मस्सों पर धूनी देते हैं। सुश्रुत ने बवासीर में भिलावे को अत्यन्त उपयोगी ओषध पाया है। वे कहते हैं कि बवासीर के मस्से जब गुदा के अन्दर अधिक ऊपर हों और दृष्टि-परीक्षा से दिखाई न पड़ते हों तो शुद्ध भिलावे के चूर्ण को सत्तुओं के लस्सी में बनाए घोल के साथ सेवन करायें। इसमें नमक नहीं मिलाना चाहिए। बवासीर मे एक हजार भिलावों का प्रयोग सुश्रुत ने इस प्रकार बताया है: अच्छी तरह पके हुए और विना चोट खाये हुए भिलावों को इकट्ठा कर लें। उनमें से एक को दौरी डंडे में छेत कर उसके दो, तीन या चार टुकड़े कर लें। 250 मिलीलिटर पानी मे उसे पका लें। 62 मिलीलिटर पानी बचने पर छान लें। इसमे से 12 मिलीलिटर शीतल काढ़ा प्रातःकाल पी लें। पीने से पूर्व तालु, जीभ, ओठ, मुख के सभी भागों को घी से लिप्त कर लें। दुपहर मे चावलो में घी और दूध डाल कर भोजन करें। सात दिन तक इस प्रकार करें। उसके बाद एक-एक भिलावा बढ़ाते हुए पाच भिलावे सेवन करें। कुछ दिन सेवन करने के बाद फिर एक भिलावा बढ़ायें। इस प्रकार सत्तर भिलावे तक आ जाए। फिर क्रमशः मात्रा घटाना आरम्भ कर दें। अन्त मे एक भिलावे पर आ जायें। इस प्रकार से एक हज़ार भिलावों का सेवन कर लें। इस भल्लातक विधान से सब प्रकार के बवासीर के कष्टों से छुटकारा पाकर रोगी बलवान्, नीरोग और दीर्घायु बनता है। व्रणों की चिकित्सा मे हमने भिलावे से चुआये हुए तेल का जो प्रयोग दिया है वह बवासीर के सब प्रकारों को ठीक करने में उपयोगी है।

पाचन-संहति के रोग : भिलावे के प्रयोग मे सम्यक्तया पित्तस्राव होने से मल पीले रंग का आता है। समस्त पाचन संहति के ठीक काम करते रहने से भूख खूब लगती है। भिलावे के इस प्रयोग को देख कर ही चरक ने कहा है कि कब्ज या कोई भी ऐसा स्रोतों का अवरोध (विलम्ब) नही है जो भिलावे के प्रयोग से शीघ्र दूर न हो जाए। योग रत्नाकर में पठित भल्लातक मोदक को उदर रोगों में भोजन के बीच में

खिलाया जाता है। आमाशय व्रण और चिरस्थाई आमाशय शोथ जैसे पुरातन कष्टों मे डौक्टर कोमन ने भिलावे की उपादेयता नही देखी।

ग्रहणी के रोगो मे गोविन्द दास भल्लातक घृत को उपयोगी मानते है। ग्रहणी के रोगी को भोजनों में व्यंजनों के अन्दर भल्लातकादि क्षार डालकर खिलाया जाता है। घी के साथ भी इस क्षार को खिलाते है।

शुद्ध भिलावे के कल्क तथा क्वाथ से पकाए हुए घी को खाण्ड के साथ मिलाकर पीने से रक्त गुल्म और मधु के साथ मिश्रित कर छह ग्राम की मात्रा मे सेवन करने से कफ गुल्म नष्ट होता है। कफ गुल्म में तथा सामान्यतया सभी प्रकार के गुल्म रोग में गोविन्द दास ने भल्लातक घृत नामक एक निर्मिति को उपयोगी बताया है। योग रत्नाकर का भल्लातक मोदक भी गुल्म में भोजन के बाद दिया जाता है।

गुल्म और शूल में रोगी के भोजनो में भल्लातकादि क्षार को दाल-भाजी में बुरक दिया जाता है। घी में मिला कर भी यह खिलाया जाता है। इसे बनाने की विधि यह है: भिलावा, सोंठ, काली मिरच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आवला, सेन्धा नमक, सोंचल नमक और विड नमक प्रत्येक द्रव्य को दो सौ ग्राम ले कर हाण्डी मे रख दें। ढक्कन को कपड़-मिट्टी से बन्द कर दें। उपलो की आग मे इसे फूक लें। अपने आप ठण्डा हो जाने पर राख मे से हाण्डी को निकाल कर अन्दर की भस्म को निकाल लें। यही भल्लातक क्षार है।'

रसौलियों को भिलावे के प्रयोग से विलीन करने के विवरण प्राप्त हुए है। एक स्त्री के पेट मे इतनी बड़ी रसौली हो गई थी कि सारा पेट ही उससे रुक गया था। भल्लातक के प्रयोग से वह घुल कर बिल्कुल बठ गई थी। इस प्रयोग मे दी जाने वाली औषध को तैयार करने की विधि यह है: भिलावे के तेल को तवे पर डाल कर मध्यम आंच पर पकाएं। जलते-जलते जब यह गाढ़ा होने लगे उस समय इसमें पानी डाल दें। भिलावे के धुएं से अपने को बचाना चाहिए। जला कर गाढ़ा किए हुए भिलावे के तेल मे बराबर का घी मिलाते है और दुगना शहद मिला कर रख लेते हैं। इस निर्मिति की मात्रा एक ग्राम है। खिलाने से पहले रोगी के मुख को घी से आसिक्त कर लिया जाता है। जिगर के कैन्सर की चिकित्सा भी इस निर्मिति से की जा रही है।

गोआ मे उदर कृमियो को निकालने के लिए भिलावा देते है। महा भल्लातक गुड़ को गोविन्द दास कृमियों को मारने के लिए उपयोगी समझते हैं।

खांसी, बलगम के रोग · बलगम को नष्ट करने वाली औषधियों में सुश्रुत ने भिलावे को गिनाया है। भल्लातकादि मोदक बीस प्रकार के कफ रोगो में लाभदायक है। चरक का तो यह मत है कि कोई भी ऐसा कफज रोग नही जो भिलावे के प्रयोग से जल्दी दूर न हो जाए। डौक्टर मुदीन शरीफ ने दमे में इसे बहुत उपयोगी भेषज बताया है। गोआ मे भिलावे के फल को लस्सी मे भिगोकर दमे में खिलाते है। खासी और दमे में गोविन्द दास भल्लातक घृत और महा भल्लातक गुड का सेवन कराते हैं।

भिलावे, हरड़ और गुड़ को समान भाग में लेकर बनाए अवलेह के सेवन से भी खांसी और दमा दूर होते हैं। प्रतिजिह्वा (uvula) और तालु के शिथिल होने के कारण पैदा हुई खासी के निवारण के लिए कोंकण मे भिलावे का प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग में एक फल को दीपक की लौ पर गरम करते हैं, गरमी से जो तेल चूता है उसे नीचे रखे चौथाई लिटर दूध मे गिरने देते हैं। रोगी को यह दूध प्रतिदिन एक बार पिला दिया जाता है। गले तथा तालु के विकारों मे, जिव्हा के रोगों मे और उपजिह्वा के रोग में भोजन करने के बाद भल्लातक मोदक प्रतिदिन खिलाया जाता है।

मूर्धा के रोग : सिर, कान, आंख, भृकुटी, कनपटी, गले तथा जबड़े के रोगों में योग रत्नाकर मे पठित भल्लातक मोदक भोजन करने के बाद सेवन कराया जाता है।

आमवात : भिलावे की गुठली का तेल आमवात (रुह्‌मेटिज्म) में वाहरी प्रयोग किया जाता है। डॉक्टर मुदीन शरीफ ने भिलावे के दृढ़ फल तथा तेल का अपनी चिकित्सा मे प्रचुर प्रयोग किया था। तेल को वे या तो निष्पीडन से प्राप्त करते थे या गरम करके चुआ लेते थे। दृढ फल को या तेल को वे लेह (माजून) के रूप में बना कर रोगियों को दिया करते थे। उनकी राय मे यह तीव्र आमवात में इतना अधिक प्रभाव-कारी है कि इस रोग मे इसे रामबाण समझा जा सकता है। परन्तु आमवात के चिर-स्थायी या मांसपेशिक प्रकारों मे भिलावा तीव्र आमवात की तुलना मे आधा भी लाभ नहीं करता। तीव्र आमवात से एक रोगी के जोड़ आक्रान्त थे। वह सामान्य आतुरालय मे भरती किया गया। डॉक्टर कोमन ने भिलावे के माजून से उसकी चिकित्सा की। दो सप्ताह की चिकित्सा के बाद वह आरोग्य लाभ करके चला गया। आतुरालयों में चिर-स्थायी आमवात के जिन रोगियों को यह दिया गया उन्हें कोई लाभ नही पहुंचा। गोविन्द दास ने भिलावों से बनाए एक अवलेह महा भल्लातक गुड को अत्यन्त कठि-नाई से जाने वाले आमवात में और गठिए (वातरक्त) मे उपयोगी निर्मिति बताया है। आमवात आदि रोगों में वाहरी प्रयोग के लिए भिलावे के दाहक रस को स्वल्प मात्रा में किसी स्थिर तेल में मिला कर मालिश करते हैं। विलियम रोक्सवर्ग (1874) के अनु-सार जिन लोगों पर इसका बुरा प्रभाव नही प्रकट होता उनके लिए यह प्रभावशाली दवा है।

कुष्ठ : चरक ने कुष्ठनाशक दस औषधियों में भिलावे को गिनाया है। डॉक्टर मुदीन शरीफ़ के अनुसार यह कुष्ठ, चम्बल (psoriasis) और कुछ अन्य त्वक् विकारों में लाभदायक है। मुख द्वारा खिलाया हुआ भी भिलावा त्वचा के मार्ग से बाहर निक-लता है। इसलिए त्वचा पर इसका प्रबल कार्य है। पसीना खूब आता है, त्वचा गरम मालूम होती है, खाज उठती है और त्वचा लाल हो जाती है। कुष्ठ विकारो मे भिलावे के वृक्ष की छाल से प्राप्त गोंद का प्रयोग किया जाता है। कुष्ठ में निकल आने वाली गांठों पर भिलावे की गुठली का तेल लगाया जाता है। कुष्ठ मे उपयोगी लेपो मे भिलावे का अन्य द्रव्यों के साथ आयुर्वेद में बहुत प्रयोग हुआ है। भैषज्य रत्नावली के कुष्ठा-

धिकार में पारदादि लेप में तथा दो अन्य कुष्ठहर लेपों में भिलावा डाला गया है।

गलित कुष्ठ में अगस्त्य ने अमृत भल्लातक की बहुत प्रशंसा की है। कुष्ठ-क्रमियों के आक्रमण से रोगी की अंगुलियां, नाक, कान गल कर झड़ गए हों, कण्ठ की रचनाओं के गल जाने से आवाज बैठ गई हो तो अमृत भल्लातक के सेवन से वे उसी प्रकार लाभ की आशा करते है जैसे वर्षा-जल से सींचे जाते हुए वृक्ष में क्रमशः अंकुर और कोंपलें निकल आती है। त्वचा की विवर्णता अमृत भल्लातक के सेवन करने से ठीक हो जाती है। । गोविन्द दास ने महादेव के द्वारा निर्मित भिलावे की एक निर्मिति महा भल्लातक गुड़ को त्वचा के अनेक रोगो में तथा कुष्ठ की अनेक किस्मो में लाभदायक पाया है। उनकी राय में निम्न लिखित रोग महा भल्लातक गुड़ के सेवन से ठीक हो जाते हैं। श्वित्र (leucoderma), औडुम्बर, दाद, ऋष्य जिह्व, सकाकण, पुण्डरीक (myxamatosis), चर्माख्य, विस्फोट (bullae), मण्डल, खुजली, कापाल कुष्ठ और पामा (dry ecrema)। रसौली की चिकित्सा मे हमने भिलावे के दग्ध तेल, घी और शहद की जो निर्मिति लिखी है उसे मण्डल कुष्ठ, चम्बल और अनेक प्रकार के रक्त विकारों मे लाभकारी बताया जाता है। योग रत्नाकर की कुष्ठ चिकित्सा मे पठित भल्लातक मोदक को *अठारह प्रकार के कुष्ठों मे सेवन करने की सिफारिश की गई है।* बवासीर के प्रकरण में हमने हज़ार भिलावों का जो प्रयोग लिखा है सुश्रुत ने उसे सब प्रकार के कुष्ठों में लाभदायक पाया है। इसका सेवन करने से कुष्ठ रोगी के शरीर में सामान्य रूप से बल आता है, उपद्रव रूप से जो रोग उसे दबाए रखते हैं उनसे भी छुटकारा मिलता है। भिलावे के चुआये हुए तेल को सुश्रुत सब प्रकार के कुष्ठो में उपयोगी समझते हैं।

उपदंश : डोक्टर मुदीन शरीफ़ भिलावे को द्वितीयक उपदंशक (सेकण्डरी सिफलिस) में लाभदायक बताते है। फिरंग (syphilis) में भिलावे के रस को किसी मृदु तेल में मिला कर खिलाया जाता है। उपदंश गजकेसरी नामक भिलावे की एक निर्मिति एक से दो ग्राम की मात्रा मे दिन में दो बार घी और दूध के अनुपात से उपदंश तथा फिरंग की उन अवस्थाओं में भी लाभ के साथ दी जाती है जब कि ये रोग हड्डियों और मज्जा तक असर कर गये हो। इस निर्मिति को बनाने के लिए निम्नलिखित चीजें लें—लौंग, *काली मिर्च, अकरकरा, वायविडंग, रूमी मस्तगी प्रत्येक बारह ग्राम, अजवायन अड़तालिस* ग्राम, शुद्ध भिलावा एक सौ सोलह ग्राम, पारा बारह ग्राम, शुद्ध गन्धक बारह ग्राम, गुड़ अड़तालीस ग्राम, पारे और गन्धक को खरल में रगड़कर कज्जली बना लें। गुड़ के अलावा अन्य द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण कर के कज्जली के साथ खरल मे घोटें। फिर गुड़ मिला कर कूटें। एक जान हो जाने पर गोलियां बना लें।

क्षयी ग्रन्थियां : क्षयी ग्रंथियो मे भिलावे की छाल से प्राप्त गोंद का प्रयोग किया जाता है। गले की क्षयी ग्रन्थियो (अपची) मे व्रण बन गये हों तो भल्लातकादि तेल का फोया लगाना चाहिए। वात कफज नाड़ी व्रणो मे भी इस तेल के स्थानीय प्रयोग से लाभ

होता है। इसे बनाने की विधि गोविन्द दास ने इस प्रकार बताई है। भिलावा, आक की जड़ का छिलका, काली मिर्च, सेंधा नमक, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, चित्रक की जड़ प्रत्येक 96 ग्राम ले कर सिलबट्टे पर चटनी के समान कूट लें। इसे बारह लिटर भांगरे के रस और तीन लिटर तिल के तेल में डाल कर विधिपूर्वक पका लें।

मूत्र तथा प्रजनन संहति के रोग . गुरदों पर भिलावे की अतितीव्र तथा उत्तेजक क्रिया होती है। पहले तो मूत्र की राशि बढ़ती है परन्तु शीघ्र ही गुरदों के थक जाने से मूत्र की उत्पत्ति कम हो जाती है। चरक ने मूत्र संग्रहणीय दस औषधियों में भिलावे को गिनाया है। गुरदों पर भिलावे के तीव्र कार्य करने के कारण कभी-कभी मूत्र में रुधिर मिला हुआ भी विसर्जित होता है। गुर्दों के समान मूत्र प्रणाली के लिए भी यह उत्तेजक है। इसीलिए भिलावे का प्रयोग करते हुए रोगी शिश्नेन्द्रिय में पीड़ा होने की शिकायत करते हैं। इस पीड़ा के कारण शिश्न को दबाने की इच्छा होती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान-तन्तुओं पर प्रभाव डालने के द्वारा भी भिलावा शिश्न और वृषण के लिए उत्तेजक है। इस प्रकार भिलावा उत्पादक अंगों पर सीधा कार्य करके तथा चेतावाहिनियों द्वारा परोक्ष प्रभाव डाल कर वाजीकर का कार्य करता है।

रौक्सबर्घ (1874) के अनुसार तेलंग चिकित्सक भिलावे को सब प्रकार के रति रोगों में रामबाण औषधि समझते हैं। वे इसका उपयोग इस प्रकार करते हैं—भिलावे का काला धूपियास (balsam) साठ ग्राम, लहसुन को कुचल कर निकाला रस, साठ ग्राम, इमली के ताज़े पत्तों का रस, 120 ग्राम, नारियल का तेल 120 ग्राम और खांड 120 ग्राम को एक कलईदार बर्तन में कुछ मिनिट उबाल लें। एक बड़े चम्मच (टेबल स्पून) की मात्रा में रोगी को दिन में दो बार पिलाते हैं। प्रजनन संहति के रोगों में भिलावे की छाल से प्राप्त गोंद उपयोगी मानी जाती है।

सुश्रुत ने भिलावे को योनि के दोषों को दूर करने वाला तथा स्त्रियों के दूध को शुद्ध करने वाला बताया है।

वातिक रोग : वातिक निर्बलताओं में भिलावे की गोंद दी जाती है। चेता शूल (neuralgia), मृगी, निश्चेतना और पक्षाघात में डौक्टर मुदीन शरीफ़ भिलावे को उपयोगी मानते हैं। ऐंठन (उदावर्त) में महा भल्लातक गुड़ को गोविन्द दास लाभ के साथ देते हैं। उदावर्त के रोगी को घी के साथ तथा भोजनों में दाल-भाजी में डाल कर भल्लातकादि क्षार सेवन कराया जाता है। भल्लातक मोदक अस्सी प्रकार के वात रोगों में उपयोगी माना जाता है। विशुद्ध भिलावा, गिलोय, सोंठ, देवदारु, हरड़, पुनर्नवा तथा दसमूल प्रत्येक द्रव्य को सम परिमाण में ले कर मोटा-मोटा कूट कर रख लें। इसमें से 24 ग्राम ले कर 38 मिलीलिटर पानी में 96 मिलीलिटर काढ़ा बच रहने तक पकाएं। छान कर टांगों के पक्षाघात (उरुस्तम्भ) के रोगी को पिलायें।

तिल्ली के रोग : तिल्ली बढ़ जाने पर तथा तिल्ली के अन्य विकारों में भल्लातक घृत और भल्लातक मोदक लाभ करते हैं। शोधित भिलावा, हरड़ और जीरे को कपड़-

छन कर गुड़ के साथ कूट लें और गोलियां बना लें। अथवा गुड़ की चाशनी बना कर तीनो द्रव्य मिला कर अवलेह बना लें। गोविन्द दास का विश्वास है कि अत्यन्त दारुण प्लीहा (तिल्ली) भी इसके सात दिन के सेवन करने से ठीक हो जाती है। साठ ग्राम शुद्ध भिलावा और साठ ग्राम गुठली निकाली हुई हरड को कूट कर कपड़े मे छान लें। साठ ग्राम साफ तिलो को दौरी-डण्डे मे कूट ले। इन तीनो द्रव्यों मे साठ ग्राम गुड़ मिला कर खूब कूट लें। प्लीहा के निवारण के लिए इस तिल भल्लातक मोदक को एक ग्राम की मात्रा मे सेवन कराया जाता है।

पाण्डु : रुधिर में रक्ताणुओं की कमी (पाण्डु, एनीमिया) होने पर गोविन्द दास भल्लातक घृत और महा भल्लातक गुड का सेवन कराते हैं। पाण्डु और ज्वर मे तिल-भल्लातक मोदक का सेवन करना हितकर है। पाण्डुरोगी को भोजनो के साथ दाल-भाजी में डालकर या वैसे ही घी मे मिला कर भल्लातकादि क्षार खिलाया जाता है।

व्रण, शोथ, वृद्धि : सुश्रुत ने भिलावे को व्रणों के लिए उपयोगी औषध बताया है। इसके प्रयोग से टूटी हुई हड्डी जल्दी जुड जाती है। जख्म जब भर गए हों और उनके सफ़ेद दाग बच गए हो तो उन्हे काला करने के लिए सुश्रुत ने भिलावे का यह प्रयोग बताया है—गोमूत्र में भावना दिये हुए भिलावों को सात दिन गाय के दूध मे रखें। फिर इनके दो-दो टुकडे करके लोहे के घड़े मे रख दें। भूमि मे गडे हुए दूसरे लोहे के घडे के मुख पर एक जाली रख कर भिलावे से भरे हुए घड़े के मुख को मूदा रख दें। दोनो के मुखों को कपड़-मिट्टी से सन्धि बन्धन कर दें। ऊपर के घड़े की पेंदी के बाहर चारो ओर गिल्ली मिट्टी से बन्नी बना दें। इस चारदिवारी के अन्दर आग भर दें। गरमी से अन्दर रखे भिलावों का तेल निकल कर नीचे के घड़े में टपकता रहेगा। ठण्डा होने पर तेल निकाल लें। गांव में रहने वाले गाय आदि पशुओ के खुरों और पानी में रहने वाले पशुओं के खुरों को जला कर सूक्ष्म बना लें और उस तेल में मिला लें। घावो के सफेद दागो पर इसका लेप करना चाहिए। (सुश्रुत, चिकित्सा स्थान 1;90-93)।

महा भल्लातक गुड़ को गोविन्द दास व्रण के रोगी को सेवन कराते है। जिनके पैरों मे बिवाई फटती रहती हैं उन्हे भी महा भल्लातक गुड़ का सेवन करने की सलाह दी जाती है। मेडागास्कर मे भिलावे का फल सर्पी (herpes) में प्रयुक्त होता है। वेदनाओं तथा मोचो पर भिलावे के दाहक रस का बाहरी प्रयोग किया जाता है। किसी स्थिर तेल मे अति स्वल्प मात्रा मे मिला कर यह आक्रांत भाग पर मल दिया जाता है।

भिलावे के सेवन से नाड़ी का प्रमाण बढ़ता है और हृदय का स्पन्दन स्पष्ट मालूम देता है। रक्तान्तर्गत श्वेत कण बढ़ते है और इससे शोथ में कमी होती है। श्वेत कण बढने से और रस-ग्रन्थियों को उत्तेजना मिलने से बढी हुई ग्रन्थियों के आकार मे ह्रास होने लगता है। शरीर मे संचित फ़ालतू मेद को निकालने के लिए सुश्रुत भिलावे को प्रशस्त समझते हैं।

विष निवारण के लिए : सुश्रुत ने भिलावे की राख को अन्य ... विषों

सर्पदंश की चिकित्सा मे बरता है। इसी प्रकार दृढफल वृश्चिक दंश मे दिया जाता है। म्हस्कर और कायस् ने दिखाया है कि पौधे की राख सर्प-विष के लिए प्रतिविष नहीं है। कायस् और म्हस्कर के अनुसार वृश्चिक दंश की चिकित्सा में दृढ़फल निरुपयोगी है।

बालों के लिए हितकर : प्रतीत होता है कि काजू के समान भिलावे के फल मे भी हरिभृंगि (कैन्थेरेडीन) सदृश एक पदार्थ होता है। पाश्चात्य चिकित्सा में कैन्थेरेडीन बालों तथा कर्परावरण के रोगों के लिए उपयोगी औषध के रूप में अनेक प्रकार से व्यवहार मे लाई जा रही है। उसी प्रकार भिलावे का प्रयोग केश तैलों मे किया जाता है। *इसमे भिलावे का परिमाण बहुत स्वल्प रहता है। अधिक मात्रा होने से* भयंकर उपद्रव खड़े हो जाते हैं।

सामान्यतया दो-तीन भिलावो को छेत कर एक किलोग्राम तिल के तेल में डाल कर एक-दो उबाल दे देते है। छान कर सप्ताह भर पड़ा रहने देते हैं और सुगन्ध तथा रग मिला कर केश तैल की तरह प्रयोग करते है। कर्पर आवरण (scalp) के लिए यह बहुत उत्तम उद्दीपक औषध है। यह रक्तसंचार को उन्नत करता है जिससे रूसी, बालो का झडना, गंज, बालो का असमय में पकना आदि विकार ठीक होते हैं। मुझे कुछ *व्यक्तियों ने अपने अनुभव बताये हैं कि उनके केशो में जो मामूली श्वेतिमा आने लगी* थी इसके प्रयोग से वह रुक गई और कुछ समय बाद सफ़ेदी बिलकुल जाती रही। *विश्वास किया जाता है कि इसका प्रयोग करते रहने से तथा साथ-साथ भिलावे की* निर्मितियो का अन्त प्रयोग करते रहने से केश श्याम हो जाते हैं। गोविन्द दास ने अमृत भल्लातक निर्मिति मे सफ़ेद बालो को काले सुरमे के समान श्याम बनाने की क्षमता का प्रतिपादन किया है। उनका विश्वास है कि महा भल्लातक गुड़ का निरन्तर सेवन करने से पके हुए बाल श्याम बनाये जा सकते है।

योग रत्नाकर के भल्लातक मोदक को निम्नलिखित रोगों में भी उपयोगी बताया जाता है : चालीस प्रकार के पित्त रोग, द्वन्द्वज तथा सन्निपात के रोग।

सावधानियां : भिलावे के प्रयोग में अतिमात्रा से कोई बड़ा उपद्रव खड़ा हो सकता है। उससे बचने के लिए समय-समय पर रोगी के मूत्र की परीक्षा कर लेनी चाहिए। मूत्र का परिमाण घट जाए और वह धुधला, गदला या शोणित वर्ण हो जाए *तो ये परिवर्तन औषध की अतिमात्रा की ओर अथवा औषध के प्रति असहिष्णुता की* ओर स्पष्ट संकेत दे रहे होते हैं। ऐसी अवस्था मे भिलावे का प्रयोग तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। भिलावा अनुकूल न पड़ने पर अथवा इसकी मात्रा अधिक होने पर पहले तो शरीर पर खाज उठने लगती है, पसीना अधिक आने लगता है, जलन होती है, प्यास अधिक लगती है और बाद मे पेशाब लाल हो जाता है। इस प्रकार के लक्षणों के प्रकट होते ही भिलावा बन्द करके शामक उपचार करना चाहिए। तिल और नारियल खाने को देने चाहिएं।

अनेक रोगियों को भिलावे की हानिकर क्रिया सबसे पहले गुदा और शिश्न के मुख पर अनुभव होती है। इन स्थानों पर खाज उठने लगे या जलन मालूम होने लगे तो झट प्रयोग बन्द करके नारियल का तेल या घी लगाना चाहिए। राज मार्तण्ड के अनुसार भैंस के घी को तिलतेल के साथ दूध में मथ कर भिलावे की सोज पर लगाना चाहिए।

डॉक्टर मुदीन शरीफ़ ने इसके प्रयोग में सावधान रहने की चेतावनी इस प्रकार दी है : 'भिलावे के अन्त: या वाह्य प्रयोग मे यदि त्वचा पर जरा भी दाने प्रकट हो जाएं या त्वचा का रंग लाल हो जाए अथवा शरीर के किसी भाग में खुजली उठने लगे या बेचैनी की-सी अनुभूति हो तो यह औषध के बुरे प्रभाव का लक्षण समझना चाहिए और इसे तुरन्त रोक देना चाहिए।'

मुख की श्लेष्मकला पर भिलावे का बुरा प्रभाव न हो इसके लिए कुछ वैद्य यह सावधानी बरतते हैं कि भिलावे की कोई निर्मिति खिलाने से पूर्व रोगी के मुख-गह्वर को घी से लिप्त कर देते हैं। इस उद्देश्य के लिए घी का गण्डूप करा दिया जाता है। अनेक वैद्य भिलावे से बनी औषध को मलाई, मक्खन या हलुए आदि किसी चिकने पदार्थ में लपेट कर बिना चबाये ही निगलवा देते है। यह सावधानी भी इसीलिए रखी जाती है कि भिलावा मुख की श्लेष्मकला के सम्पर्क मे न आये। भिलावे के प्रयोग मे घी और दूध का अधिक मात्रा में सेवन कराना चाहिए जिससे विषैला प्रभाव न प्रकट हो।

प्रयोग करने का निषेध : गरमी और बरसात में इसका प्रयोग करने के उपयुक्त समय नही माने जाते। यह उष्ण वीर्य है, इसलिए सर्दियां भिलावे के प्रयोग के लिए उपयुक्त समय है। छोटे बालकों, गर्भवती स्त्रियो, वृद्धों और पित्त प्रकृतिवालों को भिलावा नहीं सेवन करना चाहिए।

असात्म्यता . अनेक लोगों को भिलावा सात्म्य नही पड़ता इसका सेवन करते ही उन में मूत्र मार्ग मे पीडा, ज्वर, छाले, व्रण आदि लक्षण अभिव्यक्त हो जाते हैं। ऐसे लोगों को भिलावा नही देना चाहिए।

पथ्य : इसके प्रयोग काल मे रोगी को दूध, घी, मधुर पदार्थ और चावलों के आहार पर रखना चाहिए। नमक और गरम पदार्थों को त्याग देना चाहिए।

अपथ्य : अष्टाग सग्रह मे भिलावे के प्रयोग के समय निम्नलिखित परहेज़ बताया है : कुलथी, दही, सिरका, अचार आदि, तेल की मालिश और आग तापना।

पशु चिकित्सा में : घोडो के कष्टों में भिलावे का रस और भिलावे का तेल दोनों प्रयुक्त होते हैं।

नदी भल्लातक : कैय देव (1450 ईस्वी पश्चात्) ने भिलावे का एक भेद नदी भल्लातक लिखा है। जलाढ्य देश मे उगने वाले भिलावे को यह संज्ञा दी गई है। इसका दूसरा पर्याय भोजन (खाने के योग्य फल) और तीसरा वृपाकक है। मलयालम में इसका नाम अवुकरम, तमिल में कट्टु-शेन्कोट्टई और तेलुगु में नट्ट-सेन्गोटे है। आधुनिक औद्भिदी (botany) में इसे सेमेकार्पुस ट्रावनकोरिकुस (*Semecarpus travan-*

coricus Bedd.) या सेमेकार्पुस ट्रावन्कोरिका (*Semecarpus travancorica* Bedd.) कहते हैं। इन नामों का अर्थ है त्रावणकोर में उगने वाला भिलावा।

प्राप्ति-स्थान : टिनेवेल्लि और ट्रावनकोर के सदा हरे जंगलों में 1,219 मीटर की ऊंचाई तक यह वृक्ष पाया जाता है।

परिचय : यह बहुत बड़ा वृक्ष है जिसकी छाल धूसर वर्ण की होती है और उसके ऊपर काले सिध्म पड़े रहते हैं। पत्ते बहुत अधिक चर्मिल (coriaceous), तीस सेण्टीमीटर लम्बे और बारह से पन्द्रह सेण्टीमीटर चौड़े होते हैं। इनका अग्रभाग गोल होता है और ऊपर तथा नीचे के दोनों पृष्ठ चिकने होते हैं। अष्ठिफल ढाई सेण्टीमीटर लम्बा, तिर्यक् अण्डाकार और काला होता है। वृन्तफल चौड़ा, छोटा और दारियों से युक्त रहता है।

गुण : भिलावे (*Semecarpus anacardium* Linn. f.) के समान ही यह एक दाहक काला रस निकलता है। कैय देव के अनुसार नदी भल्लातक कषैला, चरपरा और मधुर रसयुक्त होता है। यह शीतल, संग्राही और वातकारक है। बहते हुए खून को रोकता है, कफ को नष्ट करता है और जख्मों को ठीक करता है।

: ग्यारह :

चालमुग्रा

चालमुग्रा एक सर्वनाम है जो तुवरकादि गण के बहुत से वृक्षों के लिए तथा गाइनोकार्डिया ओडोराटा के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हो रहा है। किसी एक जाति के लिए चालमुग्रा नाम निश्चित नहीं है। तुवरक एक निश्चित वृक्ष को कहते है जो इसी गण की एक जाति है। इस जाति का तुवरक नामकरण महर्षि सुश्रुत ने किया था। कोई सोलहवी शती से तुवरक को भी चालमुग्रा कहने लगे। चालमुग्रा नाम अतिशय लोकप्रिय हुआ और बगाली, हिन्दी आदि भाषाओं में तथा यूनानी, एलोपैथी आदि चिकित्सा पद्धतियो में उन सब जातियो को चालमुग्रा कहने लगे जिनमें से तुवरक तेल के सदृश तेल प्राप्त होता था।

कुष्ठ तथा चर्मरोगों की चिकित्सा की दृष्टि से ये सभी जातियां महत्त्वपूर्ण समझी जाती रही हैं।

तुवरकादि गण : वनस्पति शास्त्र के आधुनिक विद्वान् तुवरकादि गण को हिड्नोकार्पस गण कहते है। ग्रीक में हिड्नोस (hydnos) का अर्थ है कन्द और कार्पोस (carpos) का अर्थ है फल। खर तथा कठोर फलों के कारण यह नाम पड़ा है। बिक्सासी (Bixaceae) वंश के अन्तर्गत हिड्नोकार्पस (Hydnocarpus Gaertn) गण (genus) में लगभग पच्चीस जातियां (species) है। ये सभी वृक्ष होते है। मलय प्रायद्वीप में उपलब्ध सात जातियों का रिकार्ड किया गया है। इन सबका अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

स्वरूप : इन वृक्षों के फल बदरी (berry) हैं। ये गोल, सामान्यतया अनेक बीजो वाले और कठोर छिलके वाले होते है। बीज गूदे मे न्याविष्ट रहते है। बीजों में तैलीय श्विति (एल्ब्युमिन) विद्यमान होती है। इस गण के फल शाखाओं या तनों पर पैदा होते हैं और पर्णावली के वितान के नीचे पकते है। ये वृक्ष क्योंकि वर्षा वाले वनों में उगते है इसलिए वहा काफी नमी रहती है। बड़े, कठोर ये फल भूमि पर गिरते हैं और जानवरों द्वारा तोड दिये जाते है। वे फल का गूदा खाते हैं और बीजों को बिखेर देते हैं।

संग्रह में सावधानी : संग्रह करने वाले स्थानीय लोगों द्वारा इकट्ठा करने से

पूर्व ही बहुत से बीज दुर्वासित हो जाते हैं। कुछ बीज संग्रहकर्त्ताओं के असावधान हाथों में दुर्वासित हो जाते हैं। फल की परिपक्वता पर बीजों को गूदे से मुक्त कर के और सुखा कर इस हानि से पूर्णतया बचा जा सकता है। इन वृक्षों की यदि खेती की जाए तो इन सब सावधानियों का ध्यान रखना सुगम होता है। परन्तु बाजार के लिए प्रदाय (सप्लाइज) अब भी वन स्रोतों से प्राप्त होती है। तेल के मुख्य निर्माता कलकत्ता और चिटागौंग में छोटे कारखानों के स्वामी हैं। तेल निकालते हुए ये सावधान रहते हैं। संभवतः इनके बीजों में दूसरे बीजों की जरा-सी मिलावट रहती है, परन्तु मुख्य परिणाम चालमुग्रा (हिड्नोकार्पुस कुर्ज़ी) का ही होता है। ब्रिटेनीय भेषज संहिता (ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया) ने चालमुग्रा तेल की परिभाषा में भी इसे 'टैंगक्टोजेनोस कुर्ज़ी (King) का तेल' बताया है। अन्यत्र दिखाया है कि यही वृक्ष हिड्नोकार्पुस कुर्ज़ी है।

रासायनिक संघठन : शायद सभी के बीजों में एक या अधिक तेल पाए जाते हैं। ये निश्चित और विशिष्ट तेल दिलचस्प हैं जो ब्रिक्सासी वंश के प्राकृत गुणधर्म के अनुरूप हैं। ये तेल दूसरे गण के पौधों में भी पाए गए हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी अफ्रीका के ओन्कोबा (Oncoba) गण की जातियों में और मलय की पान्गिउम एडुले Pangium edule) नाम की जाति में तत्सदृश तेलों का पता चला है।

इन तेलों में चालमुग्रिक और हिड्नोकार्पिक अम्लों के मधुरेय (ग्लिसराइड्स) का बड़ा परिमाण होने का वैशिष्ट्य है। ये दोनों संयुत (कम्पाउण्ड्स) इन जातियों में पाए जाते हैं। चालमुग्रा (हिड्नोकार्पुस कुर्ज़ी), हिड्नोकार्पुस आल्पीना, हिड्नोकार्पुस आन्थेल्मिण्टिका, हिड्नोकार्पुस वेनेनाटा और तुवरक (हिड्नोकार्पुस वाइटिआना)। फिलीपाइन के हिड्नोकार्पुस आल्काली मेरे (*Hydnocarpus alcalae Merr*) में कुछ अन्तर से चालमुग्रिक अम्ल का प्रभूत परिमाण होता है, परन्तु हिड्नोकार्पिक अम्ल स्वल्प या सर्वथा नहीं होता।

टाराक्टोजेनोस (*Taraktogenos* Hassk.) नामक गणों को पहले तुवरकादि गण (हिड्नोकार्पुस) से पृथक किया जाता था। विभेद का आधार था फूलों में भागों की सख्या। परन्तु इन भेदों की उपयोगिता देर तक नहीं मानी जा सकी। इसी प्रकार आस्टेरिआस्टीग्मा (*Asteriastigma* Bedd.) नामक गण भी भिन्न नहीं माना जा सकता। इस पुस्तक में तीनों गण एक ही समझे गये हैं।

विस्तार : गरम एशिया, दक्षिण-पूर्वीय एशिया और मलयेशिया में यह गण पाया जाता है।

इतिहास : अत्यन्त प्राचीन समय से हिड्नोकार्पुस के बीज पूर्व में कुष्ठ तथा दूसरे चर्मरोगों की चिकित्सा में वरते जा रहे हैं। बीस या अधिक शतियों पहले के आयुर्वेदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि हिड्नोकार्पुस की एक जाति तुवरक के तेल तथा कच्चे बीजों के प्रयोग से कुष्ठ रोगियों की हालत में बड़ा सुधार पाया गया था। यूनानी भेषजद्रव्य (मेटीरिया मेडिका) की सबसे पुरानी पुस्तकों में से एक पुस्तक

मरूज़न-उल अद्विया में बीजों के उपयोग का ज़िक्र चालमुग्री के नाम से मिलता है। देशीय भेषज में इसके तेल को घी के साथ मिला कर मुख द्वारा दिया जाता था। घी के साथ मिलाने से प्राप्त मिश्रण आवभ्रुपीत (brownish yellow) रंग का और मृदु मरहम जैसा गाढा होता है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से पूर्व विदेशी चिकित्सकों द्वारा हिड्नोकार्पुस का उपयोग किए जाने के बहुत कम उल्लेख मिलते है। पाश्चात्य भेषज में यह हाल ही के वर्षों में कुष्ठ रोग की चिकित्सा के लिए अत्यन्त उपयोगी उपचार स्वीकार किया गया है। कर्नल चोपड़ा के अनुसार यह दिखाने के लिए विवरण उपलब्ध है कि बीजो से निस्सारित तेल कुष्ठ की चिकित्सा में तथा बहुत से त्वग्रोगो के घरेलू उपचार के रूप में 1595 से प्रयोग में आने लगा था। र्‌हीड (1686-1703, हॉर्टस मालाबारिकस) को मोरट्टी के नाम से हिड्नोकार्पुस के बीजों के प्रयोग का उल्लेख किया है। हिड्नोकार्पुस वेनेनाटा और हिड्नोकार्पस वाइटिआना के लिए यह मलयालम नाम है। रौक्सबर्घ ने 1819 में इसी से सम्बद्ध गाईनोकार्डिआ ओडोराटा के बीजो का तत्सम उपयोग लिखा है। एन्सले ने 1826 में हिड्नोकार्पुस वाइटिआना मे ये गुण बताए हैं। इसके कुछ समय पीछे भारत मे यूरोपियन सर्जनों ने इसके प्रभावो का अध्ययन किया। इस औषध के द्वारा उत्पन्न लाभप्रद प्रभावों को पाश्चात्य कर्मांम्यासियों ने शीघ्रता से अधिमूल्यित किया और हमारे देश में ब्रिटेनीय शासन के बहुत प्रारम्भिक दिनो में इसे प्रयोग करना शुरू कर दिया था। 1854 में मोआत (Mouat) ने कुष्ठ के एक रोगी में सुधार का विवरण दिया है जिसे चालमुग्रा मुख द्वारा दिया गया था और उस पर इसका स्थानीय प्रयोग भी किया गया था। 1868 में चालमुग्रा के आरोग्यकारी प्रभाव इतने सम्यक् ज्ञात हो गए थे कि यह भारत की भेषज संहिता (फ़ार्माकोपिया ऑफ़ इण्डिया) में स्वीकृत कर लिया गया था। इस संहिता में मुख्य निर्मिति एक मरहम है जिसे बनाने के लिए निर्देश है कि चूर्णित गिरियों को असंयुत स्नेहलेप (अंग्वेपुण्टम सिम्प्लेक्स) मे मिलना चाहिए। 1904 मे फ्रेडरिक बी. पावर और उनके सहकर्मियों ने चालमुग्रा तेल की विस्तृत रसायन (केमिस्ट्री) प्रकाशित की। तब वैज्ञानिक जगत् का ध्यान इस उपयोगी औषध की ओर आकृष्ट हुआ।

कैण्टन के एक मिशनरी डौक्टर हौब्सन ने चीन में कोढ़ के मृदु रोगियों में आरोग्यता का पर्यवेक्षण किया। इस उदाहरण में कहा जाता है कि भारतीय बीजों से आरोग्य लाभ हुआ था। भारत के समान चीन मे भी प्राचीन समय से हिड्नोकार्पुस के बीज कोढ़ की चिकित्सा में बरते जाते रहे हैं। ये बीज दक्षिण से आते थे। चीन में काम करने वाले विदेशियों का ध्यान इन की ओर अठारहवी शती के मध्य में खिचा। तातारिनो पहला व्यक्ति था जिसने 1856 मे चीनी भाषा के एक नाम से अपने कैटेलौक ऑफ़ चाइनीज मेडिसिन्स' (चीन की दवाओं की सूची) मे इनका उल्लेख किया। परन्तु इसने इसके अभिज्ञान का कोई प्रयत्न नही किया। 1850 और 1855 में एडिनबर्घ मेडिकल

जर्नल में बीजों की ओर ध्यान खींचा गया। 1855 में ओ' शौनेस्सी (O'shaughnessy) ने अपने 'बंगाल डिस्पेन्सेटरी' (बंगदेशीय औषधनिकाय) में इनका नाम दिया। 1858 में फ्रैन्ज नामक एक चिकित्सक ने तेल को परीक्षणात्मक रीति से पेरिस में प्रयोग किया। रौक्सबर्घ ने जो लिखा था कि बंगाल में भेषजीय उपयोग मे आने वाले बीज गाइनोकार्डिया ओडोराटा के होते है उससे प्रभावित हो कर 1862 मे हैन्बरी ने सुझाव दिया कि स्याम से चीन मे आयातित बीज चालमुग्रा की एक जाति भारतीय गाइनोकार्डिया ओडोराटा से समीपतः सम्बद्ध होगे। चीन के भेषज-द्रव्य पर अपने कार्य को उसने संवर्द्धित किया और 1876 मे संग्रहीत 'साइन्स पेपर्स' प्रकट हुए। इसमे इस औषध पर कोई अधिक सूचना नही सम्मिलित की गई।

1879 में सम्भवतः चालमुग्रा या (हिड्नोकार्पुस कुर्जी) के बीज, परन्तु ग़लती से गाइनोकार्डिया ओडोराटा के लेबल लगे हुए, रसायनतः परीक्षा किए गए और उनमे प्राप्त स्नेहाम्लों को गाइनोकार्डिक अम्ल नाम दिया गया। 1881 मे डौक्टर कौटल ने लण्डन में तेल से निर्मित इस 'गाइनोकार्डिक अम्ल' को परीक्षणतः कोढ़, सोरायसिस, प्रपामा (एग्जिमा), ल्यूपस आदि मे प्रयोग किया। अन्य डौक्टरों ने उनका अनुगमन किया। बाद मे पावर और गौरनौल ने अम्लों को ठीक-ठीक पृथक किया और उनको चालमुग्रिक तथा हिड्नोकार्पिक नाम दिया।

उन्नीसवी शती के अन्तिम वर्षों में देस्प्रेज ने परिस में औषध पर काम किया। इन्होने भारतीय बीज प्रयुक्त किये और अपना ले चालमुग्रा (Le chaulmoogra) 1900 में प्रकाशित किया। जिन बीजों पर इन्होने काम किया वे चालमुग्रा (हिड्नोकार्पस कुर्जी) के सिद्ध होते हैं परन्तु इन्होंने इनको गाइनोकार्डिया प्रेनी (*Gynocardia Prainii*) नाम दिया है। साथ ही इन्होने गाइनोकार्डिया ओडोराटा के फलों का सन्तोष-प्रद चित्रण किया। इन्होने मालूम कर लिया था कि कलकत्ते में चालमुग्रा के दो प्रकार के बीज हैं जिनमें गाइनोकार्डिया ओडोराटा के चिटगोंग से आते है। गाइनोकार्डिया प्रेनी (हिड्नोकार्पस कुर्जी) के बम्बई, लंडन, पेरिस और हेम्बर्ग को जाते हैं। सर डेविड प्रेन ने तुरन्त ही निरूपण किया कि देस्प्रेज का गाइनोकार्डिया प्रेनी ही टैराक्टोजेनोस कुर्जी अर्थात् हिड्नोकार्पस कुर्जी (Worb) है।

विष : तुवरकादि (हिड्नोकार्पस) के तेलो में मनुष्यों के विषाक्त होने के उदाहरण रिकौर्ड में है। जर्मनी मे एक घटना हुई थी। प्रतीत होता है कि खोजने पर ये दक्षिण भारत के बीज पता चले थे। इसलिए ये तुवरक (हिड्नोकार्पस वाइटियाना) या हिड्नोकार्पस वेनेवाटा के रहे होगे। विषैला पदार्थ क्या है, यह बिना निश्चित परिणाम तक पहुंचे विवादास्पद रहा। फिर भी कहा जाता है कि कई जातियो के बीजों को मछलियां खाती हैं। हिड्नोकार्पस हेटेरोफिल्ला (*Hydnocarpus heterophylla* Blume) के बीज चारे (bait) के रूप में प्रयोग करने का विवरण प्राप्त हुआ है।

उपयोग : तुवरकादि (हिड्नोकार्पस) गण के तेल पशु चिकित्सा में काठी के

घावों को ठीक करने के लिए और प्रलेपो के लिए प्रयुक्त होते हैं।

खली : भेषजीय तेल के निस्सारण के बाद खली खाद के काम आती है। तुवरक (हिड्नोकार्पस वाइटियाना) की खली नारियल के भ्रमरो (बीटल्स) का निग्रहण करने के साधन के रूप में आजमायी गई है। उनके छिद्रो मे इनका निग (प्लग) दे देते हैं। तुवरक और चालमुग्रा (हिड्नोकार्पस) की विविध जातियो की खली को पहिचानने की विधियां मंथीवाट (Tran. Lab. Mat .Med. Paris, 20, 1929, 6th. part.) ने दी हैं।

कुछ जातियों की लकड़ी उपयोगी है। इस गण की अनेक अन्य स्थानीय जातियां अब परीक्षणो के लिए बोई जा रही हैं।

चालमुग्रा का इतिहास : प्राचीन काल में, बुद्ध के समय से पूर्व, उत्तर भारत में एक राजा शासन करता था। इसका नाम ओक्-स-ग-रित (Ok-sa-ga-rit) था। इस राजा के पांच पुत्र और पांच कन्याएं थी। दूसरी रानी से एक पुत्र था। यह छठा पुत्र यद्यपि सबसे छोटा था परन्तु राजा ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इससे इन पांचों राजकुमारो ने घर-बार त्याग दिया। इनकी बहनों ने भी स्वेच्छा से वैसा ही किया। अपनी सबसे बडी बहन पिया को सब बहुत आदर और श्रद्धा से देखते थे। इसे कोढ़ हो गया। उसका दिल न दुखे इसलिए वे उसे कुछ कहते न थे। वन-विहार के बहाने एक दिन उसके भाई-बहन उसे जगल ले गये। एक गुफा के पास उन्होंने सब प्रकार की खाद्य सामग्री के साथ उसे छोड दिया। गुफा का द्वार बहुत सकरा था और वह सब तरह से सुरक्षित थी।

उसी काल में राम नाम का बनारस का एक पुराना राजा भी उन्ही जंगलो में रह रहा था। बनारस में वह कोढ से आक्रान्त हो गया था। राज-वैद्य जब उसे ठीक न कर सके तो वह राज-पाट छोड़कर यहां आ गया। जंगल के कन्द, मूल, फल खा कर वह गुजर करता। उस के भोजन के पदार्थो में कलव वृक्ष के फल और पत्ते मुख्य थे। कुछ काल बाद वह पूर्णतया ठीक हो गया और अपने महलों के भोग-विलास के जीवन से भी अधिक स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न अनुभव करने लगा। एक बड़े वृक्ष की खोह को ही वह घर बना कर रहता था।

पिया की गुफा के पास से गुजरते हुए किसी शेर को एक दिन मनुष्य की गन्ध आ गई। गुफा में घुसने के लिए उसने घोर प्रयत्न किए। डर के मारे पिया जोर से चीखने-पुकारने लगी। वृक्ष की खोह में बैठे राम ने उस आवाज को सुन कर उसकी दिशा का अनुमान कर लिया। अगले दिन वह आर्त्तनाद करने वाले ध्वनि की खोज में चला। गुफा तलाश करने पर वह चिल्लाया, 'गुफा में कौन ?' मनुष्य की आवाज सुन कर पिया ने उत्तर दिया और अपनी हालत का वर्णन किया। राम ने उसे बाहर आने को कहा, परन्तु स्त्रीसुलभ लज्जा और शील के कारण उसने इनकार कर दिया। राम जबरदस्ती गुफा में घुस गया और उसे अपने खोखले पेड़ पर ले गया। उसने उसे समब

वृक्ष के फल, जड़ें और पत्ते खिलाना शुरू किया। उसे भी तो इनसे आश्चर्यजनक लाभ हुआ था। पिया जल्द ही रोगमुक्त हो गई। राम ने उसे अपनी पत्नी बना लिया। पिया ने सोलह प्रसवों में बत्तीस बच्चों को जन्म दिया। एक दिन बनारस का एक शिकारी इधर आ निकला। उसने पहिचान लिया कि ये बनारस के पहले राजा हैं। इतने सारे छोटे कुमारों को देख कर उसने पूछा कि ये कौन हैं ? राम ने सब बता दिया। बनारस लौटने पर शिकारी ने राजा को सारी कहानी सुनाई। वह राजा राम का ही बेटा था। बड़े दलबल और साज-सामान के साथ वह राम के पास आया और महलों में वापस चलने की प्रार्थना की। राम ने यह कह कर मना कर दिया कि 'मैं यहां नया नगर बसा लूंगा। अपने आदमियों से इन सब कलव तरुओं को साफ करा दो।' नया शहर 'कल नगर' कहलाने लगा क्योंकि वह उस जगह पर बसाया गया था जहां किसी समय कलव तरु उगे हुए थे। इस स्थान पर शेर अपना शिकार खाया करते थे, इसलिए यह व्याघ्राप्त (Byetgyapata) नाम से भी प्रसिद्ध हो गया। राम का लड़का तब बनारस लौट गया।

कलव वृक्ष में कोढ के आरोग्यकारी गुणों को बर्मी लोग इस कथा द्वारा बताया करते हैं। भारत के प्राचीन साहित्य मे मैं इस कथा को अभी खोज नही पाया हूं। श्री जोसेफ एफ़ रॉक ने केवल वृक्ष (टैराक्टोजेनोस कुर्ज़ी, असली चालमुग्रा) के सम्बन्ध मे उपर्युक्त कथा का अंग्रेजी अनुवाद उद्धृत करते हुए बताया है कि यह कथा महावंश (Mahawin) मे वर्णित है जिस मे बुद्ध और उन के बोधिसत्वों (Rohandas) का इतिहास है।

विविध भाषाओं में नाम : हिन्दी तथा अंग्रेजी मे चालुमुग्रा और बगाली मे चाउल-मुग्रा कहते है। वेब्स्टर, चेम्बर आदि कोषों मे इस शब्द की निष्पत्ति बंगला से की है। चौल या चावल का अर्थ है चावल। वेब्स्टर (जिल्द 1, पृष्ठ 456) में मुग्रा को एक तन्तुमय पौदा बताया है जिसका औद्भिदी नाम है (*Sansevierla zeylanica*)।

गैथरकोल और बर्थ (1932) ने बताया है कि चालमुग्रा बर्मी नाम है। मुझे यह ठीक प्रतीत नही होता। रौक (1922) और बकिल (1935) की रचनाओ से भी इस बात की पुष्टि नही होती। इन दोनों अन्वेषको ने दिखाया है कि बर्मी लोग इस जाति को अतिशय साधारण रूप से कलव (Kalaw) कहते हैं। परन्तु अकेली यही जाति नही है, जिसे यह नाम दिया जाता है। वृक्ष को बर्मा मे कलवबिन और फलो को कलवयी कहते हैं। मलय नाम पर विचार करते हुए बकिल ने दिखाया है कि बर्मी नाम मलय मे कुलाउ (kulau) के रूप मे पहुंचा जो अन्य जातियो के लिए प्रयुक्त होता है।

इसका असमी नाम लेमताम, आराकानीज़ नाम तोङ्-पुङ्, मिकिर नाम थिबोङ्-थार, कोचीन नाम सेर-चुलि-बाफङ् और मिरि नाम सीरी-एसिंग है।

ऐलोपैथी के चिकित्साग्रन्थों मे औद्भिदी (बोटेनिकल) नाम के सम्बन्ध मे बहुत सम्भ्रम रहा है। वर्गीकर औद्भिदी (सिस्टैमेटिक बोटनी) मे आजकल इसे हिड्नोकार्पस

Hydnocarpus Kurzii)-(King) Warb.] कहते है। इसके पुराने नाम ऐंस कुर्ज़ी (*Taraktagenos kurzii* King.) और गाइनोकार्डिया प्रेनी *prainii* Desprez.)।

टारोक्टोजेनोस ग्रीक से बना है। इस का अर्थ है कन्फ्यूज्ड। यह इस तथ्य की केत करता है कि यह गण (genus) आरम्भ में हिड्नाकार्पस गण से कन्फ्यूज्ड ।। सल्पिज़ कुर्ज़ नामक औद्भिदविद् के सम्मान मे नाम पड़ा।

मराठी मे चालमुग्रा को कडु-क्वत्य और तमिल मे निरडिमुट्टु कहते है।

आधुनिक इतिहास : सयुक्त राज्य के कृषि विभाग की विवरणिका (बुलेटिन) 057 (वाशिंगटन, 24 अप्रैल, 1922) मे डेविड फेयर चाइल्ड का चालमुग्रा पर है। विदेशी बीज और पौदो के अमेरिका आगमन के सम्बन्ध मे अनुसन्धान ले कार्यालय के ये अध्यक्ष है। इन्होने दिखाया है कि यद्यपि भारतवासी चाल-. को सैकड़ो सालो से कोढ़ की चिकित्सा मे बरत रहे है परन्तु सर्वसाधारण ने ही मे इसमे अभिरुचि लेनी शुरू की है। इसका कारण यह है कि हवाई द्वीपो में होलमैन, डान और मैक्डोनल्ड को इस तेल के कुछ तत्वो द्वारा इस रोग की ।। में सफलता मिली थी। इससे प्रभावित होकर यह आवश्यक समझा गया कि । के बीजो का वास्तविक स्रोत खोजा जाए। इस विभाग की ओर से तब प्रोफे- ने इसकी औद्भिदी खोज की। उनकी खोजे बहुत प्रामाणिक है और सर्वाधिक । मूल स्रोत जानने के लिए रौक स्वयं बर्मा, स्याम और भारत के गहन जगलो मे . पौदे के लम्बे इतिहास मे पहली बार उन्होने चालमुग्रा और उसके भेदो तथा के फोटो लिए, इनका सग्रह किया और इनके बारे मे प्रामाणिक जानकारी की। उनके निबन्ध से मैंने इस पुस्तक मे भरपूर सहायता ली है।

अन्वेषकों की भूलो का सिलसिला : डॉक्टर विलियम रॉक्सबर्घ ने 1814 मे .. बेंगालेन्सिस मे कलव (चालमुग्रा, टैराक्टोजेनोस कुर्ज़ी) के बीजो को चालमुग्रा के बीज सूचित किया था। लगभग सौ साल तक यह मान्यता स्वीकार की ा। चालमुग्रा तेल का स्रोत यह वृक्ष स्वीकार किया जाता रहा। 1819 में आर. (प्लाण्ट्स ऑफ दि कोस्ट ऑफ़ कोरोमण्डल सिलेक्टेड फ्रोम ड्रॉइंग्स एण्ड डिस्क्रि-प्टेड टु दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी, जिल्द 3, पृष्ठ 95, लण्डन) ने पौदे को ।: ओडोराटा के नाम के अन्तर्गत वर्णन किया है। रोक्सबर्घ के चालमुग्रा ा नाम को इसने अमान्य कर दिया। ओ. वारबर्ग (1894, पृष्ठ 22, चित्र) ने टैराक्टोजेनोस कुर्ज़ी (King) के बीज़ो को गाइनोकार्डिया ओडोराटा *..dia odorata* R. Br.) के रूप मे चित्रित किया।

एम. जी. देस्प्रेज नामक एक फ्रेंच फ़ार्मासिस्ट था जिसने पहले-पहल यह खोजा (जिन्हे अब होड्नोकार्पस कुर्ज़ी के बीज समझा जाता है) गाइनोकार्डिया ओडो-नही हैं। उसने निर्धारित किया कि ये इस गण की दूसरी जाति के है। भारत के

वृक्ष के फल, जड़ें और पत्ते खिलाना शुरू किया। उसे भी तो इनसे आश्चर्यजनक लाभ हुआ था। पिया जल्द ही रोगमुक्त हो गई। राम ने उसे अपनी पत्नी बना लिया। पिया ने सोलह प्रसवो में बत्तीस बच्चो को जन्म दिया। एक दिन बनारस का एक शिकारी इधर आ निकला। उसने पहिचान लिया कि ये बनारस के पहले राजा हैं। इतने सारे छोटे कुमारो को देख कर उसने पूछा कि ये कौन हैं? राम ने सब बता दिया। बनारस लौटने पर शिकारी ने राजा को सारी कहानी सुनाई। वह राजा राम का ही बेटा था। बड़े दलबल और साज-सामान के साथ वह राम के पास आया और महलों में वापस चलने की प्रार्थना की। राम ने यह कह कर मना कर दिया कि 'मैं यहां नया नगर बसा लूगा। अपने आदमियों से इन सब कलव तरुओं को साफ करा दो।' नया शहर 'कल नगर' कहलाने लगा क्योंकि वह उस जगह पर बसाया गया था जहां किसी समय कलव तरु उगे हुए थे। इस स्थान पर शेर अपना शिकार खाया करते थे, इसलिए यह व्याघ्राप्त (Byetgyapata) नाम से भी प्रसिद्ध हो गया। राम का लड़का तब बनारस लौट गया।

कलव वृक्ष में कोढ के आरोग्यकारी गुणों को बर्मी लोग इस कथा द्वारा बताया करते हैं। भारत के प्राचीन साहित्य मे मैं इस कथा को अभी खोज नही पाया हूं। श्री जोसेफ एफ़ रॉक ने केवल वृक्ष (टैरावटोजेनोस कुर्जी, असली चालमुग्रा) के सम्बन्ध में उपर्युक्त कथा का अंग्रेजी अनुवाद उद्धृत करते हुए बताया है कि यह कथा महावंश (Mahawin) मे वर्णित है जिस में बुद्ध और उन के बोधिसत्वों (Rohandas) का इतिहास है।

विविध भाषाओं में नाम : हिन्दी तथा अंग्रेजी मे चालुमुग्रा और बंगाली मे चाउल-मुग्रा कहते है। वेब्स्टर, चेम्बर आदि कोषों मे इस शब्द की निष्पत्ति बंगला से की है। चौल या चावल का अर्थ है चावल। वेब्स्टर (जिल्द 1, पृष्ठ 456) मे मुग्रा को एक तन्तुमय पौदा बताया है जिसका औद्भिदी नाम है (*Sansevieria zeylanica*)।

गैथरकोल और बर्थ (1932) ने बताया है कि चालमुग्रा बर्मी नाम है। मुझे यह ठीक प्रतीत नही होता। रौक (1922) और बर्किल (1935) की रचनाओ से भी इस बात की पुष्टि नही होती। इन दोनों अन्वेषकों ने दिखाया है कि बर्मी लोग इस जाति को अतिशय साधारण रूप से कलब (Kalaw) कहते हैं। परन्तु अकेली यही जाति नही है, जिसे यह नाम दिया जाता है। वृक्ष को बर्मा मे कलवबिन और फलों को कलवथी कहते हैं। मलय नाम पर विचार करते हुए बर्किल ने दिखाया है कि बर्मी नाम मलय मे कुलाउ (kulau) के रूप में पहुंचा जो अन्य जातियों के लिए प्रयुक्त होता है।

इसका असमी नाम तेमताम, आराकानीज नाम तोङ्-पुङ्, मिकिर नाम थिबोङ्-थार, कोचीन नाम सेर-बूलि-वाफङ् और मिरि नाम सीरी-एसिंग है।

ऐलोपैथी के चिकित्साग्रन्थो मे औद्भदी (बोटेनिकल) नाम के सम्बन्ध में बहुत सम्भ्रम रहा है। वर्गीकर औद्भिदी (सिस्टेमेटिक बौटनी) में आजकल इसे हिड्नोकार्पस

और वमन पैदा करता है। इसी तरह जिस मछली को बीज खिलाये गए हैं वह नही खानी चाहिए।

ज्वरहर : इस वृक्ष की छाल, कहते हैं कि ज्वरहर के रूप मे बरती जाती है। इसमे शल्कि (टैनीन) का बड़ा परिमाण रहता है। इससे बनाये गए फाण्ट मे कड़वे बादामों के उत्पत तेल की गन्ध आती है।

कुष्ठ : कुष्ठ की अत्यन्त मूल्यवान् अगद है। चिकित्सा-क्रम लगातार पांच बरस या अधिक देर तक जारी रखते हुए मुख द्वारा और अधश्चर्म द्वारा दवा देनी चाहिए। कुष्ठ की बढ़ी हुई गंथिमय अवस्थाओं मे तीन से पाँच घनशतिमान (c. c.) की मात्राओं मे तेल पेश्यन्त: दिया जाना चाहए। सूचिवेध हर तीन के बाद लगाने चाहिएँ। रोगी सहन कर सके तो यह क्रम पाँच महीने से अधिक देर तक चलाना चाहिए। यूनानी में चालमुग्रा तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अन्तः और बाह्य प्रयोग मे कुष्ठ, क्षय, सोरायसिस, अड़ियल प्रपामा और दूसरे त्वचा के रोग, पुराना आमवात तथा गठिया और तपेदिक में इसकी सिफ़ारिश की जाती है। चालमुग्रा के भेषजीय उपयोग तुवरक के समान हैं।

॥

और वमन पैदा करता है। इसी तरह जिस मछली को बीज खिलाये गए हैं वह नही खानी चाहिए।

ज्वरहर : इस वृक्ष की छाल, कहते है कि ज्वरहर के रूप में बरती जाती है। इसमें शल्कि (टैनीन) का बड़ा परिमाण रहता है। इससे बनाये गए फाण्ट में कड़वे बादामों के उत्पत तेल की गन्ध आती है।

कुष्ठ : कुष्ठ की अत्यन्त मूल्यवान् अगद है। चिकित्सा-क्रम लगातार पांच बरस या अधिक देर तक जारी रखते हुए मुख द्वारा और अधश्चर्म द्वारा दवा देनी चाहिए। कुष्ठ की बढ़ी हुई गंधिमय अवस्थाओं में तीन से पांच घनशतिमान (c. c.) की मात्राओं में तेल पेश्यन्तः दिया जाना चाहिए। सूचिवेध हर तीन के बाद लगाने चाहिएँ। रोगी सहन कर सके तो यह क्रम पांच महीने से अधिक देर तक चलाना चाहिए। यूनानी में चालमुग्रा तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अन्तः और बाह्य प्रयोग में कुष्ठ, क्षय, सोरायसिस, अड़ियल प्रपामा और दूसरे त्वचा के रोग, पुराना आमवात तथा गठिया और तपेदिक में इसकी सिफ़ारिश की जाती है। चालमुग्रा के भेषजीय उपयोग तुवरक के समान हैं।

(ether extraction) रीति द्वारा परिमाण बढ़ कर 38.1 प्रतिशत पहुंच जाता है। दोनों रीतियों से प्राप्त तेलों के गुण इस प्रकार हैं :

	निष्पीड़ित तेल	दक्षु द्वारा निस्सारित तेल
द्रावांक (melting point)	22 – 23° शतांश	22 – 23° शतांश
आपेक्षिक गुरुत्व, 25° शतांश पर	0.951	0.952
अम्ल अर्हा (acid value)	23.9	9.5
साबुनीकरण अर्हा	213.0	208.0
जाम्बुकी अर्हा (iodine value)	103.2	104.4
आपेक्षिक आर्वत (specific rotation)	+52.0°	+51.3°

पावर और उनके सहायकों (1904) ने चालमुग्रा तेल की रसायन (केमिस्ट्री) पर बड़े विस्तार से काम किया। उन्होंने पाया कि तेल मे दो या अधिक नये स्नेहाम्लों (fatty acids) के मुख्यतया मधुर प्रलवण (glyceryl esters) विद्यमान होते हैं। पृथक् किये गए नए अम्ल पूर्वज्ञात स्नेह अम्लों से भिन्न हैं। ये अम्ल काशितावान् (optically active) होने और दक्षावर्त (dextrorotatory) होने मे अनन्य है। अन्वेषकों ने इनका नाम चालमुग्रिक और हिड्नोकार्पिक अम्ल रखा। यह सम्भव है कि इन अम्लों में जो रोगाणुओं को नष्ट करने के तथा भेषजीय विशिष्ट गुण विद्यमान हैं वे किसी रूप में इनके व्यूहाण्वीय घटक (molecular constitution) से सम्बद्ध हों।

इन दो अम्लों के अतिरिक्त चालमुग्रा तेल में तालिक (palmitic) अम्ल का अल्प परिमाण होता है। रेनशौल और डीन (1924) ने एक अन्य अत्यधिक अनतुविद्ध (unsaturated) अम्ल पाया है जिसकी जम्बुकी संख्या (iodine-number) 168.3 है। ताजे बीजों मे उदश्यामिक (hydrocyanic) अम्ल होता है जो गिरियों का लगभग 0 036 प्रतिशत होता है। बाद के अनुसंधान दिखाते हैं कि तेल में टैराक्टोजिनिक (taraktogenic) अम्ल, आइसोगैडोलीक (isogadoleic) अम्ल और सम्भवतः मूमुद्गिक (arachidic) अम्ल भी उपस्थित हैं।

खराब तेल : बाजार में बिकने वाला तेल प्रायशः दुर्वासित और गहरा भूरा होता है। प्रायःकर पुराने बीजों से निकाला गया होने से यह चिकित्सा गुणों से शून्य होता है।

उपयोग : सिक्किम की पहाड़ी कबीले चालमुग्रा (टैराक्टोजिनोस कुर्जी) के फल के गूदे को मछलियों को विषाक्त करने के लिए प्रयोग करते हैं। पानी के साथ उबालने के बाद वे कभी-कभी गूदे को भोजन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। रौक (1922) कहते हैं कि भालू फल के गूदे के बहुत शौकीन हैं। जंगली सूअर बीजों को खा जाते हैं। जो सूअर इन बीजों का आहार बना रहे हैं उनके मांस को खाना अच्छा नहीं है क्योंकि यह मतली

और वमन पैदा करता है। इसी तरह जिस मछली को बीज खिलाये गए हैं वह नहीं खानी चाहिए।

ज्वरहर : इस वृक्ष की छाल, कहते है कि ज्वरहर के रूप मे बरती जाती है। इसमे शल्कि (टैनीन) का बड़ा परिमाण रहता है। इससे बनाये गए फाण्ट में कड़वे बादामों के उत्पत्त तेल की गन्ध आती है।

कुष्ठ : कुष्ठ की अत्यन्त मूल्यवान् अगद है। चिकित्सा-क्रम लगातार पांच बरस या अधिक देर तक जारी रखते हुए मुख द्वारा और अधश्चर्म द्वारा दवा देनी चाहिए। कुष्ठ की बढ़ी हुई ग्रंथिमय अवस्थाओ मे तीन से पाँच घनशतिमान (c. c.) की मात्राओं में तेल पेश्यन्तः दिया जाना चाहिए। सूचिवेध हर तीन के बाद लगाने चाहिएँ। रोगी सहन कर सके तो यह क्रम पांच महीने से अधिक देर तक चलाना चाहिए। यूनानी मे चालमुग्रा तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क है। अन्तः और बाह्य प्रयोग में कुष्ठ, क्षय, सोरायसिस, अड़ियल प्रपामा और दूसरे त्वचा के रोग, पुराना आमवात तथा गठिया और तपेदिक में इसकी सिफ़ारिश की जाती है। चालमुग्रा के भेपजीय उपयोग तुवरक के समान हैं।

: बारह :

तुवरक

विविध भाषाओं में नाम :

कश्मीरी	गरुड फल।
तमिल	मखत्तायि, निरडिमुट्टु, पेट्टि, मरवेट्टि।
तेलगु	अडविबादामु, निरडी विट्टुलु (बीज)।
दक्षिणी	जंगली बादाम (बीज)।
बम्बई	कौटी, कोवटी, कव।
मराठी	कडुकवीठ, कडुकवटी, कोवटी, कडुक्वट।
मलयालम	कोडि, मरवेट्टि, नीरवेट्टि।
संस्कृत	तुवरक (तवति हिनस्ति रोगान्—रोगों को नष्ट करने वाला); कटुकपित्थ (कड़वा कैथ)।

औद्भिदी नाम : साहित्य में प्रायः सर्वत्र हिड्नोकार्पस वाइटिआना ब्लूम (*Hydnocarpus wightiana* Blume.) नाम मिलता है। वाइट नामक औद्भिदीविद् के सम्मान में वाइटिआना नाम रखा गया था। अब यह नाम बदल दिया गया है। इस वृक्ष का नया नाम हिड्नोकार्पस लाउरिफोलिआ [*Hydnocarpus laurifolia* (Dennst) Sleumer] रखा गया है।

मजुमदार (1948), घोष (1940) आदि ने सुश्रुत के तुवरक के साथ हिड्नोकार्पस वाइटिआना का ऐकात्म्य दिखाया है।

प्राकृत-वास तथा विस्तार : तुवरक के बड़े सुन्दर वृक्ष प्रायद्वीप के पश्चिम भाग में आम मिलते हैं। उष्ण प्रदेशीय (tropical) वनों में पश्चिमीय घाटों के साथ-साथ कोंकण से दक्षिण की ओर तथा घाटों के नीचे कनारा और मलाबार में, आर्द्र स्थानों में विशेषतः पानी के पास, यह एकप्रदेशीय (endemic) है। त्रावनकोर में 610 मीटर की ऊंचाई पर यह बहुत साधारणतया रोपा जाता है।

प्राकृत-वास में प्रकेवल (absolute) अधिकतम छाया तापमान 94° से 99° फार्नहाइट तक और प्रकेवल (at solute) न्यूनतम लगभग 60° होता है। वहां साधारणतया वर्षापात (normal rainfall) 225 से 450 सेन्टीमीटर या अधिक भी होता है।

सुश्रुत ने, उसके टीकाकार डल्हण ने और बाद मे कैयदेव (1450 ई० पश्चात्) ने भी पश्चिम समुद्र की समीप की भूमि में तुवरक के वृक्षो का मिलना बताया था।

कृषि : जोर्जो, बक्ली और गुन ले टीक (1132) ने रिकॉर्ड किया है कि हिड्नोकार्पस एन्थेल्मिण्टिका के बीजों मे लगभग दुगुना तेल होता है। दूसरी जाति की तुलना में इस जाति से हिड्नोकार्पस अम्ल और उसके साथ चालमुग्रिक अम्ल कही शुद्धतर अवस्था में प्राप्त किए जा सकते है। इसलिए इन अन्वेषको के विचार मे इस जाति को रोपण मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

मलय प्रायद्वीप में यह वृक्ष झट उग आता है।

पहचान : सुन्दर छायादार पर्णावली का यह सदा हरा नौ से पन्द्रह मीटर ऊंचा वृक्ष है। छाल वभ्रु और किंचित खर, लकड़ी श्वेत (whitish); पत्ते दस से पन्द्रह सेण्टीमीटर लम्बे, सीताफल के पत्ते जैसे, मसृण और चमकदार होते है।

सफेद गुच्छों में फूल फरवरी-मार्च में निकलते है। मई और जून मे फल पकते है। फल गोल, लगभग सेव जितना या कैथ जितना वड़ा, पांच से दस सेन्टीमीटर व्यास का, छिलका मोटा, कठोर, चूचुकरूप (mammillate), खर और वभ्रु वर्ण का (brown); कच्चे का छिलका हरा होता है। फल के अन्दर श्वेत रंग का स्वल्प गूदा होता है जो बीजों के साथ दृढ़ता से चिपका रहता है। लगभग ढाई सेन्टीमीटर लम्बे दस से वीस बीज गूदे मे न्याविष्ट रहते हैं। कोई 25-30 बीजों का भार एक औस होता है। फल पर से जब छिलका उतारा जाता है तो बीज-चोल की वाहरी सतह दीखती है। बीज-चोल काला, पतला और इसकी वाहरी सतह खुरदरी होती हैं। इस पर लम्बाई के रुख उथले गड्ढे-पड़े होते है। कवच के अन्दर प्रचुर तैलीय श्विति (एल्ब्यूमिन) रहती है जिसमें दो वडे, सादे, हृदय-आकृति, पत्रसम (leafy), बीजपत्र (कौटिलीडन्स) रखे रहते हैं। चालमुग्रा (टॅरावटोजिनोस कुर्जी) मे भी ऐसा ही होता है। ताजे बीजो में यह श्विति का रंग सफेद होता है; परन्तु सूखे बीजो में यह गहरे वभ्रु वर्ण मे परिणत हो जाता है। इसकी गन्ध चालमुग्रा से मिलती है।

अंकुरण : बीजो में उगने की शक्ति देर तक नही वनी रहती। भूमि पर गिरने के बाद वरसात मे ये जल्दी ही अंकुरित हो जाते हैं। तुवरक के बीज का अकुरण उपरिभूमिक (epigeous) है। बीज के फूलने के साथ शाङ्गबीज-चोल (horny testa) फटता है जिससे मृदु आश्वेत श्विति का उद्घाटन हो जाता है। बीज-पत्रों (cotyledons) को यह श्विति इस प्रकार समावृत किए रहती है जैसे कि थैले मे रखी हुई हो। अधिमूल (taproot) कुछ समय तक कुछ इंच लम्बी विकसित हो चुकी होती है। बीज-चोल सामान्यतया भूमि मे छूट जाता है जब कि श्विति ऊपर ले जाई जाती है और बीज-पत्रो के फैलने के साथ गिर जाती है।

डल्हण और कैयदेव (1450 ईस्वी पश्चात्) का वर्णन कुछ भ्रमात्मक प्रतीत

(90 प्रतिशत) में अंशतः अविलेय है, परन्तु गरम सुषव (90 प्रतिशत) में लगभग पूर्णतया विलेय है। दक्षु के साथ, नीरवम्रण के साथ और प्रांगार द्विगुल्वेय (कार्बन डाइसल्फाइड) के साथ मिल जाता है।

संग्रह करने के लिए निर्देश : सुश्रुत कहते है कि 'पश्चिम समुद्र के किनारे की भूमि में पैदा हुए तुवरक के जिन वृक्षो के पत्तो को समुद्र की लहरो की वायु कंपाती रहती है उनके खूब पके हुए फल वर्षा ऋतु के आरम्भ में इकट्ठा कर लें।' पिछले पृष्ठों में हमने दिखाया है कि आधुनिक अन्वेषक भी सुश्रुत से सहमत है और चिकित्सा के लिए उत्कृष्ट तेल प्राप्त करने के निमित्त इसी समय मे बीजो को इकट्ठा करने पर बल देते है।

व्यापार : एड्गर थर्स्टन (1893) के अनुसार कलकत्ते मे चालमुग्रा के बीजो का मूल्य सामान्यतया पाच से सात रुपये मन (82 पौण्ड) रहता था। मडियो मे बीज वर्षा की समाप्ति पर आते थे। जुलाई मे बीजो की कमी हो जाने से दाम तेरह रुपये प्रति मन तक चढ जाता था। थोक मे तेल का दाम साठ से सत्तर रुपये मन था। फुटकर बिक्री ढाई से तीन रुपये प्रति पौंड थी। बम्बई के सम्बन्ध में डिमक ने लिखा था कि बीज कलकत्ते से आते है और पन्द्रह रुपये मन (बंगाली मन = 80 पौड), पड़ते है। मद्रास के यूरोपियन हॉस्पिटलों में उन दिनो एक ठेकेदार तेल दिया करता था, वह कलकत्ता से मंगाये बीजो को पेर कर तेल निकालता था।

तेल निकालना : पाश्चात्य चिकित्सा मे ओलियम हिड्नोकार्पि नाम से जो तेल बरता जाता है वह हिड्नोकार्पस वाइटिआना (तुवरक) के अभिनव पक्व बीजो से शीत निष्पीड़ित होता है। बीजों मे से गिरियों को निकाल कर साफ कर लेते है। सुश्रुत ने तेल निकालने की दो विधिया लिखी हैं। पहली विधियो मे गिरियों को कूट कर तिलो की तरह कोल्हू में पेर लेते हैं। शुष्क निष्पीड़न की यह विधि सरल है। दूसरी विधि कुछ पेचीदा है। इसमें गिरियों के चूरे को पहले पानी में पकाते है। ऊपर आया हुआ तेल नितार कर इकट्ठा करते जाते है। इसमें पानी का कुछ अंश भी साथ आ जाता है। आग पर रख कर उसे उड़ा देते हैं। दोनो ही तरीको से प्राप्त तेल को घड़े में बन्द करके कंडों के चूर्ण की खत्ती में पन्द्रह दिन रखना चाहिए। बाद में निकाल कर छान कर शीशियो में भरना चाहिए। सम्यक्तया बन्द आधान में प्रकाश से बचाकर तेल को ठंडे स्थान पर रखना चाहिए। इस तेल को तीन गुने खैर की लकड़ी के काढ़े में पका कर पहले की तरह ही पन्द्रह दिन रख छोड़ें तो यह विशेष गुणकारी हो जाता है।

मन्त्र-पूत करने की विधि : निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके सुश्रुत इस तेल को देना प्रशस्त समझते हैं—'सारवान् मज्जा वाले, अत्यन्त क्रियाशील ओ तुवरक के तेल! तुम इस रोगी के रस, रक्त आदि सब धातुओं को शुद्ध करो। शख, चक्र और गदा को हाथ में धारण करने वाले अच्युत रूप विष्णु भगवान् तुम्हें यह आज्ञा दे रहे है।'

गुण : भिलावे के समान गुणकारी बताते हुए सुश्रुत ने तुवरक तेल के गुण इस

तेल के व्युत्पन्न पदार्थ अधिक क्रियाशील हैं। कहा जाता है कि सम्पूर्ण स्नेहाम्लों के सोडियम लवणों चालमुग्रेट्स-- में यक्ष्मदंडाणु के विरुद्ध शाकाणु नाशक और शाकाणु स्थापक क्रियाशीलता उच्च अंश में विद्यमान थी जब कि परीक्षणों में चालमुग्रेट्सएक लाख में एक जैसे मन्द अवमिश्रणों में दिए गए थे। कहा जाता है कि यह प्रभाव इनकी अपनी ही विशेषता है क्योंकि स्नेहमीन-यकृत्-तैल (कौड-लिवर-औयल) आदि सदृश तेलों में पाए जाने वाले गाढ़-सम्बद्ध स्नेहाम्लों में भी यह प्रभाव नहीं देखा जाता। कहा जाता है कि चालमुग्रा तेल के किसी भी अम्ल क्षारातु लवण (acid sodium salts) या स्नेहाम्लों के प्रलवणों द्वारा वंटमूयों (गिनिपिगों) को अड़तालीस घंटे तक अन्तर्विकास (incubation) कर देने से प्रचण्ड यक्ष्म-दंडाणुओं के निलम्बन भी हानिरहित हो जाते हैं। श्वेत पुञ्जगोलाणुओं (स्टेफिलोकोकस एल्बस) और अन्य सम्बद्ध जीवाणुओं पर प्रलवणों (esters) का कोई विरोधी प्रभाव नहीं पाया गया।

नितान्त कोपी : चाहे जिस मार्ग द्वारा दिया जाए चालमुग्रा तेल नितान्त कोपी (irritating) है। मुख द्वार तीन से चार बूंद दिया गया तेल मतली और वमन पैदा करता है परन्तु इसके प्रति सहिष्णुता विकसित कर लेना सम्भव है। जिससे एक ही मात्रा में पन्द्रह बूंद तक लिया जा सकता है। न केवल तेल परन्तु स्नेहाम्लों के क्षारातु लवण तथा प्रलवन भी प्रबल कोपी कार्य करते हैं। ऊतियों में इन दवाओं का सूचिवेध वेदनापूर्ण होता है और स्थानीय अर्बुद बन सकता है।

विष लक्षण : चालमुग्रा के व्युत्पन्नों (डेरिवेटिव्स) को सूचिविद्ध करने से कभी-कभी प्रकट हो जाने वाले विष लक्षणों को वेड, सारा और निकल्स (1924) ने इस प्रकार अभिलेख किया है—सूचिवेध के स्थान पर वेदना तथा काठिन्य (induration) और कदाचित् सिरदर्द, मालस्य (malaise), चक्कर आना (dizziness), ज्वर, अनिद्रा, उदर में वेदना, मतली की सामान्य संवेदना, छाती में दर्द, स्नायुशोथ तथा धमनी की संवेदना और निरविनेह (एल्ब्यूमिनूरिया)। विलियम टेब (1893) ने निम्नलिखित [illegible] का उल्लेख किया है—शरीर में [illegible] गड़बड़, जैसे [illegible] की [illegible] और [illegible] जिसमें [illegible] और [illegible] (waxy) [illegible]; शरीर के विभिन्न भागों में [illegible] प्रकट हो जाती हैं। [illegible] उत्स्फोट (eruptions) निकल आते हैं। [illegible] या ज्वर प्रकट हो जाता है, ये [illegible] हो जाते हैं।

गेड ने अन्य [illegible] के [illegible] निम्नलिखित का उल्लेख किया है चालमुग्रा तेल या इसके व्युत्पन्नों से ये [illegible] हो सकते हैं। [illegible] चालाधन पर स्थानीय [illegible] कारण [illegible] भी यह प्रभाव होता है। [illegible] (infil-tration)। [illegible]

कैल्शियम की कमी कर देती हैं।

बीज तथा तेल को मुख द्वारा देना : त्वचा के कुछ रोगों मे और विशेषतया त्वचा के कुष्ठीय प्रविकारों (lesions) में चालमुग्रा भारत मे देर से प्रयोग किया जा रहा है। मूलत: चालमुग्रा के बीज मुख द्वार दिए जाते थे, परन्तु यह असन्तोषजनक पाया गया। इसलिए बीजों से निष्पीडित तेल बरता जाने लगा। बीज हों या तेल दोनो को ही मुख द्वारा देने से मतली और वमन पैदा होती है जिससे ये देर तक जारी नही रखे जा सकते। इसलिए इस भेपज को पेश्यन्तः और सिरान्तः क्षेत्रण के पक्ष में मुख द्वारा देना अधिकतर उपेक्षित हो गया। बाद मे कुछ चिकित्सकों ने मुख द्वारा देने की पुन: वकालत की। चिकित्सा केन्द्रों में जो कुष्ठ रोगी नियमित रूप से नहीं पहुच सकते उनको तो मुख द्वारा देने के लिए विशेष रूप से कहा गया। तब, आमाशय पर तेल के कोपी कार्य को वश में करने के लिए प्रयत्न किए गए। इसके लिए इसे शृंगी-आवृत्त प्रावरों (keratin-coated capsules) में भरकर या डेन्नी (1929) के सुझाव के अनुसार धूपाचेतनी (benzocaine) से संयुक्त करके देना ठीक समझा गया। ट्रॅवर्स (1926) ने मलय-संघान राज्य (फेडरेटेड मलय स्टेट्स) मे पुरानी चीनी चिकित्सा को पुन: जीवित किया जिसमें ता-फ़ॅग-त्जु (हिड्नोकार्पस ऐन्थेल्मिंटिका) के पूर्ण बीजो के चूर्ण को दो भाग और भारतीय भाग को एक भाग मिला कर दिया जाता है। वेसन और बंजर (1928) ने प्रलवणों की एक निर्मिति का प्रयोग किया जो बिना असुविधा के मुख द्वारा दी जा सकती है। दे एग्वायर प्यूपो (1926), रौड्रिग्वेज़ (1925) और लिडौव (1927) द्वारा किए गए अनुसधानो के प्रकाश मे यद्यपि यह मना नही किया जा सकता कि चालमुग्रा का मुख द्वारा देना निश्चित रूप से लाभदायक है तथापि यह अवश्य अनुभव किया जाता है कि इस मार्ग द्वारा बड़ी मात्राओ मे इसे देना बहुत कठिन है और इस कारण सफलता के लिए आवश्यक है कि चिकित्सा का क्रम दीर्घकाल तक चलाया जाए। बहुत से उदाहरणो मे ऐसा करना असम्भव हो सकता है।

चालमुग्रा तेल (ओलियम गाइनोकार्डियम), और इसी के सदृश तुवरक तेल मुख द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ती गई मात्राओ मे कुष्ठियो को दिया जाता है। दिन में तीन बार तीन बूंद से आरम्भ करके धीरे-धीरे तीस बूंद तक दिन में तीन बार प्रावरों (कैप्सूल्स) में बन्द करके देते है।

पेशी द्वारा चालमुग्रा तेल : पेश्यन्त:मार्ग द्वारा चालमुग्रा तेल को देना अगला महत्त्वपूर्ण पग था। तेल क्योंकि स्वतः ही बहुत कोपी है, मर्केडो (1914) ने एक ऐसी निर्मिति के उत्पादन का प्रयत्न किया जो ऊतियो के लिए अल्प कोपी सिद्ध हो। इन्होंने एक ऐसे मिश्रण का प्रयोग किया जिसमे वेदना को मारने के लिए साठ घन शतिमान (c.c.) चालमुग्रा तेल मे साठ घन शतिमान कर्पूरित तेल मिला लिया था और प्रति-पूय (ऐण्टिसेप्टिक) के रूप में इसी मिश्रण मे चार धान्य (ग्राम) शेयास (resorcin) मिश्रित कर दिया था। हीसेर (1914) ने इस मिश्रण द्वारा रोगियो की एक अल्प श्रेणी

की चिकित्सा की और 11.1 प्रति शत प्रत्यक्ष अरोग्यता का निरूपण किया। हीजर का योग एक घन शतिमान घन से तीन घन शतिमान की मात्रा में सप्ताह मे एक बार त्वचा के नीचे दिया जाता है। कर्नल चोपड़ा (1933) ने दिखाया कि यह चिकित्सा भी अधिकतर परित्यक्त हो गई क्योकि अन्त.क्षेपण (इन्जेक्शन) के स्थान पर पैदा होने वाली वेदना के कारण रोगी इस इलाज के लिए इन्कार कर देता है।

पेशी द्वारा दक्षुल प्रलवण : 1919 में डीन ने चालमुग्रा के समग्र स्नेहाम्लों से दक्षुल प्रलवण (इयाइल ऐस्टर्स) तैयार किए। 1920 में कलकत्ते में सम्पन्न कुष्ठ सम्मेलन के विवरण से यह भी स्पष्ट है कि भारत में डीन से स्वतन्त्र रूप में सुधामयी घोष ने दक्षुल प्रलवण निमित कर लिया था और इसका प्रयोग करने के लिए उन्होने रोगर्स को सुझाव दिया था। शुद्ध अम्ल के प्रलवण का सूविप्रक्षेप शरीर की ऊतियो के लिए कुछ कोपी सिद्ध हुआ और रोगर्स ने कुछ समय के लिए इसका प्रयोग बन्द कर दिया। मैक-डोनल्ड (1920) को अधिक सफलता मिली। इन्होने सम्पूर्ण तेल के समग्र स्नेहाम्लो के दक्षुल प्रलवणो में दो प्रति शत (तोल मे) जम्बुकी (आयोडीन) को रसायनतः सयुक्त कर के बरता और बहुत से रोगियों की चिकित्सा की। इस विधि द्वारा प्राप्त परिणाम बहुत सन्तोषजनक थे और उनमें न दर्द थी, न अर्बुद बनने की शिकायत। भारत में म्यूर ने तुवरक (हिड्नोकार्पस वाइटिआना) के दक्षुल प्रलवणो को बहुशः प्रयुक्त किया।

सादा तेल भी प्रभावकारी : चिकित्सा की विभिन्न रीतियो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कुष्ठ की चिकित्सा में चालमुग्रा और तुवरक तेल वस्तुतः प्रभावकारी है। तेल को मुख द्वारा या पेशयन्त: मार्ग द्वारा देने की साधारण विधि की अपेक्षा चिकित्सा के आधुनिक तरीके स्पष्टतया अधिक अच्छे प्रकट होते हैं जिन मे स्नेहाम्लों के दक्षुल प्रलवणों या क्षारातु लवणों का प्रयोग किया है। फिर भी पहले तरीके चिकित्सीय प्रवाह से शून्य नही हैं।

कुष्ठ में सुश्रुत का चिकित्सा क्रम : बहुत प्राचीन समय में तुवरक के बीजों की गिरी और उससे निकलने वाले तेल आयुर्वेदिक चिकित्सको द्वारा विभिन्न रोगों मे बरता जाता था। सुश्रुत ने गलित कुष्ठ तक में इस की बहुत प्रशसा की थी। ऐसी उपयोगी औषध का चरक ने न जाने क्यों उपयोग नही किया। फिर वाग्भट्ट ने अपनी चिकित्सा में इसका प्रयोग लाभदायक पाया। परन्तु मालूम होता है कि बाद के वैद्यो मे इसका व्यवहार सर्वथा लुप्त हो गया था। भावमिश्र यद्यपि अपने समय की चिकित्सा सम्बन्धी नई खोजो से भलीभांति परिचित था तथापि उसने तथा उससे पहले के भी अनेक विद्वानो ने अपने ग्रन्थों में इसका नाम तक नहीं दिया।

एलोपैथी चिकित्सकों को इसका उपयोग मालूम होने पर उन्होने इसे बड़ी निर्भर करने योग्य दवा अनुभव किया था। ब्रिटिश एम्पायर लैप्रोसी रिलीफ एसोसिएशन ने अपने वार्षिक विवरण मे भविष्यवाणी की थी कि तुवरक (हिड्नोकार्पस) तेल द्वा चिकित्सा करने से कुष्ठ को दस वर्षों मे उखाड़ फेंका जाएगा।

कुष्ठ में : आयुर्वेद मे कुष्ठ शब्द से त्वचा के रोगों का ग्रहण होता है। भारतीय चिकित्सा साहित्य मे सामान्य रूप से अठारह प्रकार के कुष्ठ रोगो का उल्लेख मिलता है। इनमें से कम से कम आठ तो आधुनिक विज्ञान मे कोढ़ के श्रेणीकरण मे नही आते और दद्रु, प्रपामा, खर्जु (scabies) आदि त्वग्रोगो मे गिने जाते है। शेष दस भेद ऐलोपैथी मे वर्णित असल कोढ़ के सम्भवतः अनुरूप हैं, चाहे यह ग्रन्थिमय (टुबर्कुलर) हो, सज्ञाहीनता वाला हो या मिश्रित प्रकार का हो।

सुश्रुत कहते है कि कुष्ठ की बहुत खराब अवस्थाओ मे जब पंचकर्म से शोधन कराना भी विफल हो परन्तु जीने की इच्छा से रोगी श्रद्धापूर्वक इलाज कराना चाहता हो तो बुद्धिमान वैद्य तुवरक के तेल द्वारा उसकी साधना कराए। सभी प्रकार के कुष्ठो में तुवरक का तेल लाभदायक होता है।

पूर्व कर्म : स्नेहन, स्वेदन और संशोधन से रोगी को मलरहित करके एक तोला तुवरक का तेल पिलाएं। इससे वमन और विवेचन होकर दोषों का शोधन होगा। आमाशाय और आंतो की सफाई हो जाने के बाद शाम को स्नेह और लवण रहित ठडी यवागू पिलाएं। इस विधान से पांच दिन तक तेल पिलाएं। पथ्य से रहें। क्रोधादि आवेशों को त्याग दें। तुवरक तेल द्वारा इस प्राथमिक शोधन के बाद पन्द्रह दिन तक तुवरक देना बन्द रखें। इन दिनो रोगी को मूग का रसा और भात खिलाएं।

सोलहवें दिन एक ही समय भोजन कराएं। उस लघु कोष्ठ वाले को सत्रहवें दिन से बल के अनुसार मन्त्र से पवित्र किए हुए तुवरक तैल की प्रारम्भिक मात्रा दें। प्रयोग आरम्भ करने से पूर्व समय की अनुकूलता देख लेनी चाहिए। सामान्यतया शुक्ल-पक्ष अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

खदिर क्वाथ से पकाए हुए तुवरक तेल को सावधान होकर नित्य पिये और शरीर पर इसकी मालिश भी करे। भिलावे के सेवन के प्रकरण में कहे गये भोजन का सेवन करे। इस चिकित्सा से कुष्ठ के ऐसे रोगी भी ठीक हो जाते हैं जिनका शरीर फट गया हो और उसे कृमियों ने खा लिया हो, जिनकी आंखें लाल हों और जिन का स्वरयन्त्र रोग से आक्रान्त हो गया हो।

सुश्रुत ने तो यहा तक लिख डाला कि खदिर से सिद्ध यह तुवरक तेल शहद और घी मिला कर खैर के काढे के अनुपान से लें और पक्षियों के मास के शोर्वे के भोजन पर रहे तो दो सौ वर्ष की आयु हो जाती है। इस उपचार के साथ ही पचास दिन तक इस तेल का नस्य भी लें तो शरीर पुष्ट होकर और धारणाशक्ति पूर्ण होकर तीन सौ बरस तक जीने की क्षमता हो जाती है।

सुश्रुत का यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है। हमारी सम्मति मे इससे केवल यही समझना चाहिए कि खदिर क्वाथ के साथ संस्कार करके प्रयोग करने से तुवरक तेल का प्रभाव बढ़ जाता है। इसका कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि तेल से संयुत एक कषाय (एस्ट्रिंजेण्ट) क्रियाशील पदार्थ प्रभाव को त्वरित कर देता है। यह अवबुद्ध है

कि कुष्ठ दण्डाणु वसावान् (फैटी) है। यदि कषाय दण्डाणु की श्विति (एल्ब्युमिन) के साथ संयुत हो जाए और उसे अपनी वसा के वंचित कर दे तो प्रभाव स्पष्ट है। कुष्ठ आश्रमो में इस दिशा मे अधिक परीक्षण किए जाने चाहिएं। हिड्नोकार्पिक अम्ल या चालमुग्रिक अम्ल को खैर के क्रियाशील तत्त्व के साथ मिला कर कुष्ठ रोगियो के विभिन्न समूहों पर बरतना चाहिए। कहते है कि उन्ना ने जारेय (ऑक्साइड) के रूप मे अग्नि-द्रुस्फोटव (पाइरोगैलोल) को कोढ़ में अच्छी सफलता के साथ बरता है और यह खदिरव, (कटेचोल) के साथ बहुत अधिक सम्बद्ध है।

गिरियों का प्रयोग : तेल सुलभ न हो तो गिरियों को सफल परिणामों के साथ दिया जा सकता है। कुष्ठ और मधुमेह को नष्ट करने के लिए सुश्रुत तुवरक को परम उत्कृष्ट द्रव्य बताते हैं। महान् शक्तिशाली गिरियो को समुचित मात्रा मे सेवन किया जाए तो ये मनुष्य की देह को शुद्ध कर देती है। वाग्भट कुष्ठ रोगी को रसायन की विधि से इन गिरियो का सेवन करने की सिफ़ारिश करते हैं।

सामान्यतया बीजो को पीसकर तीन रत्ती की गोलियां बना लेते है और दिन में तीन बार खिलाते है। उत्तरोत्तर बढ़ाकर इस परिमाण से तीन-चार गुणा अधिक देने लगते हैं। कुछ वैद्य तो तब तक मात्रा बढ़ाते जाते है जब तक कि रोगी सहन कर ले। मतली आदि लक्षण पैदा होने पर मात्रा बढ़ाई नही जाती। सहने योग्य मात्रा तक पहुच कर उसी पर स्थिर रहा जाता है। वेअरिंग (1875) लिखते है कि दवा खिलाने का यह सर्वोत्तम तरीका है।

वाकुची, चित्रक, हल्दी, विडंग, तुवरक की गिरि, भिलावा और त्रिफला को कूट कर थोड़े गुड़ के साथ गोलिया बना ले। सब प्रकार के कुष्ठो मे इन गोलियो को वाग्भट्ट खाने को देते है।

कर्मों के फलो के कारण होने वाले मेदोगत कुष्ठ को सुश्रुत ने उन लोगो के लिए याप्य बताया है जो पथ्य पर रह सकते है और चिकित्सा के लिए खर्च कर सकते है। इस कुष्ठ में शोधन और शिरोमोक्ष के अतिरिक्त रोगी को तुवरक का प्रयोग भी कराना चाहिए।

वर्षों तक इलाज करना चाहिए : डैविड कैम्पबेल (1934), कम्नी (1941) और अन्य लेखको ने दिखाया है कि कोढ़ मे चालमुग्रा या तुवरक के उपचारो का मूल्यांकन कठिन है। इसके दो कारण है। एक तो यह कि स्वभावतः ही यह रोग अतिशय चिरस्थायी प्रकृति का है तथा बीसियो बरस तक खिच जाता है और दूसरे यह तथ्य कि अनेक उदाहरणो मे रोग का स्वतः परिहार भी एक साधारण बात है—समुत्थान के कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी देखे जाते है जिनमे कोई विशेष चिकित्सा नही की गई होती। संसार के विविध भागों मे कार्य कर रही कुष्ठ सस्थाओं के विवरणों ने एक बात तो निस्संदेह प्रतिपादित कर दी है कि इन नवीनतर रीतियो अर्थात् चालमुग्रा और तुवरक तेल के व्युत्पन्नो के प्रयोग कतिपय उदाहरणों मे रोग के अवरोध में विलक्षण प्रभाव

रखते हैं और प्रारम्भावस्था के रोगियों में सम्भवतः आरोग्य भी करते हैं। संक्रान्त होने के पहले छह महीनों के भीतर ही यह इलाज कर लिया जाए तो रोगियों के पर्याप्त अनुपात को आरोग्य लाभ होता है। जबकि पुराने रोगियों में यद्यपि रोग का निवारण तो हो जाता है परन्तु आरोग्यता की प्रतिशतकता अल्प है। चिकित्सा अवश्य महीनों या सालों तक भी जारी रखनी चाहिए। ट्रिनिडाड कुष्ठालय (1889) में ऐसे रोगियों का विवरण मिलता है जिन्होंने लगातार सात साल तक चालमुग्रा तेल का सेवन किया था। इन्हें अभी और अधिक समय तक इसके प्रयोग की आवश्यकता थी। कुष्ठ की चिकित्सा में चालमुग्रा और तुवरक के व्युत्पन्नों का स्थान अब सल्फ़ोन्स (sulphones) ले रहे हैं। इन्हें मुख द्वारा बड़ी सुगमता से दिया जा सकता है।

त्वचा के रोग : चालमुग्रा और तुवरक की गिरियां त्वचा के रोगों में लाभ के साथ खिलाई जाती हैं। कुछ अड़ियल त्वग्रोगों में बीजों को पीसकर घी में मिलाकर लेप करना बड़ा उपयोगी होता है।

बीजों का चूर्ण, कज्जली, मनःशिला आदि द्रव्यों को मिलाकर मद्रासी वैद्य तुवरकादि लेप बनाते हैं जो त्वचा के अनेक रोगों में मल्हम की तरह लगाया जाता है।

क्षयी ग्रन्थियां और व्रण : क्षयी कृमियों के कारण पैदा होने वाले व्रणों, नाड़ी-व्रणों, अस्थिव्रणों तथा गण्डमाला आदि में यह तेल खाने को और लगाने को दिया जाता है। क्षयी ग्रंथियों में चालमुग्रा के बीज लाभदायक परिणामों के साथ खिलाए जाते हैं।

फिरंग : फिरंग से संजटिल कुष्ठ में एक निर्मिति अवेनाइल (Avenyl) दी जाती है। यह निर्मिति पारद-धूपल सयुत तुवरक तेल (*hydnocarpus oil with* mercury-benzyl compound) है।

आमवात : चालमुग्रा, तुवरक और गाइनोकार्डिया के बीज और तेल आमवात में खिलाने से और स्थानीय प्रयोग करने से लाभ होता है।

सिराओं के फैल जाने में : सोडियम गाइनोकार्डेट का पांच प्रतिशत विलयन या चालमुग्रा तेल के क्षारातु साबुन का विलयन अपस्फीत-नीलाओं (varicose vein) में घनास्रता (थ्रौम्बोसिस) पैदा करने के लिए जारठ्य कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रयोजन के लिए यह क्षारालु स्नेहमीनोय (सोडियम मौर्हुएट) के पांच प्रतिशत विलयन से उत्कृष्ट कहा जाता है। चालमुग्रा तेल के विलयन का दो घन शतिमान सूचीवेध देने से सिरा में लगभग पांच शतिमान की दूरी पर घनास्रता पैदा हो जाती है। (ओश्नर)।

आंख के रोगों में : बन्द सकोरों में गिरी को इस प्रकार जलाएं कि धुआं बाहर न निकले। प्राप्त भस्म में तिल का तेल, सैंधव नमक और सुरमा मिलाकर अंजन बनाएं। इसे आंजने से शुक्लगत नेत्ररोग (पैल्य), रतौंधी, काचक, नीली (कृष्णगत रोग) तथा तिमिर नष्ट होते हैं।

स्त्रियों के लिए : प्रसव के बाद बीजों का फाण्ट अपक्षालक प्रसेक (detergent douche) के रूप में बरता जाता है।

जातियां : हीड्नोकार्पस गण में लगभग पच्चीस जातियां हैं जो पूर्वीय भारत से सुमात्रा और जावा तक देशीय हैं।

: तेरह :

गाइनोकार्डिया

विविध भाषाओं में नाम :

अंग्रेजी : चौलमुग्रा।

फारसी : विरंज मोगरा।

बंगाली]
हिन्दी] : चावल मुंगरी, चॉल मुगरा, चाउल मुगरा, चावल मोगरा

ब्राह्मी : कलंजो, कलवसो।

औद्भिदी : गाइनोकार्डिओ ओडोराटा र. ब्र. (*Gynocardia odorata* R. Br.)। ग्रीक शब्द गाइने (gyne) का अर्थ है स्त्री और कार्डिआ (kardia) का अर्थ है हृदय।

नैसर्गिक वर्ग : बिक्सासी (Bixaceae) वंश (family) के अन्तर्गत गीइनोकार्डिआ गण (genus) में यह एक ही पौदा (species) है।

प्राकृत-वास : गाइनोकार्डिया ओडोराटा र. ब्र. हिमालय के अधोभाग में उगता है। सिक्किम, असम, खासिया पर्वत माला, चिटागाग और पूर्वी बगाल मे देशज वृक्ष है। इसका विस्तार रगून तक चला गया है।

बेअरिंग (1875) के अनुसार दक्षिण भारत मे यह (*Gynocardia odorata* R. Brown) कम पाया जाता है।

कृषि : सिंगापुर की औद्भिदी वाटिका में इसका पौदा 1891 मे लगाया गया था परन्तु देर तक जीवित नही रहा। 1921 में पुनः बीज बोये गए। बर्किल के 1935 के विवरण के अनुसार यह उग तो रहा है परन्तु इसे उन्नयन करना जरा कठिन सिद्ध हुआ था।

वानस्पतिक वर्णन : बारह से पन्द्रह मीटर ऊंचा सदा हरा वृक्ष। पत्ते 12-15 सेण्टीमीटर लम्बे, चार से नौ सेण्टीमीटर चौड़े। फूल अद्विलिंगी (dioecious), हलके पीले, मीठी गन्ध वाले, कक्ष पूलों (axillary fascicles) मे। ये बड़े गुच्छो मे, लगते हैं। लगभग चालीस फूलो से मिलकर एक बड़ा गुच्छा बनता है। तने और शाखाओं मे ही फूल निकलते हैं। फूलों की चाह मे मधु-मक्खियो द्वारा ये फूल खूब व्यस्त रहते हैं।

एक फूल का व्यास 1.25 से 3.75 सेण्टीमीटर पुष्पकोष (calyx) पांच खण्डों वाला (lobed), चर्मस, शरावक-आकृति वाला (saucer shaped)। दल (पेटल्स पांच)। नर पुष्पों में लगभग सौ परागदण्ड; सूत्र ऊर्णविल (filaments wooly), मादा फूलों में दस-पन्द्रह बन्ध्यकेसर (staminodes); कुक्षिवृन्त (styles) पांच।

साढ़े सात से साढ़े बारह सेण्टीमीटर व्यास का पिंडाकार (globose) फल तने और मुख्य शाखाओं पर लगता है। इसका छिलका मोटा, कठोर, बाहर से सूक्ष्म वातनरन्ध्रो (minutely lenticelled) होता है। प्रत्येक फल मे तीन या पाच बीज, करीब ढाई सेण्टीमीटर लम्बे, कुछ-कुछ अडाकृति, व्यास में लगभग ढाई सेण्टीमीटर या कुछ कम, पिचके होने से सामान्यतया अनियमित पृष्ठ के। बीजों के ऊपर का छिलका आधूसर-बभ्रु (greyish-brown) खुरदरा, कठोर और भंगुर होता है। बीजो के अन्दर तैलीय भित्ति होती है। बीजों की लम्बाई 3.125 सेण्टीमीटर, चौड़ाई 2 से 2.5 सेंटीमीटर और ऊंचाई 1 से 2 सेंटीमीटर होती है। पांच बीजो का भार ढाई तोला था। फल का व्यासार्द्ध 8.5 सेंटीमीटर और गोलाई पच्चीस सेंटीमीटर नापी गयी थी। वन-अनुसन्धानशाला, देहरादून की वनस्पति वाटिका मे गाईनोकाडिया ओडोराटा के दो पेड़ हैं। एक पेड़ फूलता तो खूब है परन्तु फलता नही। दूसरे पेड़ पर खूब फल लगते हैं।

भेदक पहचान : रूप में गाइनोकार्डिया ओडोराटा के फल तथा बीज टैराक्टोजिनौस कुर्जी के फलो तथा बीजो के बहुत समान होते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि इतने दीर्घ काल तक यह संभ्रम चलता रहा। इनमे भेदक पहिचान यह है कि टैराक्टोजिनौस कुर्जी के बीजों मे भ्रूणमूल (radicle) आवसानिक (terminal) होती है जब कि गाइनोकार्डिया के बीजो में यह पार्श्वीय होती है। दोनो ही बिक्सेसी नैसर्गिक वर्ग के पौदे हैं।

रासायनिक संघटन : शीत निष्पीड़न से तीस से पैंतीस प्रति शत एक स्थिर तेल निकलता है। छिलके उतारे हुए बीजो से लगभग 65 प्रति शत तेल निकलता है। इसे गाइनोकार्डिया तेल कहते हैं। ताज़े तेल का रंग लघु बभ्रु (light brown) या आबभ्रुपीत (brownish yellow); अरुचिकर विशिष्ट गन्ध; कुछ-कुछ उग्र तथा जरा अरुचिकर स्वाद। आपेक्षिक गुरुत्व 90° फ० पर .95 हैं। दक्षु (ईथर), नीरवभ्रण (क्लोरोफार्म) या सुषव (एल्कॉहल) में विलेय है। इसका मुख्य संघटन गाइनोकार्डिक अम्ल है जो दाहक स्वाद वाला पीला तैलीय पदार्थ है और यह तेल का क्रियाशील तत्त्व है। तेल में जो दाहक स्वाद है वह इसी अम्ल के कारण है। तालिक (palmitic), भूचणिक (hypogaeic) और इन्द्रगोपिक (coccinic) अम्ल भी तेल में पाए जाते हैं। डेविड हूपर ने विशुद्ध तेल में उपस्थित तालिक अम्ल का अनुपात बहुत बड़ा पाया जब कि वसिक (stearic) अम्ल अनुपस्थित था।

जे. सी. घोष (1940) ने दिखाया है कि गाइनोकार्डिक अम्ल एक विशुद्ध अम्ल नही है, परन्तु कई अम्लों का मिश्रण है जिसमें तालिक अम्ल का बड़ा अनुपात होता है।

पावर और बैरोक्लिफ (1905) ने दिखाया है कि गाइनोकार्डिया ओडोराटा के अभिनव बीजों से निष्पीड़ित तेल चालमुग्रा तेल से भौतिक प्रकृति और रासायनिक संघटन दोनों में ही पूर्णतया भिन्न है। गाइनोकार्डिया तेल सामान्य तापमान पर पाडुरपीत द्रव होता है जिसमे अलसी तेल के सदृश गन्ध आती है। यह काशिता (optical activity) से पूर्णतया रहित होता है। इसके संघटक निम्नलिखित है :

1 आतसिक अम्ल (linolia acid) या उसी माला के समाजेय (isomerides)।
2 तालिक अम्ल, बड़ी राशि में।
3 मीनातसिक (linolenic) और स-मीनातसिक अम्ल (iso-linolenic acids)।
4 प्रक्षिक (oleic) अम्ल।
5 गाइनोकार्डीन (gynocardin)—यह स्फटमय श्यामजनक मधुमेय (crystalline cyanogenetic glucoside) है।

चालमुग्रा तेल का प्रभाव जिन विशिष्ट अननुविद्ध अम्लों पर निर्भर करता है वे गाइनोकार्डिया तेल में विद्यमान नही होते।

इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि चालमुग्रा तेल का स्रोत 1898 की ब्रिटेनीय भेषज संहिता में, 1910 मे प्रकाशित विलियम व्हिटला के मैटीरिया मेडिका मे, हेलह्वाइट (1914) के मैटीरिया मेडिका मे तथा अन्य अनेक अधिकारपूर्ण ग्रथों मे गाइनोकार्डिया ओडोराटा लिखा गया है।

वेअरिंग (1875) का अनुभव था कि बाजार मे मिलने वाला चालमुग्रा का तेल सामान्यतया अशुद्ध होता है। इसलिए अन्त:प्रयोग के लिए आपत्तिजनक है। कनाईलाल दे ने दिखाया था कि कलकत्ते के बाजार मे चालमुग्रा (गाइनोकार्डिया) का जो तेल मिलता है उसका रंग कुछ गूढ़ा होता है और वह होता भी गाढ़ा है। यह ऊष्ण निष्पीड़न से निकाला गया होता है। सामान्यतया यह मिलावट वाला होता है और इसमें स्निग्ध घटको का दानेदार निक्षेप नीचे बैठा होता है।

मात्रा : तेल : पाच से दस बूंद, क्रमश: बढ़ाते हुए तीस से साठ बूद तक। प्रावरो (कैप्सूल) मे देना उत्तम रहता है। अम्ल : गाइनोकार्डिक अम्ल .25 से .5 यव (ग्रेन) की मात्रा में अन्त:प्रयोग किया जा सकता है। दिन मे तीन बार .25 ग्रेन से आरम्भ करके दिन मे तीन बार तीन ग्रेन तक पहुंच जाते है। इसे प्रावरो मे या गोली बनाकर देते हैं।

कार्य : अन्त:प्रयोग मे यह आमाशय-आन्त्र का कोपी है। कुष्ठ आदि रोगों मे दी जाने वाली बडी मात्राओ को सहन करने के लिए आमाशय को अभ्यास कराना होता है। बाह्य प्रयोग में तेल प्रबल चर्मरक्तकर (rubefacient) है और साधारण त्वचा पर लगाने से बड़ी वेदना पैदा कर सकता है।

सेवन विधि : बाहर लगाने के साथ-साथ खाने के लिए भी दें तो अपने रसायन कार्य के कारण इसका प्रभाव सामान्यतया बढ़ जाता है। प्रनिलम्ब (emulsion) में, दूध में या स्नेहमीन यकृत् तेल (कॉड लिवर ऑयल) में पांच-छह बूंद की मात्रा से देना शुरू करते हैं। कुछ दिनों बाद उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए दस बूंद कर देते हैं। इतनी मात्रा सहन कर लेने के बाद फिर बढ़ाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे चालीस बूंद तक ले आते हैं। इसके प्रयोग काल में नमक छोड़ देना चाहिए।

उपयोग : फल का गूदा श्लिषिवत् (gelatinous) और सुरभित है। रॉक (बुलेटिन नं. 1057), यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंण्ट ऑफ़ एग्रिकल्चर, 1922, पृष्ठ 23) कहते हैं कि बन्दर इसके बहुत शौकीन हैं, परन्तु कहा जाता है कि मछलियों को यह विषाक्त कर देता है। सिक्किम में बीजों की गिरी मत्स्यविष के लिए काम लायी जाती है।

आसाम में कभी-कभी स्थानीय लोग बीजों से तेल निचोड़ते हैं। चिकित्सा में इसके गुण धर्म, मात्रा उपयोग आदि तुवरक और चालमुग्रा के समान समझे जाते हैं। परन्तु अनेक अधिकारियों ने गाइनोकार्डिया को प्रभावशाली नहीं पाया।

पुराना विश्वास : पुराने साहित्य में विश्वास किया जाता था कि चालमुग्रा तेल गाइनोकार्डिआ ओडोराटा के बीजों से व्युत्पन्न होता है। 1901 में प्रेन ने दिखाया था कि असली चालमुग्रा तेल आसाम और ब्रह्मा में उगने वाले एक वृक्ष टाक्टोजिनोस कुर्ज़ी के बीजों से प्राप्त किया जाता है। इसके बावजूद भी चिकित्सा साहित्य में चालमुग्रा तेल, गाइनोकार्डिआ तेल और हिड्नोकार्पस तेल ये तीनों शब्द आपस में पर्यायवाची शब्दों के समान बरते जा रहे हैं। इस पुस्तक में त्वचा के रोगों में जो तथा कुष्ठ में गाइनोकार्डिआ तेल की उपयोगिता प्रतिपादित की गई है वह चालमुग्रा और तुवरक की समझनी चाहिए।

त्वचा के रोग : बेअरिंग (1875), विलियम व्हिट्ला (1910), राबर्टहचिसन (1948) आदि अनेक पाश्चात्य कर्माभ्यासियों ने गाइनोकार्डिआ तेल को चालमुग्रा तेल के नाम से वर्णन किया है और इसके गुणों में भेद नहीं दिखाया। त्वचा के रोगों में ये गाइनोकार्डिया तेल की सफलता का उल्लेख करते हैं। इनके वर्णनों से पता चलता है कि लण्डन के बहुत-से चिकित्सालयों में भी इसे आजमाया गया है। सोरायसिस, तीव्र तथा पुरातन प्रपामा (एग्ज़िमा) lupus, कुष्ठ और इसी तरह के रोगों में तेल उपयोगी बाह्य उद्दीपन प्रयोग है। चर्म यक्ष्मा, उपदंशीय उद्भेदन, बहुत पुराने सोरायसिस के लिए एक मरहम इस्तेमाल की जाती है जो ऊर्णावपा (लैनोलिन) के एक द्रव शुक्तिका (औंस) में चालमुग्रा तेल का एक द्रव शाण (ड्राम) मिला कर बनाई जाती है।

त्वचा के रोगों में अंगवेण्टम गाइनोकार्डि नामक मरहम बरती जाती है। एक भाग गाइनोकार्डिया तेल, चार भाग दृढ़ मृद्सा (हार्ड पैराफ़ीन) और पांच भाग श्वेत मृदु मृद्सा (सोफ्ट पैराफ़ीन) मिलाकर यह बनाई जाती है।

कुष्ठ : कुष्ठ में गाइनोकार्डिया अत्युत्तम प्रभाव के साथ प्रयोग किया जा रहा है। इस कुत्सित रोग के निराकरण के लिए तेल की यद्यपि देर से बड़ी ख्याति है परन्तु कुछ चिकित्सकों का मत है कि कुष्ठ को यह निश्चित रूप से निर्मूल नहीं करता। बहुत-से समझते हैं कि यह इस रोग का विधारण करता है। 1890-91 के भारतीय कुष्ठ आयोग ने जो साक्षियां अभिलिखित की है उससे प्रकट होता है कि कुष्ठ में चालमुग्रा (गाइनो-कार्डिआ) तेल का कार्य यद्यपि अतिशय है तथापि गुर्जन तेल (Diptrocarpus, q. v.) की तुलना में अधिक स्पष्ट है। नीम तेल या गुर्जन तेल के साथ मिला कर यह कुष्ठ तथा त्वचा के अनेक रोगों पर लगाया जाता है।

कुष्ठ में मैग्नीशियम गाइनोकार्डेट कुछ सफलता के साथ बहुत पहले परखा जा चुका है। कहते हैं कि तेल की अपेक्षा मैग्नीशियम लवण अधिक अनुकूल पड़ता है और इसको प्रयोग करने में लाभ भी तेल के समान ही हैं। मैग्नीशियम गाइनोकार्डेट एक दानेदार चूर्ण होता है और एक से तीन यव (ग्रेन) की मात्रा में दिया जाता है।

ऊर्णा : वसा के साथ तैयार की गई मरहम अत्युत्तम वाह्य लेप होता है। कुष्ठ की विभिन्न अवस्थाओं में एक भाग तेल को दो भाग सूकर वसा में मिला कर तैयार की गई मरहम उत्तम लेप होता है।

इस प्रकार के विवरणों में गाइनोकार्डिआ तेल या बीजों से चालमुग्रा या तुवरक का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि हमने पहले भी स्पष्ट किया है कि लेखकों के प्रमाद से इन क्रियाशील पौदो को गाइनोकार्डिआ नाम दिया जाता रहा है। गाइनोकार्डिआ में तो कुष्ठघ्न तत्त्व विद्यमान ही नही है इसलिए इसे कोढ़ मे देना निरर्थक है।

क्षय में : उर:क्षय में यह सफलता के साथ इस्तेमाल किया गया है। खाने के लिए तो देते हैं छाती पर भी लगाते है अन्त्रयुज क्षय (tabes mesenterica) में और उदर गुहा की क्षयी ग्रंथियों में पेट पर तेल को मलते हैं।

गठिया, आमवात : आमवात और आमवातिक गठिया मे तेल का स्थानीय व्यवहार उद्दीपन लेप का काम करता है। चिरस्थायी आमवात और आमवातिक सन्धि कोप मे जोड़ों पर त्वचा के ऊपर लगाते है।

: चौदह :

निर्गुण्डी कन्द

एक साधु यदा-कदा चित्रकूट आया करता था। अपने कुछ दिन के तीर्थवास में वह यहां की कतिपय जड़ी-बूटिया भी इकट्ठा करता था। चित्रकूट में रहने वाले दशरथ लोध का धन्धा जगल की जड़ी-बूटी इकट्ठा करना था। जंगलो में दोनो का एक-दूसरे से मेल होता था। दशरथ लोध अनपढ़ था। उसने साधु की सेवा कर के जड़ी-बूटियों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की। उसकी लगन से साधु प्रसन्न हो गये। उन्होंने दशरथ को एक चमत्कारी जडी का रहस्य बताया जिसका नाम निर्गुण्डी-कन्द था।

साधु अपने साथ यह जड़ी लेकर रायपुर की ओर कहीं चले जाते थे। वहा जरूरतमन्द ग़रीब लोगो को मुफ़्त बाटते थे। जब उनके पास जड़ी खत्म हो जाती थी वे दशरथ को लिख देते थे। वह जंगल से उखाड़ लाता था और ताजी जड़ी ही साधु बाबा को रायपुर दे आता था। दशरथ गरीब था। साधु बाबा उसे रेल किराये के अलावा कुछ दक्षिणा भी देते थे। दोनो का यह व्यवहार बरसो चलता रहा। साधु जब जाते तो दशरथ के घर ठहरते।

दशरथ जिन वैद्यों और फार्मेसियो के लिए जड़ी-बूटिया इकट्ठी करता उनमें से एक वैद्य साधना के लिए हर साल सर्दियों में चित्रकूट वास करते थे। उन दिनों दशरथ यह जड़ी जगल से निकाल कर सुखा रहा होता था। दशरथ को अपनी सेवाओ का समुचित मूल्य तो वैद्य जी से मिलता ही, पुरस्कार रूप में कम्बल या उसकी आवश्यकता के अन्य पदार्थ जब उसे सदा मिलते रहते थे तो उसने उन पर इस जड़ी का रहस्य प्रकट कर दिया। इसका लेटिन नाम आलिवद्रा पारासिटिका ए. रिक वैराइटी चित्रकूटेन्सिस एम. ए. राउ है।

वैद्य जी ने इसे वैद्यों तथा दूसरे चिकित्सकों को परीक्षा के लिए दिया भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय और बिहार सरकार को उन्होंने इस की परीक्षा करने का आग्रह किया।

मैं मार्च की दूसरी तारीख को इस औषध के बारे मे अधिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से करवी आया। चित्रकूट से अगला रेलवे स्टेशन करवी है। चित्रकूट को जाने

वाले यात्री इसी स्टेशन पर उतरते हैं।

करवी में मैंने पाया कि प्रत्येक देहाती इस जड़ी से भलिभांति परिचित हैं। सूखी जड़ी का नमूना मैंने देहातियों के एक झुण्ड को दिखाया जिस मे एक बढई था, एक मजदूर था और एक अयोध्या का बाबा था जो चौंतीस बरस से करवी के एक भग्न मन्दिर मे रह रहा था। उन्होने झट कहा कि यह तो निर्गुण्डी है और मिड़की के विरछा विटेक्स निर्गुण्डी लिन. के नीचे उगता है। मिड़की के वृक्ष केवल लुढ़वार पहाड़ पर पूरब के हिस्से नदी के किनारे है। इसलिए यह वही मिलता हैं।

प्राप्ति स्थान : दो-तीन दिन मे लुढ़वारे के भीटे के ऊपर तथा उसके चारों ओर डेढ़ किलोमीटर तक घूमा। सूर्यकुण्ड और उसके आस-पास भी घूमा। मैंने देखा कि आठ-दस किलोमीटर इस प्रदेश में यह मिड़की (विटेक्स निर्गुण्डी लिन.) की जड़ो पर उग रही है, परन्तु बहुत कम मात्रा में।

बदौसा कस्बे के पास बाघ नदी के किनारे मिडकी के नीचे निर्गुण्डी बहुत मिलती है। चित्रकूट से पश्चिम मे उन्नीस किलोमीटर दूर बादा मोटर सड़क पर बदौसा है। यह रेलवे स्टेशन भी है। आषाढ़ मे बारिश शुरू होने के पन्द्रह-बीस दिन बाद सिरसा वन में निर्गुण्डी अधिक मिल जाती है। मार्च के पूर्वार्द्ध मे मैंने यहा निर्गुण्डी पाई तो सही परन्तु बहुत कम। अधिक खोदने से समाप्त हो गये थे। सिरसा वन चित्रकूट से स्फटिक शिला जाते हुए मार्ग में कोई सवा तीन किलोमीटर की दूरी पर पड़ता है। चित्रकूट से दक्षिण अनुसूया के निकट झूरी नदी और मन्दाकिनी के बीच मे सीता मोकमगढ़ के आस पास निर्गुण्डी कन्द की मोटी जड़ें मिल जाती है। इस का कारण यह है कि भूमि बालूमय नरम है और मन्दाकिनी की बाढ से नयी-नयी मिट्टी की तह बैठ जाती है। चित्रकूट से यह तेरह किलोमीटर दूर है।

चित्रकूट से पश्चिम मे भमई गांव के साथ लगते भैसई नाले के दोनों ओर मिड़की के उपर निर्गुण्डी कन्द काफी मिलता है। चित्रकूट से आना-जाना बत्तीस किलोमीटर का चक्कर लगता है। चित्रकूट से बरौंदा-ज्वारिन-कौंहारी। कौंहारी मे लगभग 500 एकड़ में मिड़की की झाड़ियां फैली है वहां निर्गुण्डी कन्द बहुत पैदा होता है। कौहरी जाने के लिए चित्रकूट से बरौंदा और जवारिन हो कर जाना होता है। ...
किलोमीटर दूर पिंडरा में नदी के अन्दर उतर जायं। दक्षिण मे देवी के ...
कन्द मिलते है। बाबूपुर के सोते के अन्दर मन्दाकिनी के साथ चित्रकू[illegible]
मीटर दूर; अमरावती के पास मन्दाकिनी के किनारे, चित्रकूट से [illegible]
निर्गुण्डी मिलती है।

निर्गुण्डी कन्द (आलेक्ट्रा पारासिटिका) उगे हुए थे। इन पौदों को हल्का करने के लिए इन की टहनियों की छंटाई कर दी गई। कुछ ऐसी जड़ें भी छोड़ दी गई जिन पर यह पराश्रयी उगा था। उन जड़ों को नहीं छेड़ा गया जिन पर पराश्रयी उगा था। प्लास्टिक की शीट में पैक करके इन पौदों को लखनऊ ले आया गया। वहां पहुंचने पर इन्हें तुरन्त नेशनल बोटेनिक गार्डन में रेतीली मिट्टी में बो दिया गया। क्यारियों में से समय-समय पर खर पतवार निकाल दिया जाता था। केवल गर्मियों में महीने में एक

करने से पराश्रयी की मूलस्कन्धों (रहाइजोम्ज) को भली-भांति बढ़ता हुआ देखा गया। अगस्त 1970 में निर्गुण्डी कन्द (आलेक्ट्रा पारासिटिका) के पौदे जमीन के ऊपर आकर फूलने लगे। जी० एस० श्रीवास्तव और डी० एस० शुक्ल का जर्नल, बम्बई नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के अगस्त 1972 के अंक में एक नोट छापा था जिस में उन्होंने लिखा था कि निर्गुण्डी कन्दों का उगना जारी है। लखनऊ में इन्हें उगाने में मिली प्राथमिक सफलता संकेत देती है कि यह पौदा अपने मूल स्थान से भिन्न जमीन और जलवायु में भी उग आता है।

आकार-प्रकार : निर्गुण्डी कन्द (रहाईजोम) टेढ़े-मेढ़े, अनियमित आकार के होते हैं। कई बार ये चपटे होते हैं परन्तु प्रायः गोल होते हैं। ये सपाट पृष्ठ के नहीं होते। सारी सतह छोटे-मोटे उभारों से पटी पड़ी रहती है। प्रायः कन्द (रहाईजोम) लम्बे होते हैं और सीधा ऊपर को निकल जाते हैं। कई बार ये भूमि के अन्दर फैलते हुए नये-नये रहाईजोम्स को जन्म देते हुए बढ़ते जाते है जिन में से अनेक स्थानों पर शाखाएं फूट कर भूमि के ऊपर पल्लवित और पुष्पित होती है।

बहुत कम उदाहरणों में मैंने देखा है कि रहाइजोम्स बेडौल गांठ या अर्बुद का रूप धारण कर लेते हैं।

गांठें : गांठों की परीक्षा से मुझे पता चला है कि ये कई वर्ष पुराने रहाइजोम्स के समूह है जिस में कई सारे रहाईजोम्स एक दूसरे से संयुक्त हो गये है। गांठों का ऊपरी भाग बहुत कुछ गल गया होता है जिसका रंग भूरा-काला रहता है परन्तु अन्दर का भाग पीला रहता है।

नाप : ताजी निर्गुण्डी के विभिन्न अंगों के अधिकतम नाप मैंने इस प्रकार नापे है : भूमि से ऊपर कांड सैंतीस सेंटीमीटर, रहाइजोम की गोलाई नौ सेंटीमीटर, रहाइजोम की मोटाई दो सेंटीमीटर, रहाईजोम की लम्बाई सोलह सेंटीमीटर, रहाइजोम की शाखाएं बीस तक। गांठ की लम्बाई आठ, चौड़ाई पांच और छोटा घेरा सोलह सेंटीमीटर होता है। फल आधा सेंटीमीटर ऊंचा और लगभग इतना ही मोटा होता है।

स्वाद : रहाईजोम कांड और पत्ते कड़वे हैं परन्तु बहुत अधिक नहीं।

रंग : ताजी र्‌हाईज़ोम्ज़ का रंग चमकीला गाढ़ा पीला होता है। सूखने पर यह काला पड जाता है। गांठो का रंग ऊपर से मिट्टी के रंग का होता है। परन्तु तोडने पर अन्दर से वे भी वैसी ही गूढ़ी पीली चमकीली दीखती है जैसी कि र्‌हाईज़ोम्स अन्दर या बाहर से होती है। अंगुलियो से तोड़ने पर र्‌हाईज़ोम्ज़ की गांठे आसानी से और साफ टूट जाती है। अन्दर के चमकीले पीले पृष्ठ के अन्दर सफेद तन्तुओं का एक घेरा दिखाई देता है जिसके अन्दर र्‌हाईज़ोम्स का मध्य भाग है। ताज़ी र्‌हाईज़ोम्ज़ के ऊपर से नाखून के द्वारा छीलने से मोटा छिलका आसानी से छोटे-छोटे खडो में उतर जाता है और अन्दर से कठिन तन्तुओं के घेरे का आवरण निकल आता है। छिलका काफी मोटा होता है और सारी र्‌हाइज़ोम का एक बड़ा भाग बनाता है।

कांड का रंग बाहर से तो जामनी होता है अन्दर से मैला सफ़ेद। काड के साथ जहां र्‌हाईज़ोम लगता है वहां र्‌हाईज़ोम का विशिष्ट पीला रग चमकता है।

गन्ध : र्‌हाईज़ोम्ज़, कांड, पत्ते या फूल में सामान्यता कोई विशेष गन्ध नही आती। परन्तु सुखाने के लिए जब मैंने जड़ी को कमरे मे फैलवाया तो एक गन्ध उठ रही थी। संग्रहकर्त्ताओं का कहना है कि इस विशिष्ट महक से वे भली-भाति परिचित है।

नदी-नालों की किनारो की भूमियों मे जो मिडकी के वन है उन्ही पर यह पराश्रित पाया जाता है। मिट्टी जितनी पोली होगी जड की मोटाई, लम्बाई और शाखोद्‌भेद उतना ही अधिक होगा। जिस साल बाढ़ आ जाय और नयी मिट्टी मिड़की के वनो में फैल जाय उस साल निर्गुण्डी की पैदावार बहुत अधिक होगी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बाढ़ में कुछ विशेष प्रकार की खाद इन को मिल जाती होगी जो कन्दों के विकास को बढ़ाती हो। खोदने वाले बताते हैं कि ऐसे स्थानो से उन्होने एक-एक मिड़की की जड़ों में से पाच-पांच सेर ताज़ी निर्गुण्डी निकाली है। दस सेर तक ताज़ी निर्गुण्डी अकेले पौदे के नीचे से खोदी गई है। बताया जाता है कि एक पौदे की ताज़ी र्‌हाईज़ोम अधिक-से-अधिक आधा सेर की तोली गई है। इन की लम्बाई तीस सेंटीमीटर से अधिक नही होगी। भूमि कि सतह से पैंतालिस सेंटीमीटर नीचे तक निर्गुण्डी की र्‌हाईज़ोम्ज़ निकल जाते है सामान्यता ये 2.50-5 सेंटीमीटर से 12.50-15 सेंटीमीटर नीचे की मिड़की की जड़ों पर उग जाते हैं। एक जड़ पर कई बार बीस-पच्चीस पौदे जमे हुए दीख पड़ते हैं। यह भी देखा गया है कि जिस मिड़की पर बहुत अधिक निर्गुण्डी निकल आती है मिड़की का वह पौदा सूख जाता है। मिड़की की बहुत पतली सूत जैसी जड़ो के ऊपर तथा एक सेंटीमीटर मोटी जड़ों के ऊपर भी मैंने निर्गुण्डी को उगते हुए देखा है।

वारिश का प्रभाव : बारिश अधिक होने पर पैदावार अधिक होती है, क्वार या कार्तिक में अधिक वर्षा हो तो पैदावार बहुत अच्छी होगी र्‌हाईज़ोम्ज़ मोटे भी होंगे और तादाद मे भी अधिक होंगे।

आयु : स्थानीय संग्रहकर्त्ताओ का कहना है कि वैशाख शुरू होने पर जब लूएं चलती है तो पौदा पहले ऊपर से जल जाता है और धरती के तप जाने पर र्‌हाईज़ोम्ज़

भी सूख जाते हैं। बरसात में भूमि में गिरे हुए बीजो से पुनः नये सिरे से उत्पत्ति होती है।

मार्च के पूर्वार्द्ध में जब मैंने विभिन्न स्थानो से र्‌हाईज़ोम्ज खोदे तो मैंने मिड़की की जडों पर धरती के अन्दर राई जितने छोटे आकार मे ले कर तेरह सेंटीमीटर तक लम्बे र्‌हाईज़ोम्ज पाये थे। नन्हे-नन्हे र्‌हाईज़ोम्ज की उत्पत्ति अभी कुछ दिन पहले हुई होगी।

प्रारम्भिक अध्ययन में मुझे यह प्रतीत होता है कि जो र्‌हाईज़ोम्ज बाजार मे आते है वे विभिन्न आयुओं के हैं। सम्भवत. बडे र्‌हाईज़ोम्ज दो-तीन वर्ष पुराने हो। बरसात के आरम्भ, मध्य, सर्दियो के मध्य और गर्मियो के मध्य मे उस स्थान पर आ कर पुन. पौदों की तथा र्‌हाईज़ोम्ज की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करना चाहिए जिससे आयु के सम्बन्ध मे और अधिक सही जानकारी प्राप्त की जा सके।

स्थानीय संग्रहकर्त्ताओं के अनुसार निर्गुण्डी का पौदा तथा र्‌हाईज़ोम स्वल्प-आयु होते हैं। नया पौदा तेज़ी से बढ़ता है. फूल तथा फल धारण करता है, र्‌हाईज़ोम्ज की वृद्धि करता हैं और तुरन्त मर जाता है। महीने-डेढ़ महीने में यह सब हो जाता है। इसलिए जो भी र्‌हाईज़ोम्ज हम खोदते है वे एक-डेढ़ महीने से अधिक आयु की नही हैं, चाहे वे अनुकूल अवस्थाओं मे कितनी ही उन्नत हो गई हो।

फूलना : मार्च के उत्तरार्द्ध में निर्गुण्डी पर फूल आ रहे थे। तीन-चार सेंटीमीटर से ले कर बीस सेंटीमीटर ऊंचाई के पौदों मे फूल आये थे। एक काड पर मुश्किल से दो फूल खिले हुए फूल तो तीन-चार बार दिखाई दिये परन्तु पुष्पकलिकायो से सारा काड भरा हुआ था। पुष्पकलिकाओं और फूलों का रंग भी चमकीला गूढ़ा पीला होता है। फूल सुन्दर दीखते हैं। कांड के चारों ओर पत्तों के अक्ष में पुष्पकलिकाएं निकलती है। सारा काड मार्च के पूर्वार्द्ध मे पुष्पकलिकाओं से भरा रहता है। पुष्पकलिकाएं और फल ऐसे दीखते हैं जैसे कि बला के होते हैं। कांड पर भूमि के पास वाली कलिआं पहले खिलती हैं। तना ऊपर बढ़ता जाता है। पहले खिले फूलों के फल बन जाते हैं। एक ही तने पर नीचे तो फल लगे रहते हैं और फुगल पर नयी कलियां निकल रही होती है और बीच में फूल खिल रहे होते है।

नयी उत्पत्ति : मार्च मे मैंने देखा कि सभी जगह नये-नये पौदे भूमि में से निकल रहे थे। काण्ड और पत्तो का रंग मैला-सा जामनी होने के कारण नये पौदों को अपरिचित आंखें एकदम नही पकड़ पाती क्योकि जगल मे वे घास पात और मिट्टी से मिल गये होते हैं। कुछ पौदों में पत्ते हरे रंग के रहते है। पत्ते 1 से 2 सेंटीमीटर लम्बे और दो से पांच मिलीमीटर चौड़े होते है।

निर्गुण्डी-वन के अन्य वृक्ष : मिड़की के जिस जगल में निर्गुण्डी पैदा होती है। उस वन में निम्नलिखित अन्य वृक्ष और झाड़िया उगती हुई मैंने देखी हैं।

निमाडी (लैण्टाना), करौंदा, तेंदु, रीवजा, कृष्णसारिवा, विकंकत (फ्लैकूर्शिआ), बेर, बेरी, दूब घास, नागरमोथा, काकजंघा, ओगा (अपामार्ग), दह्या।

कुछ उदाहरणों में मिड़की (विटेक्स निगुण्डी) से, 1.50 से 1.80 मीटर की दूरी पर निर्गुण्डी पौदे मिले। तब प्रकट रूप में ये निमाड़ी, करौदा, विककत या रीवजा की जड़ पर आश्रित थे। परन्तु अधिक सम्भावना यही है कि मिड़की की जड़े वहां तक फैली होगी और उन्ही पर ये उगे होगे।

सुखाना : पचास किलोग्राम ताज़ी निर्गुण्डी जंगल से लाई गई। आठ आदमियो ने इसे आठ घंटे मे खोदा होगा। ये लोग सुबह सात बजे चित्रकूट से निकले थे, रात आठ बजे लौटे थे। बन्द कमरे में एक ढेर मे इसे रखवा दिया गया। सुबह सात बजे मैंने परीक्षा की। ढेर के अन्दर का तापमान कुछ ऊंचा था। हाथ से सरका कर मैंने इस मे से मिट्टी अलग करवा ली और तोल कर छाया मे खुली हवा में सुखाने के लिए फैला दिया। पचास किलोग्राम निर्गुण्डी में से तीन किलोग्राम मिट्टी निकली। यह मिट्टी कुछ नमी लिये हुए थी। सूखने पर इस के भार में कमी आयेगी।

आठ मार्च 1963 को मजदूर उपलब्ध नही थे इस लिए यह निश्चय किया गया कि अगली सुबह र्‌हाईज़ोम्ज़ के ऊपर से शाखाएं तोड़ कर अलग सुखाई जायेगी। इन मे से अभी मिट्टी का और परिमाण निकलेगा। घास की जड़े, मिड़की की जड़े आदि कचरा अलग किया जायगा।

पन्द्रह मार्च 1963 को निम्नलिखित तोल प्राप्त हुए :

सूखे र्‌हाईज़ोम्ज़	7,200 ग्राम
सूखे डण्ठल, पत्ते	3,025 ग्राम
सूखी मिट्टी	5,200 ग्राम
	15,425 ग्राम
नमी की कमी	37,575 ग्राम
ताज़ी औषध का भार	53.000 किलोग्राम

इस परीक्षण मे यह ज्ञात होता है कि निर्गुण्डी संग्रह करने की वर्तमान पद्धति में ताज़े उखाड़े गये पौदो का लगभग सातवां भाग सूखे र्‌हाईज़ोम्ज़ प्राप्त होते हैं।

जगलो से निर्गुण्डी लाने वाले सामान्यतया इसे धूप मे सुखाते हैं। बाली समेत पूरा पौदा ही खोद कर इकट्ठा किया जाता है। डेरे पर पहुंच कर इसे छत पर धूप में फैला दिया जाता है। यदि गरमियो का मौसम है तो ये दो दिन मे सूख जाते है। आंशिक रूप से सूख जाने पर और पूर्णतया सूख जाने पर भी पौदों को पैरो के तलवों के नीचे कुचला जाता है जिस से र्‌हाईज़ोम्ज़ पर लगी मिट्टी झड़ जाय, र्‌हाईज़ोम्ज़ से ऊपर का भाग टूट कर अलग हो जाय तथा मोटी र्‌हाईज़ोम्ज़ के छोटे टुकड़े हो जायं। हाथों के द्वारा भी यह काम थोड़ा-बहुत कियाजाता है। छाज से छटक कर मिट्टी, पत्ते, फूल, बीज,

अधपके फल, डण्ठल आदि पदार्थ र्‌हाईज़ोम्ज़ से अलग कर लिये जाते हैं। मिट्टी को छुड़ाने के लिए कभी-कभी पानी में र्‌हाईज़ोम्ज़ को धोया भी जाता है।

सुखाने का तरीका बिल्कुल घटिया है। निर्गुण्डी के डण्ठल तथा दूसरा कचरा भी र्‌हाईज़ोम्ज़ के साथ मिला हुआ बाज़ार में चला जाता है। अधिक अच्छा पदार्थ प्राप्त करने के लिए मेरा सुझाव है कि जगल से खोद कर जब पौदे डेरे पर लाये जायं तो सम्भव हो तो उसी दिन अथवा अगले दिन र्‌हाईज़ोम से कांड को पृथक् कर देना चाहिए।

फ़र्श पक्का हो तो अच्छा है। कच्ची ज़मीन हो तो चिकनी मिट्टी या गोबर से लीप देना चाहिए। सुखाने का स्थान छायादार, उत्तम हवा वाला और सील रहित होना चाहिए।

उत्पत्ति : अनुमान है कि चित्रकूट क्षेत्र में हर साल आठ-दस मन सूखी निर्गुण्डी इकट्ठी की जा सकती है। मार्च के अन्त में जब लूएं शुरू होती हैं तो पौदे सूख जाते हैं। स्थानीय संग्रहकर्त्ताओं के अनुसार मार्च के अन्त से दिवाली तक निर्गुण्डी नहीं उपलब्ध होती।

पैदावार कम हो गई है : सोलह साल पहले 1949 में जिस जंगल से दो घण्टे मे एक आदमी बीस सेर ताज़ी निर्गुण्डी खोद लेता था वहां अब मुश्किल से दिन में पांच सेर ही खोद पाता है। लोगों ने इसको खोद-खोद कर विनाश कर डाला है।

कहां-कहां जाती है : चित्रकूट से निर्गुण्डी निम्नलिखित स्थानो पर जाती है। नागपुर, पटना, बनारस, झांसी, रामपुर, जबलपुर, बालाघाट, छपरा, मुज़फ्फर नगर, सहारनपुर, गोरखपुर, देवरिया, लखनऊ, राजनाद गाव, रायबरेली, राजस्थान, आदि।

शत्रु : वकरिया निर्गुण्डी के नवजात पौदो को चर जाती हैं। स्थानीय लोगों का कहना था कि गौए उसे नही खाती। परीक्षण के लिए मैंने जड़ समेत एक पौदा एक गऊ को दिया, वह खा गई। इस बात का अध्ययन किया जाना चाहिए कि ढोरों से इस पौदे को वस्तुत: हानि पहुंचती है या नही। जगल मे निरीक्षण से मुझे ज्ञात हुआ कि जंगली जानवरो से सम्भवत: इन्हे नुकसान नही होता, सेहों और सुअरो ने उसी वन मे उगे हुए कुछ वृक्षो की छालें कुतर रखी थी और जडें खोद रखी थी परन्तु निर्गुण्डी को खोदे जाने के चिन्ह नही दिखाई दिये। जहा-जहां खुदाई की हुई थी वह सब मनुष्य द्वारा। कोई-कोई र्‌हाईज़ोम भुरभुरी और कोई-कोई फोकी पायी गयी है। इससे ज्ञात होता है कि कुछ प्रकार के कीड़े भी इन्हे हानि पहुंचाते हैं।

गलत धारणायें : वैद्यों में यह मान्यता है कि सम्हालू (मिड़की) के जो पौदे सौ या अधिक साल पुराने हो जाते हैं उनकी जड मे ममीरी पैदा होता है। बचपन से ही यह बात मैं सुन रहा हूं। उन दिनो मैं हरिद्वार रहता था। उस प्रदेश मे सम्हालू बहुत उगता है। मैंने वहा कभी इस की जड़ मे ममीरी नही देखी।

वस्तुत: वैद्यों का सम्हालू की जड़ की ममीरी से अभिप्राय निर्गुण्डी

(आलेक्ट्रा पारासिटिका) से है। सूख जाने पर इस का रूप-रंग और आकार-प्रकार ममीरी से मिलता जुलता है, दोनो कड़वी है और तोड़ने पर पीली दीखती है। इसलिए इस साम्यता के कारण फ़ार्मेसी वाले निर्गुण्डी को ममीरी कहने लगे। बहुत से वैद्य मैंने देखे है जो अमृतसर की फ़ार्मेसियों से मगा कर सुरमों में इस निर्गुण्डी को ममीरी के नाम से डालते रहे है। मुझे चित्रकूट मे मिड़की के नये पौदो की जड़ों के ऊपर उगती हुई भी निर्गुण्डी मिली है। इसलिए वैद्यों की इस मान्यता को पुष्ट करने में मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल सके कि निर्गुण्डी का पौदा सैकड़ों बरस पुराने सम्हालू की जड़ पर पैदा होता हैं।

मिड़का या मिड़की: निर्गुण्डी का संग्रह करने वालों का खयाल है कि यह परा-श्रयी (मेखवा) मिड़की की जड़ पर पैदा होता है मिडके की जड़ पर नही। वे अनपढ लोग मिड़का और मिड़की मे विभेद स्पष्ट रूप से नही बता पाते परन्तु मोटे तौर पर छोटे पत्तों वाले सम्हालू के पौदों को वे मिड़की और बड़े पत्तो वाले पौदो को मिड़का कहते हैं। इन्हे वे मादा और नर पौदों के नाम भी देते हैं।

सम्हालू (विटेक्स निर्गुण्डी) मे नर और मादा फूल एक ही पोदे पर लगते है। इसलिए नर और मादा अथवा मिड़का व मिड़की का अन्तर ठीक नही कहा जा सकता। संग्रहकर्त्ताओं की मान्यता का स्पष्टीकरण मैं इस प्रकार दे सकता हूं। जिन पौदो पर यह पराश्रयी पैदा होगा वह उन पौदो के रस को लेकर ही तो पनपेगा जिस से आश्रयदाता पौदों का विकास भलि-भांति नहीं होगा, और उन के पत्ते भी छोटे रह जायेगे। इसके विपरीत इस पराश्रयी से विमुक्त मिड़की के पौदे स्वभावतः पूर्ण विकसित होगे और उन के पत्ते भी तुलना मे बड़े होगे। यह ठीक है कि सम्हालू बहुवार्षिक झाड़ी काफ़ी कठीली और दृढ़ होती है इसलिए उस के ऊपर इस पराश्रयी द्वारा विशेष हानि नहीं नजर आती, परन्तु इसके पत्तों के विकास पर प्रभाव पड़ सकता है।

मार्च के पूर्वार्द्ध में मैं चित्रकूट मे इस विषय का अध्ययन करता रहा। उन दिनों मुझे मिड़की (विटेक्स निर्गुण्डी) का कोई भी जंगल फूला हुआ नहीं मिला। केवल एक जगह सिरसा वन में एक झाड़ी पर एक शाखा फूल रही थी। मैंने देखा कि इस के फूलों का रंग सफ़ेद था। हरिद्वार मे मैंने सम्हालू के फूलों का रंग नीला पाया था। इसलिए इस दिशा में आगे अनुसन्धान किया जाना चाहिए कि क्या यह पराश्रयी सफ़ेद फूल वाले सम्हालू पर ही तो नही उगता?

सुझाव : मिड़की के कुछ जंगलो मे निर्गुण्डी (आलेक्ट्रा पारासिटिका) पैदा होती है और कुछ मे नहीं। इस का कारण तलाश किया जाना चाहिए। निर्गुण्डी की उत्पत्ति वाले तथा निर्गुण्डी रहित मिड़की (विटेक्स निर्गुण्डी) के पौदों की रचना, फूलों, पत्तों, जड़ों और लकड़ी की परीक्षा की जानी चाहिए। ये जिस भूमि में उगते हैं उन की मिट्टी की रासायनिक परीक्षा की जानी चाहिए। सम्भव है कि कुछ विशेष प्रकार के रासायनिक तत्त्व इस पराश्रयी को उगने के लिए अनुकूलता प्रदान करते हों।

मात्रा : ताज़ी जड़ स्थानीय आदमी एक तोला तक एक मात्रा मे दे देते हैं।

ये लोग कठोर श्रम करने वाले हैं और कठिन कोष्ठ के है। इसलिए इस मात्रा को सहन कर लेते है। मृदु कोष्ठ, सुकुमार नागरिको को इस से आधे परिमाण मे दी जानी चाहिए। तब भी कष्ट प्रतीत हो तो मात्रा कम कर दें। सात्म्य हो जाने पर धीरे-धीरे बढ़ा कर पूरी एक तोला मे ले आयें। कुष्ठ के रोगी को पूरी मात्रा ही दी जानी चाहिए।

औषध तैयार करना : सम्यक्तया सुखाने के बाद चिकित्सा प्रयोजनों के लिए निर्गुण्डी को तैयार करने की कुछ विधियां प्रचलित हैं। एक विधि में र्‌हाईज़ोम्ज़ को साफ कर के घी मे तल कर कूट लिया जाता है और बारीक चूर्ण बना लिया जाता है। दूसरी विधि में साफ किये र्‌हाईजोम का पहले चूर्ण बनाया जाता है और तब उस मे घी तथा चीनी मिला कर शीशी में, चीनी मिट्टी के मर्तबान में या मिट्टी की चिकनी हाण्डी में ढक्कन बन्द कर के रख लेते हैं।

उपयोग : चित्रकूट और करवी के देहाती इसे सुजाक में उपयोगी बताते हैं। दस्त लाने के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। इस का ठीक अनुपान गोमूत्र है। रामपुर के साधु ताज़ी जड़ी को गोमूत्र के साथ सिलबट्टे पर या दौरी डण्डे मे रगड़ कर चुल्लू भर गोमूत्र मे घोल कर कपड़े में छान कर पिला दिया करते थे। चार रत्ती प्रातः और इतना ही शाम को पिलाते थे।

आजकल के श्रद्धाहीन मनुष्य गोमूत्र को पीना क्योंकि घृणित समझते हैं इसलिए और साथ ही ताज़ी औषध दूर-दूर तक सुलभ नहीं होती इसलिए जड़ी को सुखा लिया जाता है और चूर्ण बना कर पानी के अनुपान से दिया जाता है। परन्तु रोगी यदि गोमूत्र पीने में ऐतराज न करें तो गोमूत्र के अनुपान से देना अधिक प्रशस्त होगा।

निर्गुण्डी (आलेक्ट्रा पारासिटिका) के चूर्ण को चार आना भर मिश्री मिले दूध के साथ प्रातः साय पिला दें। सुबह खाली पेट शाम को भोजन के बाद। यह ऊष्ण वीर्य है, पित्त वर्द्धक है, रक्त दोषनाशक और वातनाशक है। इसके सेवन-काल में घी और दूध का सेवन करते है।

पथ्य : गलित कुष्ठ का रोगी कम-से-कम एक साल तक इसका सेवन करें। पथ्य मे चने की रोटी और गौ का दूध पियें। शेष सब चीजों का त्याग कर दे। नमक, मिर्च, खट्टा, मीठा, घी बिल्कुल न खायें।

रसायन : चालीस साल की उम्र के बाद निर्गुण्डी कन्द रसायन मानी जाती है। इस के सेवन से वृद्धावस्था की निर्बलता नहीं अनुभव होती। बादा और सतना जिलो मे ताजे मूलस्तम्भो (र्‌हाईज़ोम्ज) को दौरी डण्डे मे बादाम, मग़ज, इलायची आदि के साथ ठण्डाई की तरह रगड़ लेते है और दूध मे घोल कर मीठा मिला कर पीते हैं। कल्प के लिए स्वयं उखाड़ें। फल की इच्छा के बिना खायें तो अधिक लाभ होगा। तिल के तेल मे निर्गुण्डी कन्दों को कुचल कर डाल दें। शीशी के अन्दर चालीस दिन धूप मे पड़ा रहने दें। प्रतिदिन हिलाते जायं। यह तेल सिर पर लगाने से बाल काले होते हैं।

ओ३म् गणाधिपतये नमः। इस मन्त्र को जपते हुए स्नान करने के बाद, जूता

रहित, शुद्ध पवित्र होकर, धूप दे कर निर्गुण्डी को उखाड़ें। शरद पूर्णिमा (दशहरे के बाद) के पाच दिन तक उखाड़े। जितना उखाड़ सके उतना उखाड ले। छाया मे सुखाये। बकरे के मूत्र के अनुपान से खायें। उस बकरे का मूत्र ले जो सम्हालू के पत्ते खाता हो। गोमूत्र से भी खा सकते है। परन्तु बकरे के मूत्र के साथ सेवन करने से अधिक लाभ होता है। तिल के तेल या तक्र के अनुपान से भी कई लोग देते है। चालीस दिन तक खाये

पेट के कीड़े : जिन बच्चो का पेट फूला हो, पेट मे कीड़े हो उन्हे निर्गुण्डी देने से लाभ होता है। बच्चो की अवस्था के अनुसार एक-दो माशा दिन में एक बार देते है। दो-तीन दिन मे कीड़े मर जाते है। बड़ी उम्र के लोगो और स्त्रियो को भी पेट के कीड़ो को मारने के लिए इसे खिलाते हैं।

बुखार को रोकने के लिए : चैत में, सावन-भादो में जब शरीर में पीड़ा हो और ऐसा लगता हो कि बुखार आने वाला है तब देहाती लोग ताज़ी जडी का एक तोला लेकर सिल बट्टे पर रगड़ कर एक छटाक गोमूत्र मे घोल कर पी लेते है। सुबह खाली पेट। पहले मतली-सी अनुभव होती है। औषध के ठहर जान पर एक घण्ट के बाद तीन-चार तक पतले, पीले, काले, हरे रंग के दस्त आते है। एक-दो दिन पी लते है। इससे शरीर की गरमी निकल जाती है। शरीर हल्का पड़ जाता है, स्फूर्ति और शक्ति अनुभव होती है। उसके बाद साल भर तक बुखार नही आता। तीन-चार जुलाब आने के बाद दुपहर बाद मूग की दाल की पतली खिचड़ी मे घी डाल कर खाते है।

पक्षाघात : हाथ, टाग या दूसरे अगो के पक्षाघात मे रोगी निर्गुण्डी का सेवन करते है।

मलबन्ध : कब्ज के इलाज के लिए निर्गुण्डी की ताज़ी मूलस्तम्भ का स्थानीय व्यवहार बहुत है। इसे सिलबट्टे पर पीस कर दूध के साथ देते है। किसी-किसी का कोष्ठ कड़ा होता है, उसे पहले दिन जुलाब नही होता। ऐसे व्यक्ति को दो-तीन दिन तक प्रति-दिन दी जाती है।

सोज : आंख के ऊपर, हाथ-पैर और पेट पर सोज हो जाने पर रोगियो को निर्गुण्डी का चूर्ण शहद के साथ सेवन कराने से लाभ होने के उदाहरण मिलते है। इससे मल साफ आता है, भूख लगने लगती है और तीसरे-चौथे दिन से रोगी लाभ अनुभव करने लगता है।

पन्द्रह :

एरण्ड

परिचय ज्ञापक नाम : तरुण (वृक्ष छोटा ही होता है); वर्द्धमान (पौदे की वृद्धि बहुत तीव्र होती है); हस्तिकर्ण, हस्तिकर्णी, नाग कर्ण, हस्तिपर्ण (हाथी के कान के समान चौड़े पत्तों वाला), करपर्ण, करपर्णा, पञ्चागुल (हाथ की अगुलियों के समान पांच मुख्य नाड़ियां जिसके पत्ते में हों); यक्षहस्त, गन्धर्व हस्तक (यक्ष और गन्धर्व के हाथ जैसे पत्तों वाला छोटा वृक्ष); याचनक (फैलाए हुए हाथ के समान मानो पत्ते याचना कर रहे हों, उत्तान पत्रक (ऊपर को उठे हुए या फैले हुए पत्तों वाला); दीर्घ दण्डक (लम्बे पत्र दण्ड वाला); व्याघ्र पुच्छ (पतली शाखाओं पर बालों या मुलायम काटों वाले समूहों में लगे हुए फल व्याघ्र पुच्छ के पिछले सिरे की तरह दीखते हैं); चित्र चित्रक, चित्रबीज (चित्रित बीजों वाला), स्निग्ध (बीजावरण चिकना होता है, अथवा स्नेह-तेल-देने वाला वृक्ष); गन्धर्व (गांधारयति इति, जिस मे स्वर निहित है, खोखली छोटी शाखाएं पहले सम्भवतः बास की तरह मुरली बनाने के काम आती हों)।

गुणप्रकाशक नाम : वातारि (वात रोगों का शत्रु)।

भेद सूचक नाम : श्वेतैरण्ड, सितैरण्ड, शुक्लैरण्ड, शुक्लएरण्ड, शुक्ल (सफेद एरण्ड)। रक्त, रक्तैरण्ड (लाल एरण्ड), लोहित शीर्षक (लाल सिर वाला), व्यालम्ब (लम्बा)। ह्रस्वैरण्ड (छोटा एरण्ड)। स्थूलैरण्ड (मोटा एरण्ड), महैरण्ड, महापंचांगुल (बड़ा एरण्ड) आदि।

विविध भाषाओं और स्थानों में नाम :

हिन्दी : एरण्ड।
बंगाली : भेरण्डा।
सन्थाल : एरण्डम।
आसाम : एरि।
बिहार : अण्ड।
गोण्ड : नेरिण्ड।

उत्तर पश्चिम प्रान्त : अरण्ड, रेण्डि, रेरि, भट्रेरि।
पंजाब : अनेरु, हुनौली, अरण्ड, अरिण्ड।
पश्तो : अरहण्द।
अफगानिस्तान : वाज—अञ्जीर, बुज अञ्जीर।
दक्षिण : यरण्ड, इरण्ड, रुण्ड, इण्ड।
मराठी : एरण्डि, यरण्डीचा।
गुजराती : एरण्डो।
कर्णाटक : एरड्डु आण्डलके।
तैलंगी : आमिद पुचेद।
अंग्रेजी : कैस्टर औयल प्लाण्ट।
लैटिन : रिसिनस कौमुनिस लिन।
नैसर्गिक : वर्ग एडफ्रोबिआसी।

प्राप्ति स्थान : एरण्ड ऊष्ण देशों का मूल निवासी है। भारत मे सब जगह बोया जाता है और यहां यह प्राकृतिक बना लिया गया है। भारत में पहाड़ो पर 1,829 मीटर की ऊंचाई तक मिलता है। मारवाड़ में प्राकृतिक बना लिया गया है। अपर बर्मा में जंगली है और कभी खेती नही किया गया। आसाम मे बंझड़ ज़मीन मे स्वयं उगा हुआ होता है और इसके पत्ते एक देशीय रेशम के कीड़े को खिलाये जाते हैं। भारत मे मैदानों में मानवीय बस्तियो के पास कूड़े कचरे के ढेर के ऊपर और फालतू जमीनो पर बहुधा उग आता है।

वानस्पतिक वर्णन : यह सदा-हरा रहने वाला छोटा वृक्ष या बड़ी झाड़ी है। संस्कृत में तो प्रसिद्ध उक्ति है कि जहां कोई वृक्ष न हो वहां एरण्ड ही वृक्ष समझ लिया जाता है।[1] इसके पत्ते हरे या लाल आभा लिए हुए होते हैं, पत्तो का व्यास तीस से साठ सेंटीमीटर। पत्र दण्ड दस से तीस सेंटीमीटर लम्बे। पुरुष पुष्प एक ही पुष्पदण्ड पर मादा फूलो से ऊपर होते हैं। छाल पतली हल्की हरिताभ-धूसर। लकड़ी सफेद मुलायम, हलकी जिसके बीच में मृदु गूदा होता है। कभी-कभी अनियमित पूरी अन्तः काष्ठ भी होती है।

भेद : संसार के प्रत्येक भाग मे बहुत देर से बोया जाने के कारण इसके अनेक भेद बन गये हैं। इनमे से कुछ तो एरण्ड के विशुद्ध भेद या उपजातिया कही जा सकती है परन्तु दूसरों का वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से भी इतना महत्त्व नही है और ये जातिया उद्यान विशेषज्ञों की कला की उत्पत्ति समझनी चाहिये जिनकी पिछली शताब्दी मे ही सुन्दर और आकर्षक पत्तो तथा तनों के रूप मे सृष्टि हुई है।

समस्त संसार मे प्राप्त एरण्ड के प्रकारों को कुछ लेखको ने सोलह भेदो में परि-

---

1. निरस्तपे पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।

गणन किया है। इनमें बहुत अधिक स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होता और एक दूसरे से सादृश्य रखते हुए ये कुछ समूहों में बंटे हुए मालूम पड़ते हैं जिन समूहों का मूल एक जाति की बोयी हुई अवस्थाएं ही है।

प्राचीनतम संस्कृत ग्रंथों और सर्व प्रथम युरोपियन रचनाओं से लेकर वर्तमान समय के सब लेखक इसके दो मुख्य भेदों को स्वीकार करते हैं। इन दो बड़े प्रकारों का विभिन्न रूप से नामकरण किया गया है जो एक ओर तो बीजों के आकार को प्रकट करते हैं और दूसरी ओर शाखाओं, पत्तों और पत्रदण्ड के रंग को प्रकट करते हैं।

दो मुख्य भेद इस प्रकार किये जा सकते हैं—

1 यह ऊंची बहुवार्षिक झाड़ी या लगभग वृक्ष होता है जो आम तौर पर बाढ़ बनाने के उद्देश्य से या नाजुक फसलों पर छाया देने के उद्देश्य से खेतों के चारों ओर बोया जाता है। इसके फल बड़े, बीज लाल तथा बड़े और अधिक परिमाण में तेल देते हैं—लगभग चालीस प्रति शत। यह तेल घटिया किस्म का होता है और मुख्यतया जलाने और मशीनों में देने के काम में आता है। लैम्प के तेल के रूप में बहुत इस्तेमाल होता है।

2 अधिक छोटा वार्षिक पौदा है। कभी-कभी शुरू फसल के रूप में बोया जाता है। *यद्यपि बहुधा दूसरी फसलों के साथ पंक्तियों में बो लिया जाता है।* इसके बीज छोटे सफेद और उन पर भूरे धब्बे होते हैं। इसमें तेल सैंतीस प्रति शत निकलता है। तेल सावधानी से और अधिक खर्चीले तरीकों से निकाला जाता है। यह तेल बढ़िया होता है और मुख्यतया औषधि रूप में व्यवहृत होता है।

एरण्ड का एक और भेद कहा जाता है जिसे हम 'मीठा या भक्ष्य' एरण्ड कह सकते हैं। कहते हैं, इसके बीजों में कोई विषैला तत्त्व नहीं होता और इनसे निकाला हुआ तेल खाद्य पदार्थ के रूप में भोजनों के पकाने में इस्तेमाल किया जा सकता है। चीनी एक प्रकार के एरण्ड तेल को भोजन पकाने में काम लाते हैं। इसके फल चिकने होते हैं। प्रायः कहा जाता है कि अफ्रीका निवासी और वेस्ट इण्डीज के नीग्रोज एक प्रकार का एरण्ड तेल भोजनों को पकाने में बहुत प्रयुक्त करते हैं। एचिसन लिखता है कि झेलम में बीज व्यंजनों में डाले जाते हैं। हरि-रुद की घाटी और खोरासान में विरेचन रूप में बीजों का प्रयोग अज्ञात है और तेल केवल जलाने के काम आता है।

कैयदेव, नरहरि, भाव मिश्र आदि संस्कृत लेखकों ने इसके लाल और सफेद दो भेद किए है। नरहरि ने इन भेद के अलावा एक भेद ह्रस्वैरंड। शाल्मल्यादि वर्ग, श्लोक 57) और दूसरा स्थूलैरंड (शाल्मल्यादि वर्ग, श्लोक 59) किया है। इसने एरंड के महा पूर्वक पर्याय स्थूलैरंड के लिए प्रयुक्त किए हैं, और रस, वीर्य, विपाक में इसे अधिक गुणकारी समझा है (राजनिघट्ट, शाल्मल्यादि वर्ग, श्लोक 59। स्थूलैरंडो गुणाढ्यः स्यात् रस वीर्य विपक्तिषु)। भाव मिश्र लाल और सफेद एरंड के गुणों में भेद नहीं समझता। 'एरंड युग्मम्' इस प्रकार वह एरंड के गुण लिखना आरम्भ करता है (भाव प्रकाश,

पूर्वखंड, गुडूच्यादि वर्ग, श्लोक 62)। अन्य लेखकों ने भी प्रायः दोनो पर हर एक तरह ही विचार किया है। जिन्होंने दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है वे इनके भेदक गुणो को बहुत स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। मुसलमान लेखक भी इसके लाल और सफेद दो भेदो का उल्लेख करते हैं, लाल अधिक क्रियाशील कहा जाता है।

इतिहास : आधुनिक वनस्पतिशास्त्रवेत्ताओं का यह खयाल प्रतीत होता है कि एरंड भारत का मौलिक पौदा नही है और पौदे की खेती बहुत सम्भवत अफ्रीका से फैली है जहां कि वास्तव में यह जंगली रूप में उगता है। एरण्ड का मौलिक निवास स्थान दक्षिणीय एशिया मालूम होता है। बहुत से ऊष्ण प्रदेशो मे यह पौदा अत्यन्त प्राचीन काल से बोया जा रहा है। चीन के साहित्य में इसका सबसे पुरातन वर्णन तागा काल—ईस्वी पश्चात् 618 से 906 में मिलता है। ईजिप्ट मे यह चार हज़ार ईस्वी पूर्व मे था। पुरातन ईजिप्ट निवासी तेल निकालते थे और जलाने के लिए इस्तेमाल करते थे। दलदलों वाले स्थानों में रहने वाले ईजिप्ट निवासी यह तेल शरीर पर मलने के लिए इस्तेमाल करते थे। डियोस्कोरीयड्स जानता था कि तेल उदरकृमिहर है और वमन लाता है और यह विरेचक भी है। परन्तु उस समय के अन्य चिकित्सको ने इस ज्ञान का कोई संकेत नही दिया। इस काल से पूर्व भारत में यह विरेचन के लिए उपयोग में आता था और आमवात मे लेप भी किया जाता था। मूल की भी कई निर्मितिया चरक, सुश्रुत में दी हैं। सुश्रुत इसके लाल और सफ़ेद दो भेद लिखता है। वह इसके ताज़े अगो को विभिन्न प्रकार से प्रयोग करने के लिए लिखता है। यह पौदा उस समय भारत मे सुलभ था। यह स्पष्ट है कि सुश्रुत लिखे जाने के समय यह पौदा भारत में अच्छी तरह ज्ञात था और यहीं पर होता था और सम्भवतः बोया भी जाता हो। इस तथ्य से मालूम होता है कि ईस्वी सन् से कई सौ शताब्दियों पूर्व भारतीयो की इस पौदे से परिचिति थी। अब भी यह बाह्य हिमालय मे मानवीय प्रभाव से काफी दूरी पर स्वतः उगा हुआ मिलता है। इसलिए अफ़्रीका में इसका मूल निवास मानना यद्यपि आपत्ति-जनक नही है परन्तु भारत भी इसका मौलिक उद्‌भव स्थान हो सकता है।

डी कैण्डोले ने अपनी पुस्तक कृषि किए जाने वाले पौदों का उद्‌भव (ओरिजिन ऑफ़ कल्टिवेटेड प्लाण्ट्स) मे ससार के अन्य भागों में एरड की खेती प्रारम्भ किए जाने के सम्बन्ध में बहुत मनोरंजक ऐतिहासिक और वानस्पतिक तथ्य दिए है, जिनका हम यहां उल्लेख करते है। किसी भी देश मे, वह लिखता है, यह पौदा इतनी निश्चितता से जंगली नही कहा जा सकता जितना एबिसीनिया, सेन्नार और कर्दोफ़ोन मे है। गोमेलो के पास कायर की घाटी मे चट्टानी स्थानो मे यह आम होता है। अपर सेन्नार के उन हिस्सो में जहां बारिश मे बाढ़ आ जाती है यह जगली है। कर्दोफ़ोन में माउण्ट कोहन के उत्तरीय ढाल मे कोरणी मे भी यह देखा गया है। ईजिप्ट मे एरड बोया जाता है और प्राकृतिक बना लिया गया है। अल्जेरिया, सारडीनिया और मोरक्को तथा कैनरीज़ में मुख्यतया समुद्र तट पर यह रेता मे मिलता है और यहा भी सम्भवतः यह सदियो से

प्राकृतिक बना लिया गया है। एरेबिया फ़ेलिक्स पर्वतों पर यह पाया जाता है। बिलो-चिस्तान और पर्शिया के दक्षिण में मिलता है, परन्तु कुछ कम जैसे कि सीरिया, एनाटो-लिया और ग्रीस मे।

मलाबार में यह बोया जाता है और रेता में उगा हुआ मिलता है परन्तु आधु-निक एंग्लोइंडियन लेखक इसे जंगली नही समझते। कोचीन और चीन में बोया हुआ और स्वयं जात दोनों रूप में मिलता है। मालूम होता है बोये हुए पौदों से बच कर कुछ बीज निकल गए हैं और यह वहां की मौलिक उपज नही है। जावा मे यह बहुत फैला हुआ है और वहा के बीजों मे से तेल भी बहुत अधिक परिमाण में निकलता है। अम्बो-यना में बस्तियों और मैदानो के आप-पास कहीं बोया जाता है वह भी अधिकतर औष-धोपयोग के लिए। एक जंगली जाति यहां बंजड़ जमीन मे उगती है, यह निस्सन्देह बोये गए पौदों से ही उत्पन्न हुई है। जापान में माउण्ट वंतुजन के ढलानों पर और झाड़ियो मे उगता है। अमेरिका के ऊसर प्रदेश मे यह पौदा बोया जाता है। कूड़े के ढेरों आदि पर यह सुगमता से उग आता है परन्तु किसी भी वनस्पतिशास्त्रवेत्ता ने इसे वास्तव में तद्देशीय नही पाया। अमेरिका की खोज के बाद यह वहां ले जाया गया होगा। ईजिप्ट और पश्चिम एशिया में यह इतने अधिक प्राचीन काल से बोया जा रहा है कि गलती से यह वहां की मौलिक उपज समझ ली जाती है।

यूरोपियन चिकित्सा में इसके स्थान प्राप्त करने का इतिहास इस प्रकार है— तेरहवीं शताब्दी के मध्य में रतिस्बन का पादरी एलबर्टस मैग्नस एरड की खेती करता था। टर्नर (1568) के समय मे यह उद्यान वृक्ष के रूप में अच्छी तरह ज्ञात था। इसी सदी के अन्त मे गिरार्दे इसे रिसिनस या किक नाम से जानता था। वह लिखता है कि इसके तेल का नाम ओलियम रिसिनम है और बाह्य प्रयोग में त्वचा के रोगो मे काम आता है। इस काल के बाद मालूम होता है कि तेल सर्वथा उपेक्षित हो गया। यहां तक कि डेल के 1693 के विस्तृत फ़ार्माकोलोपिया में इसका ज़िक्र तक नही किया गया। हिल (1751) और लेविस (1711) के समय में दुकान में एरड के बीज बहुत कम मिलते थे और एरड तेल मुश्किल से ज्ञात था। 1764 मे पीटर केनवेन एक चिकित्सक ने, जिसने बहुत साल तक वेस्ट इण्डीज़ मे चिकित्सा कार्य किया था, एरड के सम्बन्ध मे एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें उसने सुख विरेचक के रूप में इसका उपयोग करने की जोरदार सिफ़ारिश की। इस निबन्ध के दो सस्करण निकले और फ्रेंच में भी यह अनूदित हुआ जिससे तेल की उपयोगिता और अच्छी तरह लोगो को मालूम हुई। फिर हम देखते हैं कि एरण्ड के बीजों को 1788 के लण्डन फ़ार्माकोपिया मे स्थान दिया गया और उनसे तेल निर्माण के निर्देश भी दिये गये है। वुडबिले अपनी मेडिकल बोटनी (1690) में लिखता है कि तेल देर से पर्याप्त उपयोग मे आ गया है। इस काल तक और इसके बाद भी अनेक वर्षों तक यूरोपियन-चिकित्सा के लिए आवश्यक तेल और बीजो का थोड़ा-सा परिमाण जमायका से प्राप्त किया जाता रहा। धीरे-धीरे मार्केट मे इस तेल का स्थान

ईस्ट इण्डीज में उत्पन्न होने वाले तेल ने ले लिया।

व्यापारिक महत्त्व : भारत में बहुत बड़े क्षेत्र में एरण्ड की खेती हो रही है। वेस्ट इण्डियन आइलेण्ड्स, उत्तरीय अमेरिका और इटली मे बहुत अधिक तादाद मे बीज इकट्ठे किए जाते है और उनसे तेल निकाला जाता है। बीज और तेल दोनों ही व्यापार के महत्त्वपूर्ण पदार्थ हैं। तेल चिकित्सा में सारे संसार मे बहुत परिमाण में प्रयुक्त होता है। तेल की एक बहुत बड़ी तादाद, चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले परिमाण से कहीं अधिक, साबुन और चमड़े के तेल बनाने मे, वायुयानों में, एंजिनो में तेल देने के लिए तथा अन्य इण्डस्ट्री प्रयोजनो के लिए खर्च हो जाता है। भारत बहुत दिनो से एरण्ड तेल का बहुत बड़ा उत्पादक है और इसका निर्यात व्यापार कर रहा है।

व्यापारिक परिमाण से बीजो मे तेल निकालने की दो विधियां है :

1 ठण्डी विधि : यवकुट किए हुए बीजों से निष्पीड़न की प्रक्रिया से विना गरमी की सहायता से तेल निकाला जाना चाहिए। इस प्रकार से निकाला हुआ तेल नीरंग या हल्का-सा पीला या तृण वर्ण होता है। लगभग निःस्वाद, मृदु और ईषत् तिक्त होता है। पानी में उबाल कर निकालने से गन्ध और स्वाद दोनों खराब हो जाते है और शीत निष्पीड़न से निकाले तेल की अपेक्षा यह शीघ्र ही सड जाता है।

2 गरम विधि : बीजो के छिलके उतार कर उन्हे पीसा जाता है और तब पानी में उबाला जाता है। पानी की सतह पर आये हुए तेल को निथार कर छान लिया जाता है। फिर दुबारा थोड़े पानी के साथ मिला कर तिक्त तत्त्व को निकालने के लिए उबालते है। तेल अधिक लेने के लिए कई बार बीजों को भून लिया जाता है। इससे तेल भूरा-सा और कड़वा हो जाता है।

बड़े परिमाण मे तेल निकालने की विधि निम्न है -- धूल और छिलकों से बीजों को पूर्णतया साफ़ करके एक उथले लोहे के बर्तन में डाला जाता है। यहा इन्हें हल्की गरमी पहुंचाई जाती है जो बीजों को भूनने और विश्लिष्ट होने देने के लिए अपर्याप्त हो और इससे अधिक न हो कि वह हाथ से बर्दाश्त न की जा सकती हो। इस प्रक्रिया से तेल पर्याप्त द्रव हो जाता है और निष्पीड़न में सुगमता रहती है। तब बीज एक सशक्त हाइड्रॉलिक प्रेस मे डाले जाते है। इस प्रकार एक श्वेताभ तैलीय द्रव प्राप्त होता है जो पर्याप्त मात्रा में पानी भरे हुए स्वच्छ लोहे के बोयलर्स मे डाल दिया जाता है। कुछ समय तक यह मिश्रण उबाला जाता है और सतह पर उठ आने वाली मलिनताएं निथार ली जाती हैं। अन्त मे पानी के ऊपर एक स्वच्छ तेल रह जाता है। इस द्रव में म्युसिलेज और निशास्ता विलीन हुए होते है और एल्ब्युमिन गरमी से जम जाती है। जमी हुई एल्ब्युमिन पानी और तेल के बीच में एक सफ़ेद-सी स्तर बनाती है। साफ़ तेल अब साव-धानी से निकाल लिया जाता है और स्वल्प परिमाण में पानी के साथ उबालने के बाद यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। जलीय वाष्प उठने बन्द हो जाने तक गरमी दी जाती है। इस अन्तिम प्रक्रिया का उद्देश्य तेल को अधिक शुद्ध करना होता है, इसके तिक्त उड़न-

शील पदार्थ को निकाल दे कर इसे कम क्षोभक बनाना होता है। परन्तु गरमी अधिक नें लगने देने मे बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। नही तो तेल मे भूरा रंग और तिक्त चरपरा-सा स्वाद आ जाता है। इस सब प्रक्रिया के बाद तैयार तेल को बैरल्स में डाल कर मार्केट मे भेज दिया जाता है।

विश्लेशण : तमिलनाडु, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, और मध्यप्रदेश के बीजों की बड़े परिमाण मे परीक्षा की गई और मालूम हुआ कि इनमे पच्चीस से पैंतीस प्रति शत छिलका होता है और कुछ अपवादो को छोड़कर गूदे मे से साठ से सत्तर प्रति शत या सारे बीज का पैंतीस से पचास प्रति शत तेल निकलता है। छोटे बीजो की अपेक्षा बड़े बीज अधिक तेल देते हैं।

वाष्पीकरण से एल्ब्युमिनस पदार्थों के जम जाने से और तब छारण द्वारा निकाल दिए जाने से शुद्ध हो जाने के कारण तेल के बहुत से व्यापारिक नमूनो मे स्वतन्त्र स्निग्ध अम्लो (फ़ैटी एसिड्स) का थोडा अनुपात होता है।

तेल स्निग्ध, गाढ़ा, चिपचिपा लेसदार, नीरग या हल्का-सा पीला होता है। गन्ध हलकी, स्वाद में पहले चिकना-सा, नि स्वाद और बाद मे तिक्त तथा अरुचिकर।

पतले स्तरों मे खुला रहने पर भी तेल शुष्क नही होता एब्सोल्यूट एल्कोहल, ईथर और तारपीन के तेल (टर्पण्टाइन ऑयल) मे सर्वथा विलेय है। नब्बे प्रति शत एल्कोहल में 3.5 में 1 घुलनशील है।

तेल में मुख्यतया ग्लिसरोल का रिसीनोलिएट या ट्रि-रिसिनोलीन होता है। पामिटीन और स्टिरीन थोड़े परिमाण मे होते हैं। एब्सोल्यूट एल्कोहल और ग्लेशियल एसिटिक एसिड मे यह सब अनुपातो मे बहुत अच्छी तरह मिल जाता है। रिसिनोलीक एसिड के ग्लिसराइड्स तेल के विरेचक प्रभाव में मुख्य कारण हैं। मुख द्वारा पिलाया जाने पर तेल साबुन बन जाता है और स्वतन्त्र अम्ल मुक्त हो जाता है जो प्रभाव उत्पन्न करता है।

तेल के अतिरिक्त बीजो मे एक बहुत विषैला पदार्थ होता है। यह विषैला तत्त्व एल्ब्युमिनॉयड की प्रकृति का पदार्थ है और इसको रिसीन नाम दिया गया है। यह प्रबल विष है जिसका रक्त के जमाव पर निश्चित प्रभाव है। इसमें विरेचन प्रभाव बिलकुल नही है और यह आमाशय तथा अन्य मार्ग मे रक्तस्रावजन्य शोथ उत्पन्न कर देता है। त्वचा के नीचे सूचिवेध दिया जाने से भी इसका यह प्रभाव होता है। तेल मे यह सर्वथा नही होता। बीजो मे विद्यमान रिसिनीन भी विषैला तत्त्व है।

प्रभाव : बादाम तेल और जैतून तेल की तरह यह मृदु और अक्षोभक है। त्वचा पर मलने से अथवा शिरा या गुदा मे डालने से यह रेचन करता है। छाती पर लगाने से कहते हैं दूध के स्राव में वृद्धि करता है परन्तु इसके लिए एरण्ड पत्रों की पुल्टिस अधिक प्रभावकारी है।

आमाशय पर इसका स्थानिक कार्य वही है जो त्वचा पर। इसका स्वाद अप्रिय

मालूम होता है। ग्रहणी मे होने वाले साबुनीकरण (सैपोनिफ़िकेशन) के परिणाम स्वरूप बनने वाले क्षारीय रिसिनोलिएट के कार्य के कारण जो मचलाना, तिलमिलाहट और वमन आदि लक्षण कभी-कभी इसके अन्तः प्रयोग मे होते है। आंतो की ग्रन्थियों और आंतों की गति को यह कोमलता से उत्तेजित करता है और वेदनारहित, गतिवान्, निश्चित और उत्तम मृदु विरेचक है। चार से छै घण्टे के बीच मे कार्य करता है। प्रवाहण संख्या मे दो से चार होते है। मल मुलायम या अर्द्धद्रव होता है परन्तु जलीय नही होता। अन्तिम प्रवाहणों के साथ तेल बाहर निकल जाता है और कभी-कभी मरोड़े भी पैदा करता है।

बीजो का विष प्रभाव : बीजों की अंकुरोत्पत्ति के समय रिसिनीन अधिक परिमाण मे होता है। इसलिए इस समय ये अधिक विषैले होते है। रिसीन में क्रियाशील विषैले पदार्थ दो है—एक जमालगोटे (जैट्रोफ़ा कुर्कास) मे पाया जाने वाला कुर्सीन और दूसरा रत्ती मे पाया जाने वाला एब्रीन।

बीजो के खाये जाने से मृत्यु हो जाने कारण यह रिसीन पदार्थ है। इसका कार्य रक्त को जमा देना है। एक बीज खाने का परिणाम भी गम्भीर हो सकता है। कइयो का खयाल है कि चार बीज मौत ला देने मे पर्याप्त है। रिसीन की क्रियाशीलता उबलते पानी के तापमान पर नष्ट हो जाती है। तैल निष्पीडन के ग्राम्य तरीको में बीजों का पहले अच्छी तरह भूनने मे जहां तेल अधिक परिमाण में प्राप्त करने का उद्देश्य होता है वहां सम्भवतः इस बात का भी खयाल होता है कि रिसीन के विषैले प्रभाव को बहुत हद तक कम कर दिया जाय। अच्छी तरह भूने हुए बीज विरेचन के लिए बिना किसी घातक परिणाम की आशंका के खाये जा सकते है। पुराने लोग तीस बीजों की मात्रा का जिक्र करते है। एक बार मे केवल छं या सात बीज बहुत देख-भाल के बाद दिये जाने चाहिए।

कहते है, बीजो का अन्तः प्रयोग मे असर उनसे निकलने वाले आनुपातिक तेल की अपेक्षा कही अधिक होता है। बिना भूने हुए बीज आमाशय और आंतो मे क्षोभ पैदा करके वमन और विरेचन प्रारम्भ कर देते हैं और वमन तथा अतिसार शीघ्र ही उग्र हैज़े का रूप धारण कर लेते है।

अन्तः प्रयोग मे विरेचन के लिए दिए गये तेल का कुछ अंश निस्सन्देह जज्ब हो जाता है और जब स्तन ग्रंथियों से बाहर निकाला जाता है तो स्तनपायी को जुलाब ला सकता है। कई रोगी इसके उपयोग के आदी हो जाते है। पुरानी मलबन्ध मे यह अनुपयोगी होता है।

मात्रा और सेवन विधि : एक युवा व्यक्ति को अनुलोमन के लिये तीस बूंदो की न्यूनतम मात्रा से आठ औंस तक अधिकतम मात्रा देने की ज़रूरत पड़ती है। सामान्यतया युवाओ के लिये एक बार चार से छः ड्राम की मात्रा दी जाती है। बच्चे कभी-कभी बड़ी मात्राए बर्दाश्त कर लेते हैं। नवजात शिशु के लिए एक छोटा चाय का

चम्मच भर बड़ी मात्रा नहीं है। शीत निष्पीड़न से निकाला हुआ तेल लगभग स्वाद रहित होता है और कौड लिवर ऑयल की तरह दिया जा सकता है। तेल की अरुचिकर गन्ध, चिकनापन और खराब-सा स्वाद बबूल निर्यास के लेस या अण्डे की ज़र्दी के साथ घोल बनाने से या कैप्सूलस में देने से हटाया जा सकता है। सर्दियों में पिलाने से पहले तेल को जरूर गरम कर लेना चाहिए। गरम कॉफ़ी या दूध के ऊपर तैरता हुआ तेल लिया जाय या तेल की एक मात्रा लिए जाने के दो घण्टे बाद एक चाय का प्याला गरम पानी लिया जाय तो प्रायः इसके कार्य में सहायता मिलती है। भोजन इसके कार्य को रोकता है या मन्द कर देता है। कहते है, तारपीन के तेल (टर्पण्टाइन ऑयल) की कुछ बूंदें इसमें मिला देने से इसका विरेचक प्रभाव बढ़ जाता है।

सामान्य उपयोग : भारत में यह अत्यन्त प्राचीन काल से दीपकों में जलाया जा रहा है। कुछ सालों पहले आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक जलाया जाता था। भारत में सबसे अच्छा लैम्प तेल यही ज्ञात है। विश्वास किया जाता है कि यह अन्य वानस्पतिक और खनिज तेलों की अपेक्षा अधिक शीतल तथा अधिक स्वच्छ प्रकाश देता है और अधिक स्थिरता से जलता है। एरंड तेल अत्युत्तम सफ़ेद प्रकाश देता है जो मिट्टी का तेल, सरसों, अलसी और सब प्रकार के दूसरे तेलो की तुलना में चाहे वे वानस्पतिक, प्राणिज या खनिज हों कहीं बढ़िया है। जिस धीमी चाल से तेल जलता है वह इसके खर्च में भी काफी असर डालता है। एक चौथाई से आधे तक बचत हो जाती है। लैम्प के तेल के रूप में इसका खतरे से रहित होना एक और खूबी है। लैम्प के तेलों में सम्भवतः सबसे सस्ता पड़ता है।

खालों और सब प्रकार के चमड़ों के सामान को सुरक्षित रखने के लिये एरंड तेल प्रयुक्त किया जाता है इसका यह गुण देर से ज्ञात है। यह चूहों और दूसरे चमड़े के शत्रुओं को दूर रखता है और उनकी पौलिश को खराब नहीं करता। कई रंगों को तैयार करने में भारतीय रंगसाज एरंड तेल को सहायक पदार्थ के रूप में इस्तेमाल करते हैं। कपड़े की छपाई करने वाले भी इसका उपयोग करते हैं।

सब प्रकार की मशीनों और छोटी-बड़ी घड़ियों में गति के लिए दिया जाता है। सब प्रकार के साबुन और सुगन्धित तेलों के बनाने में यह सस्ता और सर्वोत्तम तेल है। इसके लाभदायक प्रभाव इसके लेपक गुण के कारण हैं। यह सिर को ठंडा रखता है। त्वचा के छिद्रों और बालों की जड़ों को मुलायम और खुला हुआ रखता है।

तेल निकालने के बाद बची हुई खली जलाने के काम आती है। भारत में कई स्थानों पर जहां कोयला कम होता है इससे एक प्रकार की गैस बनाई जाती है जो ठीक कोल गैस की तरह काम देती है और कुछ अंशों में उससे बढ़िया ही है।

खली में नाइट्रोजन पर्याप्त होती है। खाद के लिए इसकी बहुत मांग है। विशेष कर आलू, गेहूं और गन्ने के लिये। किये गये परीक्षणो से मालूम होता है कि एरंड की खली देने से पैदावार में फ़र्क पड़ जाता है। इसमें तेल का अंश होने से यह धीरे-धीरे

विश्लिष्ट होती है और बढ़ती हुई फ़सल को उपयुक्त भोजन देती रहती है।

कइयों का ख़याल है कि जानवरों को खली खिलाने से दूध बढ़ जाता है परन्तु यूरोपियन पशु पालकों के मत में यह पशुओं के लिये हानिकारक है। कहते हैं कि यदि खली डेढ़ घंटे तक 115° शतांश के तापमान पर गरम की जाय तो यह हानिरहित हो जाती है—सम्भवतः बीजों के हानिकर पदार्थ रिसीन के गरमी में नष्ट हो जाने से। यह खली सूअरों को सफलतापूर्वक खिलाई गई है। गौएं पत्तों को शौक से खाती हैं। तमिलनाडु में ख़याल किया जाता है कि इससे उनका दूध बढ़ जाता है। पत्तों के साथ छोटी-छोटी शाखायें भी पशु खा जाते हैं। भैंसों को पत्ते खिलाये जाते है। दूध बढाने के उद्देश्य से पत्रों का रस भी पिलाया जाता है।

असाम में एरंड रेशम के कीड़ों को खिलाया जाता है। शाखाओं और छाल से काग़ज़ बनाया जाता है।

सूखे हुये पौदे और बीजो के निष्पीड़न के बाद बची हुई खली गन्ने के रस से गुड़ बनाने में, ईंधन के रूप में बहुत इस्तेमाल होती है। मैसूर और भारत के अन्य भागों में एक ख़ास प्रकार का ईंधन बनाया जाता है जिसमें एरंड की खली एक निश्चित अनुपात में गोबर के साथ मिलाकर सुखा ली जाती है।

भारत की निर्बलतम लकड़ियो मे एरंड की लकड़ी है। एक मामूली-सी आंधी शाखाओं को मज़े में तोड़ डालती है। परन्तु काटने पर यह सूख कर सख्त हो जाती है और तब इसमे कुछ शक्ति आ जाती है। इस अवस्था में झोंपड़ियो की छतों मे बांसों के स्थान पर और गारे की झोंपड़ियों की दीवारों में डालने में बहुत प्रयुक्त होती है। इस प्रयोजन के लिए इसके व्यवहारों में मुख्य अच्छाई यह कही जाती है कि किसी भी खेती की जाने वाली फ़सल की अपेक्षा यह लकड़ी दीमको और दूसरे कीड़ो के आक्रमणो से अधिक सुरक्षित रहती है। परन्तु आम तौर पर देखा गया है कि हरे पौधे में प्रायः किसी भी खेती की जाने वाली फसल की अपेक्षा दीमकें बहुत जल्दी लग जाती हैं। तनों के अन्दर का सम्पूर्ण भाग प्रायः ये नष्ट कर देती है और अक्सर यह इनके आवृत्त मार्ग को बनाने में लगी हुई मिट्टी से भरा होता है।

चिकित्सा सम्बन्धी उपयोग : यह एक निरापद सुरक्षित क्रियाशील विरेचक औषधि है और प्रत्येक आयु के सब प्रकार की प्रकृति वाले व्यक्तियों को बिना झिझक दी जा सकती है। बिना किसी प्रकार का क्षोभ और गरमी उत्पन्न किए यह निश्चित रूप से कार्य करती है। गर्भावस्था में और प्रसव के बाद की अवस्था में स्त्रियों के लिये, अर्श, भगन्दर से ग्रस्त व्यक्तियो के लिए, नाज़ुक स्त्रियो, बच्चों, बूढ़ों और कमजोरों के लिये सुरक्षित और सर्वोत्तम विरेचक है। पेट सम्बन्धी शल्यकर्मों में, वस्तिगह्वर (पेल्विक) के रोगो में, पर्यावरण शोथ मे, ज्वर में, विशेषकर आन्त्रज्वर की मलबन्ध में और सैण्टोनीन की एक मात्रा से पूर्व या पश्चात् एरंड तेल का विरेचन के लिये उपयोग सुरक्षिततम है। नवजात शिशुओं को तीन सप्ताह लगातार प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी

मात्राओं मे दिया जाता है। अधोभागहर संशमन के रूप में सुश्रुत ने एरंड का उल्लेख किया है। फूल भी प्राय कर अनुलोभक औषधि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। मूलत्वक् में भी विरेचक गुण समझा जाता है। लाल मिर्च और तम्वाकू के पत्तो के साथ इसको पीसकर निम्बू के बराबर मोदक बना लेते है, घोड़ो की कोष्ठ बद्धता के लिए यह अत्युत्तम दवा है।

अपच भोजन से उत्पन्न शिशुओं के तथा बड़ो के अतिसार में एरंड तेल की एक मात्रा देने से ही लाभ होता है। इसमें अहिफेन मद्यासव (टिंक्चर ओपिआई) मिलाया जा सकता है। उदर रोगों में स्नेह पान के बाद एरंड सिद्ध दूध से विरेचन देना चाहिए। (चरक, चिकित्सा स्थान, 18-68)। उदावर्त मे दूध मांस रस, त्रिफला रस, मूत्र, मदिरा आदि के साथ तेल दिया जाता है। शूल निवारण के लिए सोठ और एरंड मूल के जलीय कषाय में हींग तथा सौवर्चल नमक डाल कर पीने से शीघ्र आराम होता है। (भाव प्रकाश, मध्यम खण्ड, चिकित्सा प्रकरण, शूलाधिकार, श्लोक 36)। वारुणी और माड में एरंड तेल मिला कर गुल्म मे दिया जाता है और वात गुल्म मे तेल को दूध मे डालकर पीते हैं। (चरक, चिकित्सा स्थान 5-89)। बड़ी आंतो और गुदा के भ्रंश मे तेल एनिमा के रूप में सफलता के साथ दिया जाता है।

तीव्र प्रवाहिका की यह अत्युत्तम औषधि है। रोग आरम्भ में ही दी जानी चाहिये और अहिफेन मिला कर दी जाय तो मरोड़े भी शीघ्र ही वन्द हो जाते हैं। एरंड तेल दो से चार ड्राम और अहिफेन मद्यासव दस से बीस बूंद की मात्रा मे दिया जाना चाहिये। इसी तरह छोटी मात्राओ मे पुरातन प्रवाहिका मे भी लाभ करता है। इसके लिये एरंड तेल की पन्द्रह से बीस बूद अहिफेन मद्यासव की पाच से दस बूंदो के साथ जलीय घोल (इमल्शन) बना कर दिया जाता है। एरंड मूल को दूध में पका कर प्रवाहिका में पिलाया जाय तो प्रवाहणों मे रक्त आना वन्द हो जाता है। (चरक, चिकित्सा स्थान, 10-51)।

अर्श मे एरंड, आक, बिल्व और बांसों के पत्तों के काथ से सेक किया जाता है। (चरक, चिकित्सा स्थान, 9-44)। अपतानक मे एरंड तेल से सेक करना चाहिये। (सुश्रुत, चिकित्सा स्थान, 5-18)।

पत्ते वेदनायुक्त सन्धियो पर लगाये जाते है। पुरातन आमवातिक विकारो मे तेल बहुत प्रभावकारी समझा जाता है और विभिन्न शास्त्रीय योगों मे प्रयुक्त होता है। एरंड मूल भी अनेक आमवातिक विकारों और वात-संस्थान के रोगों मे कई योगो में दी जाती है। वृष्य और वातघ्न औषधियों मे एरंड की मूल उत्तम मानी जाती है। (चरक सूत्र स्थान, 24-33)। अंगमर्दप्रशमन, स्वेदोपग और भेदनीय वर्गों की दस-दस औषधियो के प्रत्येक वर्ग में चरक ने एरंड गिनाया है। पुरातन सन्धिक आमवात में बाह्य उपयोग में एरंड तेल वेदना को दूर करता है और काठिन्य को हटाता है। एरंड का वातारि (वात नाशक) नाम इसके इस गुण की ओर सकेत करता है। भावप्रकाश का

विश्वास है कि आमवात जैसे बड़े रोग को नष्ट करने में एरंड तेल अकेला ही पर्याप्त है। (भाव प्रकाश, मध्यम खंड, चिकित्सा प्रकरण, आमवाताधिकार, श्लोक 50)। कटि-शूल, गृधसी, पक्षाघात आदि स्थानिक आमवातिक विकारो मे यह औषधि सस्कृत साहित्य में बहुत लाभप्रद समझी गई है। छिलके उतारे हुए एरंड के बीजो को पीस कर दूध में पका ले, इस दूध का पानी कटिशूल और गृध्रसी की परम औषधि है। (भाव प्रकाश, मध्यम खंड, चिकित्सा प्रकरण, वातव्याध्यधिकार, श्लोक 137)। गामूत्र के साथ एक मास तक प्रातः एरंड तेल का पीना गृध्रसी और उस ग्रह को दूर करता है। (भाव प्रकाश, मध्यम खंड, चिकित्सा प्रकरण, वातव्याध्यधिकार, श्लोक 135)। एरंड तेल के साथ हरड़ को विधिवत् सेवन करने से आमवात, गृध्रसी, वृद्धि, अर्दित दूर होते हैं। (भाव प्रकाश, मध्यम खड, चिकित्सा प्रकरण, आमवाताधिकार, श्लोक 51)। गठिया तथा आमवात जन्य शोथ और पयस्विनी स्त्रियो की छाती की शोथ को कम करने के लिये बीजों को कुचल कर बनाई हुई पुल्टिस लगाई जाती है। पत्तों का उपयोग भी यही गुण करता है, पर थोड़े अंश में। घावो और चोटों को साफ़ करने के लिये रस का उपयोग होता है।

स्त्रियों के दुग्धस्राव को रोकने के लिये पत्तो को पीस कर छाती पर लेप किया जाता है, तीन दिन मे दूध आना बन्द हो जाता है। कई लेखको का इसके विपरीत विचार है कि पत्तो को गरम कर के छाती पर लगाया जाय और बारह घटे या अधिक देर तक रखा जाय तो प्रसव के बाद दूध लाने में ये असफल नहीं होते। इसी तरह पेट पर लगाने से रजःस्राव को बढ़ाते है। यद्यपि अनेक लेखको का खयाल यही है कि छाती पर लगाई गई पत्तों की पुल्टिस दुग्धस्राव बन्द कर देती है।

एरंड मूल में ज्वरहर गुण होने से इसका दूध में कषाय बना कर ज्वरो मे पिलाया जाता है। पेट की दर्द या ऐठन को यह कषाय आराम करता है। (चरक, चिकित्सित स्थान, अध्याय 3, श्लोक 235)।

कास मे एरंड के पत्तो का और त्रिकटु के तेल के साथ सेवन करना चाहिये। (चरक, चिकित्सा स्थान, 22-165)। यूनानी हकीम तेल को पक्षाघात दमा, प्रतिश्याय, आन्त्रशूल, अफ़ारा, आमवात, श्वयथु और नष्टार्तव मे देते है। वे दस बीज पीस कर मधु के साथ चटाने से विरेचन के लिये पर्याप्त समझते है। अफ़ीम और दूसरी नशीली चीजो के विष प्रभाव को कम करने के लिये ताजा रस वामक के रूप मे स्तेमाल होता है।

बढ़ी हुई चर्बी को कम करने के लिये एरंड पत्रसार और हीग को माड के साथ पिलाया जाता है। (भाव प्रकाश, मध्यम खंड, चिकित्सा प्रकरण, स्थौल्याधिकार, श्लोक 21)। शहद मे भिगो कर एरड मूल को रात भर रखा रहने के बाद उसका पानी पीने से मुटापा छंटता है, पेट बढ़ता नही। (भाव प्रकाश, मध्यम खंड, चिकित्सा प्रकरण, स्थौल्याधिकार, श्लोक 25)। दूध मे एरंड तेल डाल कर एक मास तक अनावश्यक वृद्धि को दूर करने के लिये दिया जाता है। (सुश्रुत, चिकित्सा स्थान 19-6)। वात श्वयथु में

महीना या आधा महीना तल गोमूत्र के साथ एरंड तेल पिलायें। (वाग्भट 3. 30-9)।

आंख में कोई बाह्य पदार्थ गिर पड़ने पर अक्षि पटल पर रगड़ लग गई हो और क्षोभ हो तो एरंड तेल की एक बूंद अक्षि-पटल पर डालने से क्षोभ दूर हो जाता है। नेत्र विकारों में एरंड पत्र और मूल अनेक प्रकार से प्रयुक्त होते है। पौदे की छाल, पत्ते और मूल का बकरी के दूध और पानी में बनाया कषाय नवीन अक्षि शोथ मे लाभकारी होता है। (चक्रदत्त)। वाताभिष्यन्द में भी इस कषाय से सेक करने से लाभ होता है। (सुश्रुत, उत्तर तन्त्र 9-11)। आख के शोथ सम्बन्धी रोगो में जौ के आटे के साथ पुल्टिस बना कर बीज लगाये जाते हैं।

कर्ण बाधिर्य में तेल कान में डाला जाता है। त्वचा के अनेक रोगों में यह उपयोगी औषधि समझी जाती है। वातरक्त मे शूल हटाने के लिये एरड के बीजो को दूध के साथ पीस कर लेप करते हैं। (चरक, चिकित्सा स्थान 29-79)। पुरातन वृद्धियों और त्वग्ररोगों मे मूलत्वक् विरेचन और रसायन के रूप मे इस्तेमाल होती है और बाहर भी लगाई जाती है। रक्त की उष्णता के कारण उत्पन्न हुए समझे जाने वाले त्वचा के धब्बों पर कोकण मे तेल लगाया जाता है। मैसूर मे ऐसे रोगों मे, जिनमे समझा जाता है कि ऊष्मा अधिक हो गई है, तेल सिर पर मला जाता है। बहुत से केश तैलो और पोमेड्स में तेल आधारीय द्रव्य रूप मे प्रयुक्त होता है।

चीनी चिकित्सा मे अनेक बीमारियो में कुचले हुए बीज और उनके साथ एरंड तेल-मिला कर बाह्य लेपों मे काम आता है। छालो और जले हुये भागो पर लगाये जाते है। बीजो की गिरी खा भी ली जाती है और इसका प्रभाव वही समझा जाता है जो तेल का। सिरदर्दों में शखास्थियों पर, पक्षाघात मे हथेलियों पर बीजो को मसला जाता है, मूत्र-मार्ग-अवरोध मे ये मूत्र-प्रणाली में प्रविष्ट किये जाते है। प्रसवोत्पत्ति शीघ्र करने के लिये या जेर को बाहर निकालने के उद्देश्य से गर्भवती स्त्रियों के तलवो पर बीजों को मला जाता है।

: सोलह :

भांग

नशीले पदार्थ : हमारे देश में भांग का पौदा मुख्य रूप से गाजा, चरस और भांग बनाने के काम आता है। ये तीनों नशीले पदार्थ हैं। इन का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

गांजा : भाग के मादा पौधों के पुष्पित शिखर जब उद्यासमय (resinous) निस्यन्द से आवृत्त हो जाते है तो उन्हे तोड़ कर सुखा लेते है। यह गांजा होता है।

यह मुख्यतया तम्बाकू के समान पिया जाता है। नशई लोग इसे तम्बाकू के साथ या अकेला ही चिलम में रख कर दम लगाते है।

ज़रा से गांजे को उतने ही तम्बाकू के साथ बांये हाथ की हथेली पर रख कर दायें हाथ के अंगूठे से रगड़ते हैं। एक-दो बूद पानी भी डाल लेते हैं। मलने की यह प्रक्रिया नशे की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती है। जितना अधिक मसला जाएगा गांजा उतना ही तेज होगा।

चरस : यह पौदे का उद्यासमय निष्यन्द है जो पौधे के वायु में रहने वाले सभी भागों में पैदा होता है। इस निष्यन्द में एक विपैले तेल की बड़ी मात्रा रहती है।

हरिद्वार के पार्श्ववर्ती भागों में भांग बहुतायत से जंगली पैदा होती है। पथरी; चिल्हा, गोहरी, कुन्हा से लक्ष्मण झूला तक। अजनी चौड़, सिद्ध, गनिजर, पेली के लाल ढांग तक जंगली भांग भरी पड़ी है। सर्दियों में प्रति वर्ष इन बीहड़ वनों में पांच सौ से अधिक व्यक्ति चरस तथा भाग के अन्य पदार्थ निकालने में व्यस्त रहते हैं।

कार्तिक में भांग पकती हैं। बरसात का ज़ोर कम होते ही भांग, गांजा और सुल्फा इकट्ठा करने वाले भाग के जंगलों में घुस जाते हैं। दस-बीस की टोलियों में ये शेर हाथियों से आकुल घने वनों में डेरे लगा लेते है। दोनों हाथों की हथेलियों में वे भांग के पौधे को नीचे से ऊपर तक मसल लेते हैं। इससे पौधे का उद्यास (resin) हथेलियों पर लग जाता है। दोनों हथेलियों को आपस में रगड़ने से उद्यास की बत्तियां बन जाती हैं। इन्हे एक कपड़े पर झाड़ कर इकट्ठा कर लेते और गोली बना लेते हैं। यही चरस है।

भांग : पौधे की पत्तियों और पुष्पित शिखरों को सुखा कर बादाम, काली मिर्च। आदि के साथ घोट-छान कर और दूध-चीनी मिला कर जो पेय बनाया जाता है उसे

कहते हैं। यह क्योंकि हरे रंग की होती है इसलिए इसे 'सब्जी' कहते हैं। नशइयों का विश्वास है कि इसे पीने से अपने मनोरथो को पूरा करने की साधना में सिद्धि प्राप्त होती है। इसलिए इस पेय को ये लोग 'सिद्धि' कहते हैं। इसके पौधे जंगली बूटी की तरह स्वयं वनों में उग आते हैं इसलिए इसे बूटी भी कहते हैं।

सामान्यतया पत्तियों को सुखाने मात्र से 'सिद्धि' बन जाती है। परन्तु, अधिक तेज और मादक बनाने के उद्देश्य से इसे अनेक निर्माता दमसा देते हैं इस के लिए पत्तों को बड़े-बड़े घड़ो मे डाल कर गरम स्थान पर रख देते है। उनका मुंह ढक देते हैं। कुछ दिनों बाद जब पत्तो में गरमी आ जाय तो उन्हे निकाल लेते हैं।

भाग का नशा करने वाले को भगेड़ी कहते है। कुछ भंगेड़ी 'कच्ची भाग' को इस्तेमाल नही करते। वे इसे पहले शुद्ध कर लेते है। वे कहते हैं कि बढ़िया भांग बनाने के लिए पुष्पमंजरियां आने के बाद पौदे के केवल ऊपर के भाग से छोटी पत्तियों को मंजरियों समेत हाथो से सूंथ लेना चाहिए। इसे धूप में सुखा कर करारी कर लें। हांडी मैं पानी डाल कर पकाएं। कई उबाले आ जायें और सारा पानी उड़ जाए तो उतार लें। कपडा पर फैला कर ठंडा कर लें। साफ पानी मे धोयें। धोने से काला पानी निकलेगा। इस तरह कई बार धोयें। जब पानी में कालापन न आये तो समझे कि भांग मलिनताओं से रहित हो गई हैं। इसे निचोड कर कलईदार थाली मे फैला कर छाया मे सुखा लें।

शुद्ध करने की इस विधि में भांग के क्रियाशील पदार्थ बड़े परिणाम में निकल जाते हैं और यह कम नशीली रह जाती है। हलका नशा करने वाले कोमल प्रकृति के लोग इसे पीना पसन्द करते है।

भांग पीने का समय प्राय: सायकाल है। भाग के शीतल पेय को ठंडाई कहते हैं। ठंडाई तैयार करने को भाग छानना कहते हैं। भांग छानने के अनेक तरीके हैं। इसे अंगूर, सन्तरा, शहतूत, मीठे लोकाट, लीची या किसी भी मीठे फल के साथ घोट कर छान-कर लेते हैं। गुलाब फूल, बादाम, चारों मगज, पिस्ता, किशमिश, गुलकन्द, पोस्त, कालीमिर्च, छोटी इलायची के साथ रगडा देकर भी छान लेते हैं। इस मे चीनी तथा दूध मिला कर और केवड़े के अर्क से सुगन्धित करके पीते हैं। सफ़र मे भाग का सेवन करने के लिए इसे मावे में भून कर पेड़ें, बरफी या माजून बना लेते हैं।

भाग छानने का वातावरण बेफिक्री, मस्ती और भक्ति से सराबोर होता है। भक्त जन अनेक प्रकार के लटके बोलते है। पहले लटके से शिव की स्तुति की जाती है। ऊंची आवाज मे भंगेड़ी बोलता है।

महादेव शम्भू जटाजूट पूरे
पीवें भंग अरु चबावें धतूरे

दूसरा लटका भाग तैयार हो जाने की सूचना देता है। और स्त्री के ऊंचे आदर्शों के बारे में बताता है।

पहले साफ़ी साफ कर
पीछे रंग लगा
मुह फूक उस नार का
जो पति से पहले खाय
बासी पुसी मे डर नही
कदी भूखी रह जाय

इस की मात्रा के लिए यह लटका है :

जती को रती भोगी को मासा ।
ज्यादा पीवे तो देखे तमासा ॥

इसका सेवन करने वाले भाग की प्रसशा मे कहते है कि 'कोटिन रंग दिखावत है जब अग में आवति भग भवानी ।' इसके गुणो के बारे मे यह लटका है :

ऐसी आवे हरि गुन गावे,
शिव-चरणो मे ध्यान लगावे ।
नजर लगावे फट मर जावे,
धोका धक्का कभी न खावे ।
अपनी खा पराई तके,
उसे काल का भाई भके ।
भके तो भक, नही तो,
नौ महीने जेला मे रख ।
चढ़तो ग्यान, उतरतो ध्यान ।
लज्जा राखे श्री भगवान ॥

शिव से सम्बद्ध पर्वों पर भाग को छान कर पहले शिवलिंग पर चढ़ाते हैं। दीवाली, होली, शिवरात्री, वसन्त पचमी, श्रावण के प्रत्येक सोमवार आदि त्योहार पर सब लोग सामूहिक रूप से भाग पीन हे । स्त्री, बच्चे, युवक, बूढ़े सभी ठडाई का आचमन लेते हैं। किसी को भाग का नशा अधिक चढ़ जाय तो चावल की खीलो को पानी में भिगो कर, मथ कर पानी पिला देते हे । नशा उतर जाता है।

गांजा या सुल्फ़ा पीने वाले लोग इनके लाभों को अवर्णनीय बताते है। मटर के दाने भर सुल्फा चार आदमियो को अमल कर देता है। इसके अमल मे मनुष्य दूसरे का बुरा भी सोच सकता है। लटको में इस के इस गुण की झलक मिलती है :

शम्भू ! कैलाशपति !
आ तो सही
जिसे मैं कहूं, खा तो सही
निरकुटे ऽऽऽऽभवानि ।

× × ×

जलीभुनी का फंका
घर बैठे दिक्खे लंका
शम्भू शंकर
कांटा लगे न कंकर
खाने पीने का ढंग कर।

× × ×

साफ़ी चिलम चीमटा
झोली कम्बल लोटा
शम्भू कैलाश पति।

× × ×

भांग रहे, रहे भाग का खेत
चार घर यारों के रहें
और सब मलियामेट
शम्भू कैलाशपति।

गांजा, चरस और भांग—इन तीनो में भांग सबसे कम नशीली होती है। चरस सबसे अधिक नशीली और विषैली है। टर्की का नशीला पदार्थ हशीश भाग के पत्तों से बनाया जाता है। मिश्र में बीजो के छिलको से नशीला पेय बनाते हैं।

उपयोग: गढ़वाल मे बीज खाये जाते हैं। हिमालय के पर्यटन में मुझे ठेठ देहाती घरों मे जब कभी भोजन करने का अवसर मिला तो भोजन के बाद उन्होने भांग के भुने हुए बीज चबाने के लिये दिये। सर्दियों मे भोजनोपरान्त सारा परिवार आग के चारो ओर बैठकर जब सेक रहा होता है तो सभी सदस्य भाग के बीज भी चाबते जाते हैं। सर्दियो की लम्बी रातों के आरम्भिक घटों को काटने मे ये सहायक होते हैं। संगी-साथियो की टोली मे हुक्के के दौर के साथ-साथ लोग भांग के बीज फाकते जाते हैं और दीन-दुनिया की चर्चा चलती रहती है।

चरवाहे सुबह ही अपनी जेबो मे भाग के भुने हुये बीज भर कर डंगरों को हांक ले जाते है। वन मे भूख लगने पर इन बीजो को चबा कर स्रोत का ठण्डा पानी पी कर तृप्त हो जाते हैं।

गढ़वाल मे मैंने पाया है कि अनेक जगहो पर केवल बीजो के लिये ही भांग बोई जाती है। सौगात के रूप मे पहाड़ी लोग भांग के बीजो को अपने दूरस्थ रिश्तेदारों को भेजते है। जिन गावो मे बीज नही पैदा होते वे व्यञ्जनों मे तुड़के के रूप मे इनका प्रयोग करते है। इससे व्यञ्जनो में स्वाद की वृद्धि हो जाती है।

पुष्टिप्रद होने से बीज मुर्गियो तथा अन्य पालतू पक्षियों को खिलाये जाते हैं।

सानी मे मिला कर ये दुधारू पशुओ को दूध बढ़ाने के लिये दिये जाते है।

बीजो का तेल बहुत उपयोगी तेल है। यह ऐसा तेल है जो एकदम सूखता भी

नहीं और बिलकुल गीला भी नहीं रहता।

यह प्रकाश के लिये प्रयुक्त होता है। रंग-रोगनो (पेण्ट्स और वार्निशो) तथा साबुनों के निर्माण में यह काम आता है।

तन्तु की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण पौदा है। निकालने के तरीके के ऊपर तन्तु का रंग निर्भर करता है। यह लगभग सफेद, हरा, भूरा या काला हो सकता है। यह मज़बूत और टिकाऊ है। पानी का इस पर प्रभाव नही होता। रस्सो, समुद्री तारो, जालो, सन्तरण-वस्त्र गाढकों (Sail-cloth canvas), तिरपालों, गालीचो आदि के बनाने मे भांग का तन्तु बहुत मूल्यवान् है। पम्पों, एञ्जिनों तथा नलकों के फिटिंग में भरने और नौकाओं की दराजबन्दी के लिये इस की बहुत मांग है।

पहाडी कबीले भांग के तन्तु का अपनी घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये और रस्सियों, चप्पलो तथा चादरो के बनाने के लिये काफ़ी उपयोग करते है। गढ़वाल में इस तन्तु के मोटे कपडे बुने जाते है जो थैलों आदि के काम आते है।

खटमलों को भगाने के लिए: चिटागोंग और कुर्सियांग मे भाग के पत्ते और फूल विछौनों के नीचे रखे जाते हैं। मछलियों को विषाक्त करने के लिये इनका उपयोग किया जाता है। त्वचा पर पत्तों का सन्तापक प्रभाव होता है। भांग के खेत मे से गुज़र जायें तो शरीर के नगे भागो में खारिश होने लगती है।

भांग को पीस कर टिकिया बना कर बवासीर के मस्से पर बांधने से लाभ होता है। कुछ दिनों में मस्से साफ़ हो जाते है।

इतिहास: एशिया और अफ्रीका मे भाग की निर्मितिया मादक वस्तु के रूप मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयुक्त हो रही है। अब तो सारी दुनिया मे लाखो लोगो मे भाग, गांजा, चरस आदि के पीने की लत पड़ गई है। इन के मादक तथा वेदना दूर करने के गुणो को उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पाश्चात्य चिकित्सको ने भी मुक्तकठ से स्वीकार किया है और ब्रिटिश संयुक्त राज्य की औषधियो मे भी इसे स्थान दिया गया है। यह पौदा ससार के भिन्न-भिन्न भागो मे मिलता है परन्तु भारत को छोड़ कर कुछ ही स्थान ऐसे हैं जहां यह औषधीय गुण की दृष्टि से भारतीय भाग की श्रेणी मे रखा जा सकता हो। नर की अपेक्षा मादा पौदा अधिक ऊचा होता है और इस की पत्तिया अधिक लम्बी, अधिक गहरे रग की और सख्या में भी अधिक होती है। इस के पकने मे पाच-सात सप्ताह अधिक लग जाते है। पौदे की ऊचाई पर ऋतु, भूमि और खाद का भी प्रभाव पड़ता है। कुछ ज़िलों मे यह नब्बे सेंटीमीटर से ढाई मीटर तक ऊचा होता है, परन्तु अन्य स्थानो पर कभी-कभी यह 2 40 से 4.80 मीटर ऊचा भी देखने मे आता है।

छटी शताब्दी ईस्वी पूर्व से चीन के लोग इस पौदे को जानते हैं और सम्भवतः चीन के कुछ कम ऊचे पहाड़ो मे यह प्राकृत रूप मे पाया जाता है। पाच सौ ईस्वी पूर्व में लिखे गये चीनी ग्रंथ शु-किंग मे भांग के दो भेद, नर और मादा, लिखे मिलते है।

संस्कृत मे इस के नाम भंग, गञ्जिका आदि हैं। इन शब्दो मे जो अन (an) अश

है वह भारत-यूरोप की प्राय: सब भाषाओ में और आधुनिक सेमेटिक भाषाओं के नामों मे भी आता है। हिन्दी और फारसी मे इसे भंग, बगाली मे गाञ्जा, जर्मनी में हन्फ (hanf), अंग्रेजी में हैम्प (hemp), फ्रेंच मे चन्त्रे (chanvre), केल्टिन और आधुनिक ब्रटेन में केनस (kanas), ग्रीक और लैटिन में कैनाबिस (cannabis) और अरबी मे केन्नाब (cannab) कहते है।

भारतीय चिकित्सा शास्त्र के आरम्भिक ग्रथो चरक, सुश्रुत आदि में भांग का उल्लेख कही नही हुआ। वैदिक साहित्य, आरण्यको, उपनिषदो आदि मे भाग का नाम नही मिलता। मध्यकाल मे लिखे गये चिकित्सा ग्रंथों में इसके गुणो का प्रतिपादन किया गया है।

प्रेन के अनुसार भाग का आदि उत्पत्ति स्थान भारत नही है। भारत मे यह रेशे पैदा करने वाले पौदे के रूप में लाया गया था परन्तु लोगों पर इस का नशीला गुण प्रकट हुआ और फिर यह इसी प्रयोजन के लिए उगाई जाने लगी। वाट का इस बात पर कोई निश्चित मत नही है। भारतवर्ष में यह हिमालय की पश्चिमीय पर्वतश्रेणियो पर और कश्मीर के जगलो मे स्वत: उगा हुआ मिलता है। भारत के मैदानो में यह अब उन स्थानो की जलवायु के अनुसार बन चुका है। एशिया और यूरोप के नामों का संस्कृत नामो के साथ जो आन्तरिक सम्बन्ध है उसस भाग का मूल उद्भव स्थान कही मध्य एशिया मे समझा जाता है।

हिमालय मे कश्मीर से असम के पूर्व तक सब स्थानों में भांग उगती है। 3,048 मीटर से ऊपर यह नही मिलती। पर्वतो के दक्षिणी ढालो के नीचे और पंजाब मे तथा गंगा के आस-पास कुछ सीमित दूरियो तक यह फैली हुई है। असम के पहाड़ी मार्गों मे यह पाई जाती है और पूर्वीय बंगाल के पर्वतीय मार्गों मे भी फैली हुई है। निर्धारित की जाय तो इस की दक्षिणीय सीमा लगभग यह होगी—पेशावर से पजाब तथा उत्तरप्रदेश के मध्य तक और गगा के सहारे-सहारे। इस प्रदेश में यह पौधा स्वयं उगता है, परन्तु सम्भव है कि हिमालय के निचले ढालो और तराई म इसकी उत्पत्ति बहुत हद तक उन बीजो से हुई हो जो पहाड़ो से लाये गये थे। हिमालय के निचले मार्गों के आबाद स्थानो मे भाग और गाजा पीने के शौकीन आदमियो द्वारा इस का बीज लाया गया है और अब यह वहा जगलों मे होने लगा है। यह पौदा एक बार जहा लग जाता है फिर नष्ट नही होता और अधिकाधिक स्थान मे फैलता चला जाता है, परन्तु भारतवर्ष के जगलो मे इस का विस्तार करने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं उन से स्पष्ट है कि जलवायु और भूमि की आवश्यकताएं भी इस की पूर्ण वृद्धि पर खास असर डालती है। जमीन बहुत उपजाऊ होनी आवश्यक नहीं, परन्तु पानी के अच्छी निकासवाली और पोली होनी चाहिए।

हेरोगेटस (जन्म 484 ईस्वी पूर्व) के अनुसार सीथियन लोग भांग इस्तेमाल करते थे, परन्तु उस के समय मे ग्रीकवासी इस से मुश्किल से ही परिचित थे। सिरा-

सैयूज (Syracuse) के राजा हीरो द्वितीय (Hiero II) ने गौल (Gaul) में स्थित अपने जहाजों के रस्सों के लिये भाग खरीदी थी, और लुसिलिअस (Lucilius) सब से पहला रोमन लेखक है जिसने ईस्वी सन् के सौ साल पहले इस पौदे का जिक्र किया था। हिब्रू पुस्तकें भाग का उल्लेख नही करती। प्राचीन मिश्र के ममियों को जिन आच्छादनो मे लपेटा गया था उन में इस का उपयोग नही किया गया था। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक भी मिश्र में यह एक प्रकार का नशीला पेय प्राप्त करने के लिये ही बोयी जाती थी। रोमन राज्य में यहूदियो के नियमो का जो संग्रह तालमुद (Talmud) बना वह बताता है कि इसकी रेशे सम्बन्धी उपयोगिता का ज्ञान बहुत कम है। यह सम्भव है कि सिथियन्स पौदे को मध्य एशिया और रूस से उस समय ले गये थे जब उन्होने ईस्वी पूर्व लगभग 1500 में—ट्रोजन युद्ध से कुछ पहले—पश्चिम की ओर प्रयाण किया था। विद्वानों का विचार है कि थ्रेस और पश्चिमी यूरोप मे यह आर्यों के प्रारम्भिक आक्रमणों मे भी सम्भवत: आ गया था। यदि ऐसा माना जाय तो इटली मे यह अधिक पहले से ज्ञात होना चाहिये। स्विट्जरलैंड और उत्तरीय इटली के झील-प्रदेशो में भांग नही पाई गई है।

डहूरिया में, बैकाल (Baikal) झील से परे, किरगिस के रेगिस्तान मे, इर्टिश (Irtyseh) के समीप, साइबेरिया मे, कैस्पियन समुद्र के दक्षिण की ओर यह पौदा निस्सन्देह जंगली मिलता है। कुछ लेखक तो इसे सारे दक्षिण तथा मध्य रूस मे और कोकेशस के दक्षिण में भी इस का जिक्र करते है; परन्तु यहां इस का जंगली होना। सुनिश्चित नही है क्योंकि ये आबाद प्रदेश है और भांग के बीज बहुत आसानी से यहां के बगीचो से जंगलों में चले जा सकते हैं। चीन मे भाग की कृषि किये जाने की प्राचीनता को देख कर एल्फ़ान्स डि केण्डोल (ओरिजिन औफ़ कल्टिवेटेड प्लाण्ट्स 1884) यह विश्वास करते है कि इस का क्षेत्र और आगे पूर्व की ओर चला गया है। इस मत को वनस्पति शास्त्र के अन्य विद्वानो ने प्रमाणित नही किया है। वैयरन्सीर ने इस पौदे को पशिया में लगभग जंगली लिखा है। यहा जंगली होने मे सन्देह प्रकट करते हुए केण्डोल ने स्पष्ट किया है कि यदि यह वहां प्राकृतिक हो तो ग्रीक और हिब्रू लोग इसे बहुत पहले से जानते होते।

: सत्तरह :

पिप्पली

पिप्पली एक बेलनुमा झाड़ी है जिस के काण्ड भूमि पर बिछे रहते हैं। जड़ मे से अनेक काण्ड निकल कर भूमि पर फैल जाते हैं (prostrate) या ऊपर उठते हुए आस-पास की झाड़ियो के साथ ऊचे चले जाते हैं। पत्ते पान के पत्तो से मिलते है, स्वाद भी कुछ-कुछ वैसा ही होता है। निचले पत्तो का डण्ठल बडा होता है। ऊपर के पत्तो मे वृत्त नही होता और उस का आधार तने के साथ लगा हुआ रहता है। काले-से हरे रंग के मासल फल लगभग ढाई सेण्टीमीटर लबे होते है। गैम्बल (1956) ने पके फल का रंग लाल बताया है।

प्राप्ति स्थान : भारत के गरम भागों में पिप्पली स्वत: उगती है। पश्चिमी तट पर और पश्चिम घाटों मे, मलाबार तथा त्रावनकोर के सदा हरे वनों में अनामलई पर्वतों की निचली भूमियों में यह पौदा बोया हुआ या स्वत: उगा हुआ मिल जाता है।

खेती : थोड़े पैमाने पर बगाल और दक्षिण भारत मे इस की खेती होती है। बहुत कम परिमाण में यह पजाब मे बोई जा रही है। महाराष्ट्र मे कभी-कभी बोई हुई मिल जाती है।

हरिद्वार, सहारनपुर और बिजनौर जिले के जगलों में पिप्पली स्वत: उगती है। इन स्थानो पर तथा आस-पास के इलाको में इस की व्यापारिक पैमाने पर खेती की जा सकती है। जड़ो को काट कर लगाने से वे उग आती है। भूमि पर लेटी हुई शाखाएं भी पोरो से जड़ें छोड़ देती है। जड़दार शाखाओ को या मूलो को काट कर उनके टुकड़े खेतो में बरसात के शुरू मे तीन-तीन मीटर की दूरी पर लगा देते है। इन के साथ झापें गाड़ देते हैं जिनके ऊपर बेले फैलती हैं। मौसम सूखा हो तो समय-समय पर सिंचाई की जानी चाहिये। पानी के निकास वाली जोरदार भुरभुरी जमीन पर पिप्पली अच्छी उगती है।

संग्रह करना : हरिद्वार के जगलों से पिप्पली निकालने का मौसम सर्दियों का आरम्भ है। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह मे फसल तोड़ना शुरू करते है और दो मास तक यह काम चलता है। एक मजदूर प्रतिदिन दो-ढाई सेर गीले फल तोड़ लेता है। फ़सल इकट्ठा करने वाले प्राय:कर पास के गावो के किसान या मजदूर होते है। उन दिनो

गेहूं की फ़सल बोने के बाद ये प्रायः निठल्ले होते हैं इसलिये यह काम शौक से कर लेते हैं।

संग्रह करने में सावधानी : इस समय कच्चे फलो का जो विवेकहीन संग्रह किया जा रहा है उसे रोकने की आवश्यकता है। जंगलों से इकट्ठे कराने वाले ठेकेदार को तथा संग्रहकर्त्ता श्रमिकों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि वे पके फल ही तोड़े और नीचे गिरे हुए पके फलों को बीन लें। सूखने पर ऐसे फलो का भार उनकी तुलना में अधिक होगा जो कच्चे ही तोड़ कर सुखाये गये हैं। इस में व्यापारी को भी आर्थिक लाभ है क्योकि वह तो तोल कर अपनी फ़सल बेचता है।

सुखाना : प्रतिदिन तोड़े गये फल खुले मे धूप मे फैला दिये जाते है। सीमेंट के पक्के फर्श पर, टीन पर या त्रिपाल पर सुखाये जांय तो इन मे कूड़ा कचरा नहीं मिलता। रात को ओस से बचाने के लिए उन्हे त्रिपाल से या स्थानीय पटेर की बनाई चटाईयो से ढक दिया जाता है। दूसरे-तीसरे दिन पिप्पलियो को हाथ से उथल-पुथल देते हैं जिस से नीचे के फलों को भी धूप मिल सके। सर्दियो मे धूप में तपिश कम होती है और पिप्पली के फल रसमय गूदे दार होते है जिस से सूखने मैं काफी समय लग जाता है। सूखने पर ये ताजे फलो के भार का पाचवां भाग रह जाता है।

पकने पर फल स्वतः ही नीचे गिर जाते हैं और भूमि की घास-पात मे मिल जाते हैं। इस हानि को रोकने के लिए बेल पर लगे फलों को ही तोड़ना चाहिए। बाजार में जो फल बिकते हैं वे प्राय.कर अधपके या कच्चे सुखाये हुए फल होते है। आस्वादन की परीक्षा से ज्ञात होता है कि कच्चे फलो मे चरपराहट नही होती और सुरभि भी उतनी नही होती जितनी कि पूर्ण पक्व फलों में। पूरे पके फल क्योकि अधिक सारवान् होते है इसलिए चिकित्सा की दृष्टि से वे ही ग्रहण किये जाने चाहिए।

पिप्पली में एक प्रति शत उड़नशील तेल निकलता है जिसमें पिपेरीन (pipern) और पिपेरिडीन (piperidine) पाये जाते है।

शत्रु : पके फलों को मोर चाव से चुगते हैं। इन से बचाने के लिए जंगलों में कोई उपाय नही किया जाता।

भंडारन : भली भाति सूख जाने पर इन्हे सामान्यतया बोरियों मे भर कर बाजार मे भेज दिया जाता है। नमी रहित सूखे स्थान पर भूमि से साठ सेंटीमीटर ऊंचे चबूतरो पर इन्हे रखना चाहिए। टीन के बड़े वायुरहित ढोलों या बैरल्स में इन्हे रखना अच्छा रहता है। नयी पिप्पलियों में क्योकि कुछ नमी बची रहती है इसलिए भंडारन के बाद भी इन्हे कभी-कभी धूप में फैला देना अच्छा रहता है।

गुण और चिकित्सा में उपयोग : पिप्पली की जड़ कटु, गरम, हल्की, रुक्ष, दीपक और पाचक, है। पित्त की प्रकोपक है, बात तथा कफ़ को नष्ट करती है। अफ़ारा, गुल्म, तिल्ली के रोग तथा पेट के विकारो को दूर करती है। कृमि रोग, श्वास के कष्ट तथा क्षय रोग को दूर करती है।

आयुर्वेद की दृष्टि से पिप्पली कटु, विपाक में मधुर, शरीर को स्निग्ध करने वाली, न गरम न ठंडी, हल्की, जठराग्नि को दीप्त करने वाली, पाचक रसों को बढ़ाने वाली; शूल, हिचकी, गुल्म, तिल्ली का बढ़ना तथा पेट के रोगों को नष्ट करने वाली है। यह पित्त को बढ़ाती नहीं; कफ तथा वात को नष्ट करती है। ज्वर, खांसी, कुष्ठ, मूत्र तथा प्रजनन संहति के रोग, बवासीर और गठिया में लाभ करती है। गले के ऊपर के अंगों में विद्यमान दोषों को यह निकालती है।

पिप्पली की क्रिया फेफड़ों पर और गर्भाशय पर विशेष रूप से होती है। शीत और कफ प्रधान रोगों में इससे लाभ होता है। प्रसव होने में विलम्ब हो रहा हो तो पीपली मूल, ईश्वर मूल और हींग को नागरपान के साथ खिलाते हैं। इस से आकुचनों का ज़ोर बढ़ कर शीघ्र प्रसव हो जाता है। प्रसव के बाद पीपलामूल का फांट देने से जेर (प्लेसंटा) आसानी से गिर जाती है। प्रसूति ज्वर, शीत ज्वर और कफ ज्वर में शहद के साथ पिप्पली देते हैं।

: अठारह :

सर्पगन्धा

भारतीय सर्पगन्धा ने जितना विश्व-व्यापी ध्यान आकृष्ट किया है उतना कम ही दवाओं ने आकृष्ट किया होगा ।[1]

गण[2] : करवीरादि (Apocynaceae) वंश (family) के अन्तर्गत सर्पगन्धा (रॉवुल्फ़िया, *Rauwolfia* Linn.) एक गण (genus) है। इस गण में क्षुपों, झाडियो या वृक्षो की लगभग पचास जातिया (species) है। ये दोनो गोलार्द्धों के ऊष्ण और अर्ध-ऊष्ण प्रदेशो मे व्यापक रूप से मिलती है। इनमें से सात भारत मे पायी जाती है जिन में सर्पगन्धा (रॉवुल्फ़िया सर्पेण्टाइना) सबसे अधिक महत्त्व की है।

इस गण की जातियो का काष्ठ कभी-कभी उपयोग मे आता है। बर्किल के अनुसार मलय प्रायद्वीप मे काष्ठ काम में नही आता।

कुछ जातियो मे विषैले पदार्थ पाये जाते हैं जो बहुत क्रियाशील नहीं हैं।

---

1 ब्रह्माण गुणकर्मपूर्ण विभवं प्राचां निदिष्टा प्रथा ।
मगलम् बुद्ध्या साधुतया निधाय सुलभा पाश्चात्यमंत्राान्विताम् ॥1॥
सदद्रव्या गुणगुम्फिता रसयुता भावप्रभावान्विता ।
कुर्वन्नौमि चिचीपया च सकला भैषज्यमाला नताम् ॥2॥
भारते जायमानो हि सर्पगन्धा विशिष्यते ।
प्रभावाद्गुणग्रामात्प्रशस्त हि जगतीतले ॥3॥

2. गण
अस्य योनिश्च विख्याता करवीरादौ तु वंशके ।
सर्पगन्धागणश्चात्र नव्यैरेतत्समीरितम् ॥1॥
अस्मिन् गणे निविष्टा हि यावत्पञ्चाशत प्रजातयः ।
वनस्पतिश्च वीरुच्च पादपादिप्रभेदशः ॥2॥
गोलार्धस्य ह्युभौ भागौ चोष्णमर्धोष्ण भूमिके ।
व्यासतश्चाभिलभ्यन्ते शृणु मे सप्त भारते ॥3॥
सर्पगन्धाख्यमिद द्रव्य जविष्ठ परिकीर्तितम् ।
रावुल्फियेति विख्याता सर्पेण्टाइना युता मता ॥4॥
काष्ठ गणस्यामुनः कर्हिचिदेव प्रयुज्यते ।
बर्किलेण च यत्प्रोक्त मलये तन्नाभिनन्द्यते ॥5॥
कासाञ्चित्प्रजातीनां विपता यत्र प्राप्यते ।
तासा कर्मसु दृश्यते मान्द्य द्रव्यस्यैव प्रभावतः ॥6॥

विविध भाषाओं में नाम[1] :

संस्कृत : सर्पगन्धा, चन्द्रिका, नाकुली।
हिन्दी : छोटी चांद, धवल बरुआ, चांद मरुवा, धनमरवा।
हरिद्वार में : सेत वड़वा।
उड़िया : सानो, चादो।
बंगाली : चादड, चन्द्रा।
आसामी : अरचोनतीता।
मराठी : अड़कई, करकई, हरकाई।
कन्नड़ : गरुड, पतुला, शिवनाभि।
मलयालम : चुवन्न-एविलपोरी।
तामिल : चिवान, अम्पेलपोदी, सोवन्ना, मिलबोरी।
तेलगु : पाताल, गन्धी।

लैटिन नाम[2] : इसका औद्भिदी नाम रॉवुल्फिया सर्पेण्टाइना (*Rauwolfia serpentina* (Linn.) Benth. ex Kurz) है। सोलहवीं शती के जर्मन चिकित्सक और पर्यटक रॉवुल्फ के नाम पर इस पौदे का यह नाम पड़ा है।

---

1. सर्पगन्धस्य विविध पर्याया

गन्धान्ता सर्पनामादिः सर्पगन्धा भुजगाह्वयाः।
चन्द्रिका नाकुली नाम्ना तन्त्रे प्रत्ने प्रकीर्त्तिताः ॥1॥
स्वल्प चन्द्र' धवलबरुआ चांदमरुवाऽपि नामतः।
धनमरवाऽति हिन्द्या हि, सेत बड़वा तु कनखले ॥2॥
उत्कले द्रव्यमेतच्च सानोचादो सुनामतः।
वगे चांदडश्चन्द्रा, कामरूपेऽरचोनतिक्तकम् ॥3॥
महाराष्ट्रे ड़डकई रूप हरकाई करकयीति च।
कर्णाटके शिवानाभिः पतुला गरुडनामतः ॥4॥
मलये चुवन्नपूर्वं एविलपोरीति भाषिता।
द्राविणे भूमिसभागे सोवन्नामिलबोरितः ॥5॥
विख्याता चिवान नाम्नापि ह्याम्पेलपदी निगोरिता।
आन्ध्रे तु पातालगन्धीस्यात् विविधैर्नाय भूपिता ॥6॥
मयाऽत्र सकला न्यस्ता पर्यायाः प्रान्तभेदतः ॥7॥

2. औद्भिदं नाम

लैटिन (औद्भिद) नामधेयन्तु पुरा प्रोक्त समीहितम्।
औदभिदन्तद्विविज्ञेय बेन्थेक्स कुर्जेति भाषितम् ॥1॥
मणिकेलाख्य ख्रीस्ताब्दे_जावेन पर्यटकेन हि।
श्री रावुल्फ़ेन वैद्येन शर्म देश निवासिना ॥2॥

लिनयस (Linnaeus) ने इस पौदे को ओफ़िओक्सिलोन सर्पेण्टाइनम (*Ophixylon serpentinum*) नाम दिया था। वेन्थम (Bentham) ने ओफ़िओक्सिलोन को बदल कर रॉवुल्फ़िया कर दिया। इस नये जाति सयोजन (specific combination) से बने नाम रॉवुल्फिया सर्पेण्टाइना का प्रकाशन पहले-पहले फॉरिस्ट फ्लोरा ऑफ़ ब्रिटिश बर्मा (1877) में कुर्ज़ (Kurz) ने किया। इसलिए प्रणेताओं के शुद्ध उल्लेख के साथ इसका नाम *Rauwolfia serpentina* (Linn.) Benth ex Kurz है।

परिचय : सर्पगन्धा का बहुवर्षी क्षुप सीधा, झाड़ीदार पन्द्रह से पैंतालीस सेंटीमीटर तक ऊंचा होता है। कहीं-कहीं सात से नब्बे सेंटीमीटर तक ऊंचा देखने में आता है। इसका कांड स्वाश्रयी है।

पादपस्तद्धि विख्यातस्तेषां धवलकीर्त्तिद'।
लिनियसेन तु विख्यातः पादपश्चैव पुण्यदः ॥3॥
सर्पेण्टिनात् पदात्पूर्वं ओफियोक्सिलोन सज्ञितः।
बेन्थमेन च पुरुषेण दत्तं रौवुल्फियेति सज्ञितम् ॥4॥
उपरिस्थस्य च द्रव्यस्य गुण कर्मादि कीर्तने जातियोजनया भव्य कुर्जेन गुणशालिना।
साम्प्रतीन हि विख्यातं नामधेयं प्रकाशितम् ॥5॥
गौरांगशासनगते किल ब्रह्मदेशे।
प्राकाश्य पुस्तक वनस्पतिजातवृत्तम् ॥6॥
तस्मान्निधाय किल नाम मनीषिणाञ्च।
दत्त प्रणेतृजन गौरव वर्द्धनाय ॥7॥

1. परिचय

सर्पगन्धाख्यगुल्मोऽय बहुवर्षी त्वत्र दृश्यते।
शालीनः सरलश्चापि स्वाङ्गुली नवकैः परम् ॥1॥
अष्टादशं च यावत्स्याद् व्यामेनैकेन सार्धत।
उच्छ्रायो लक्ष्यते यस्या. काण्डः स्वाश्रममाश्रितः ॥2॥
फुटलस्य विततः कालः प्राज्ञैरावोधि माघवात्।
माघादारभ्य हेमन्तं कुसुमानां सुराजयः ॥3॥
विकचन्ति च पुष्पाणि हसवर्णनिभानि च।
रक्त रञ्जितदलेषु भान्ति चांगुलद्वयोच्छ्रिताः ॥4॥
स्तोक स्तोकं व्रजति धवलाद्रागमासाद्य प्रेम्णा।
मोद मोद हरति प्रकृतिं स्वैर्गुणैस्तुप्तकायां ॥5॥
कूले कूले भवति विरुतिः कोकिलानां विरावै—
रम्यां शोभां कलितविविधे रागरंगैश्च पूर्णम् ॥6॥
उद्यानेषु मृत्पात्रेषु सयूथेषु सकलेषु च।
वनस्पतिविशेषज्ञाः साकल्येनाभिमन्वते ॥7॥
निदाघे चोत्तरे तत्र फलावलिरितस्ततः।
प्रारम्भमाषाढ्याद्वं हेमन्तान्ते प्रपश्यते ॥8॥

फूलने का समय लम्बा है। अप्रैल से नवम्बर तक फूल निकलते रहते हैं। लाल रंग के पुष्पदंडों पर ढाई सेंटीमीटर के सफ़ेद फूल खिलते है। धीरे-धीरे फूलों का रंग लाल हो जाता है। एक ही पौदे पर रंग-बिरंगे फूल खिले रहने से यह पौदा सुन्दर दिखता हैं। फूलों के सौन्दर्य के कारण भी इसे उद्यानों में रोपना चाहिए।

मई के उत्तरार्ध में फल बनना शुरू हो जाता है। जुलाई से नवम्बर तक फल पकते हैं। एक समय मे कुछ पकते हैं और बाकी कच्चे रह जाते है। फल आधा सेंटीमीटर से ज़रा अधिक व्यास का एक अष्ठिफल (drupe) है। दो-दो फल इकट्ठे जुड़े हुए होते हैं। कच्चे फल हरे, बाद में लाल जामुनी और पूरे पकने पर चमकीले काले रंग मे परिणत हो जाते हैं। फल के अन्दर एक या दो बीज होते हैं।

एक औंस भार में छह सौ से एक हज़ार अस्सी तक बीज चढ़ जाते हैं।

पत्ते 7.50 से 17.50 सेंटीमीटर लम्बे, 3.75 से 6.25 सेंटीमीटर चौड़े भाले की-सी नोक वाले और चिकने होते हैं। इनके ऊपर का पृष्ठ चमकीला, हरा तथा नीचे का पीला-सा होता है।

चांदनी फूल के पत्तो के सदृश इसके पत्ते दीखते हैं। शाखा पर एक ही स्थान पर तीन-चार पत्ते गोलाई में लगते हैं। कभी-कभी पत्ते एक-दूसरे के सम्मुख भी लगते है। हरिद्वार जैसे ठडे प्रदेशों में सर्दियों में पत्ते झड़ जाते हैं। तुहिन केवल शिखर की मृदु हरी

स्वल्पाश्च परिपाके हि सामा सन्ति हरीतिमा।
दृष्टा मया समस्ता हि चासां रीतिविशेषतः ॥9॥
फलं चाष्ठिफल प्रोक्त व्यासेनांगुष्ठपादकम्।
युगल सयुत रम्य, चाय तु हरित सदा ॥10॥
ततश्चारक्त जम्ब्वाभं पक्ते भास्वत्सितासितम्।
रागादापन्नपरिणामं बीजेनैकेन वा युतम् ॥11॥
सार्द्धमापमिते भारे जायन्ते पट् शतन्तथा।
बीजानि तत्र हृद्यानि खगणाकाशेन्दुकम् ॥12॥
पत्राणि सन्ति दीर्घाणि त्र्यंगुलात् दशपरिमितम्।
विस्तृतिश्चास्य विज्ञेया द्वयगुलाच्चतुरंगुलम् ॥13॥
मसृणानि च पत्राणि सूक्ष्मकुन्तनिभानि च।
पृष्ठ तु हरित भास्वन्निम्नस्थं तु पीतसन्निभम् ॥14॥
प्रवृद्धाणा तत्र पत्राणा चन्द्रिकापुष्पमण्डिते।
साम्यमाभाति चोद्याने राजिश्चासां प्रशस्यते ॥15॥
वर्तुलानि हि पत्राणि शाखान्तर्गतानि च।
चत्वारि त्रीणि दृश्यन्ते, विमुख किल जातुचित् ॥16॥
छदनानि च शीर्यन्ते शीतकाले विशेषतः।
प्रालेयं सरति शाखाश्च मृद्वीश्च हरिताश्च या. ॥17॥
शेषास्तत्रावशिष्यन्ते पत्रहीनाः समन्ततः।
विकचन्त्यकुरा नव्या एषां सुरभिरागतः ॥18॥

शाखाओं को मारता है। शेष शाखा वैसी ही सदियों भर पत्रहीन पड़ी रहती है। वसंत आगमन पर इनमें से अभिनव अंकुर फूट निकलते है।

प्राप्ति स्थान[1] : हिमालय की तलहटी में 1,219 मीटर की ऊंचाई तक सर्पगन्धा का क्षुप मिलता है। पंजाब में यह हिमालय की तलहटी मे सतलुज से ले कर यमुना तक गरम और नरम स्थानों में पाया जाता है। उत्तर प्रदेश मे देहरादून से ले कर गोरखपुर तक ठंडे और छायादार स्थानों में, विशेषकर साल के जंगलों में तथा देहरादून, शिवालक पर्वत श्रेणी और रोहेलखंड के उप-हिमालय (sub-Himalayan) भागो मे उगता है। इन स्थानों में यह 1,219 मीटर की ऊंचाई तक पहुंच गया है। पटना तथा भागलपुर इसके प्राप्ति-स्थान कहे जाते है। परन्तु प्रतीत होता है कि नेपाल की तराई से यह जड़ी इन स्थानों में आती थी। सर्पगन्धा की जड़ों की ये मंडियाँ थी। और यहां से हमारे देश मे फैल जाती थी। इसी से व्यापार मे इनका स्रोत पटना और भागलपुर समझे जाते रहे। उड़ीसा में यह पौदा पुरी मे पाया गया है। विलासपुर मे कहीं-कहीं मिला है। बंगाल के उत्तरीय भाग में जड़ें इकट्ठी की गई है। असाम में यह कामरूप, नौगांव, उत्तरी कछार,

---

1. प्राप्तिस्थानम्

सर्पगन्धाख्यक्षुपश्चात्र हिमवत्सानुभूमिषु।
सहस्राणां चतुःस्फीतयावन्मात्रं समुच्छ्रये ॥1॥
पुण्ये पञ्चनदे रम्ये शैले तद्धिममण्डिते।
सतलुजाज्जह्नु कन्या चार्द्राहिम भूमिषु ॥2॥
देहरादूनं समारभ्य शीतच्छायेष्वशेषतः।
विपिने गोरक्षपुरस्यादि सरलाणां यत्र सन्ततिः ॥3॥
महोध्रे शैवालके चायं रुहखण्डे विशेषतः।
उद्भवस्तत्र श्रेण्या हि यत्रापि हिमवान् महात् ॥4॥
सहस्राणां चतुष्फीते चास्याः प्राप्तिर्निगद्यते।
विदेहो मगधश्चापि योनिस्थानेन कीर्त्तितः ॥5॥
देशान्नेपालतश्चायाता या वनौषधी।
मादृशां भिषजां तर्को यस्मादत्र दृढ़ायते ॥6॥
पत्तनानि प्रदेशाश्च ये केचन समन्ततः।
स्तेषां यश-प्रशस्तिर्विवतता भारयत्र सर्वशः ॥7॥
व्यापारश्च प्रवृद्धो हि सकले किल भारते।
पाटलिपुत्रसमग्रं हि चागदेशे विशेषतः ॥8॥
एषां स्रोतः समाख्यातं पण्डितैर्भिषजा वरैः।
उत्कले पुरीग्रामे, मध्यदेशे च जातुचित् ॥9॥
विलासपुर शस्ते हि पत्तने तत्र लभ्यते।
वगे कौबेरकाष्ठायां, मूलन्येषां विचिन्तता ॥10॥
कामरूपे नवग्रामे यत्र यात्रा कृता मया।
कछारे चोत्तरे चैषा जयन्त्याः पर्वताञ्चले ॥11॥

गोलापाड़ा, खासी तथा जयन्तिया पार्वत्य अंचल मे और गारो पहाड़ में पाया गया है। पेगू और तेनास्सेरिम में 1,219 मीटर की ऊंचाई तक मिलता है। मद्रास में पश्चिमी घाट के प्रायः सारे जिलों मे और आंध्र राज्य में जहां छाया और नमी है यह पौदा 914 मीटर तक पाया जाता है। बम्बई मे कोंकण, दक्षिण महाराष्ट्र देश और कन्नड़ के नमी वाले जंगलों में पाया जाता है। अंडमान द्वीप में यह मिल जाता है। भारत के बाहर पाकिस्तान, श्रीलंका, ब्रह्मदेश, श्याम, थाईलैंड, जावा तथा मलय प्रायद्वीप, कोचीन-चीन, फिलिपीन द्वीपपुंज तक इस पौदे का विस्तार है। जावा मे सर्पगन्धा यद्यपि खूब फैली हुई हैं, परन्तु वह बहुतायत में नहीं मिलती। इतने व्यापक क्षेत्र मे फैला हुआ होने के बावजूद *भी यह पौदा कहीं भी साधारण नहीं है। और यह केवल इक्का-दुक्का ही मिलता है।* इसी से इसकी उत्पत्ति बहुत कम है। किसी भी स्थान से यह इतने अधिक परिमाण में

गोलापद्रा च खासी च सर्वत्राद्र जगले।
गारोख्य महीध्रेऽपि सुपश्चास्य प्रजायते ॥12॥
सहस्राणां चतुष्के तु फीतोच्छ्राय भूमि।
पेगुपुण्य प्रदेशे तेनास्सेरिमेऽपि ॥13॥
मद्रस्य वरुणे घट्टे मण्डलेष्वखिलेषु हि।
सहस्राणां त्रिके फीते चान्ध्रेछायार्द्रभूमेषु ॥14॥
कोकणे महाराष्ट्रे दक्षिणे कर्णाटके तथा।
आसाद्यते सुधीभिस्तु चार्द्रजांगलभूमिषु ॥15॥
द्वीपेरण्डमान विख्याते प्राप्यते किल समन्ततः।
पाकस्थाने च लंकायां ब्रह्मदेशेऽपि श्यामके ॥16॥
थायीलैण्डाभिधानेऽपि जावा मलय क्षोणिषु।
कोचीने चीनदेशेऽपि फिलिपाइनद्वीपपुञ्जके ॥17॥
विस्तारो भारताद् बाह्यं श्रूयते च विशेषतो।
विस्तृतिः फणिगन्धस्य जावायां विशेषतः ॥18॥
प्रचुराच्च परं नैषा प्राप्यते किल यतस्तत।
एतद्विज्ञातविज्ञेय यद्ज्ञात्वा सौख्यमश्नुते ॥19॥
प्रसृतेषु च क्षेत्रेषु व्यासरूपेण सर्वतः।
सामान्यात्क्वापि नेक्ष्यन्ते ह्येकतो वा द्वितोऽपि वा ॥20॥
उत्पाद' क्षुद्रमात्रश्च नासौ क्वापि समन्ततो।
व्यापारपूर्तौ नियतत्वान्नैषां व्यवहार दृश्यते ॥21॥
मूलानि सर्पगन्धस्य "डिमकेन" गुण शालिना।
पंचाशीत्युत्तरे वर्षे चाष्टादशमितेन च ॥22॥
वणिजां सविशेऽभाव', पुष्कलेन चिरादहो।
तस्मात्समीक्ष्य याञ्चा च तथाकालगता पुनः ॥23॥
कृषिकर्मेण वृद्धिर्हि कर्तव्या निशिवासरं।
धनप्राप्तिभवेद् यस्मात् तस्माद् कार्या तथाविधि ॥24॥

नहीं मिलता कि व्यापारियों की माग की पूर्ति हो सके। सन् 1885 में भी डिमक ने दिखाया था कि सर्पगन्धा की जड़ें व्यापारियों के पास नहीं मिलतीं। इसकी बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखते हुए इसकी खेती करना लाभदायक है।

लाभदायक धंधा[1] • अनुमान हैं कि एक एकड़ भूमि में दो हज़ार पौंड जड़ें प्राप्त की जा सकती हैं। किसानों और बाग-बगीचे वालों के लिए सर्पगन्धा की खेती बहुत लाभदायक धन्धा सिद्ध होगा। अमेरिका तथा दूसरे देशों मे इसकी बढ़ती हुई माग को देख कर कहा जा सकता है। अभी बीसियों वर्षों तक चाहे जितनी पैदावार होगी वह सब अच्छे दामों में खपती रहेगी। उत्पादकों को अपनी उपज को बेचने के लिए मडियो को तलाश करने में ज़रा भी कठिनाई नही होगी।

कृषि करना आवश्यक है[2] : वास्तव में जड़ो की माग इतनी अधिक है कि यदि तुरन्त उपाय न किये गये तो प्राकृत अवस्था में पौदे के लुप्त हो जाने का निरन्तर भय है। भारत सरकार ने जड़ों के निर्यात पर जो प्रतिबन्ध लगा दिया था उससे यह तो सम्भव है कि कुछ समय के लिए इसका सर्वनाश रुक जाय; परन्तु परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए इतना काफ़ी नहीं है। सर्पगन्धा से बनायी हुई दवाओं के बाहर भेजने में रोक न होने से भारतीय निर्माता किसी भी परिमाण में बाहर भेजने के प्रलोभन से वंचित न होना चाहेंगे। दूसरी बात अधिक गम्भीरता से सोचने की है। विदेशों की निरन्तर मांग की पूर्ति न की गई तो वे अपने देशों में इसके प्रतिनिधि नये पौदे तलाश

---

1. उपयोगी व्यवसाय

सहस्राणां द्विकमूलानि पौण्डमात्रमितानि च।
एकैकणभूमो हि सन्ति लभ्यानि सर्वतः ॥1॥
मुद्रात्रये च पौण्डेन मूल्यं षट्सहस्रतः।
आसाद्य लाभं, कृषकैश्च गृहारामोपवीथिषु ॥2॥
एषां कृते कृषिः शस्ता धनलाभाय पूर्णतः।
पाताले तथान्येषु देशेषु किल याञ्चतः ॥3॥
चेत्कृषिविहिता भाऽपि विंशतिवर्षं पूरणे।
द्रविणं सम्प्राप्य सर्वेऽपि मोदमानाः सदा पुनः ॥4॥

2. कृषिरावश्यकी

याञ्चा मूलभागानां भूम्ना सर्वत्र लभ्यते।
त्वरा चात्र कर्त्तव्या, नान्यथा लुप्ततां व्रजेत् ॥1॥
सामान्यावलम्बमानायां भयमस्मादुपैति हि।
प्रतिबन्धो यश्च निर्यातो केन्द्रेण विहितोऽह्यो ॥2॥
शासनेन कृतो बन्धो यश्च सौभाग्यकारक।
परमत्र विधानं हि कर्त्तव्यं पुनरन्यतः ॥3॥
अस्यामासन्नवेलायां यत्नो नैव विधीयते।
योगा उत्पन्नायां निर्माता यत्न भारतात् ॥4॥

करने में तथा संश्लिष्ट (सिन्थेटिक) निर्मितियों को प्रस्तुत करने मे अधिक तत्पर होंगे। इससे सम्भावना हूं कि सर्पगन्धा का यह महत्त्व भूत की चीज बन जाएगा। अल्प तथा दीर्घकालीन दृष्टिकोणों से इसलिए यह अत्यन्त अभीष्ट है कि नैसर्गिक स्रोतों से वर्तमान सीमित प्रदाय को बड़े पैमाने पर कृषि करके पूरा किया जाय। निरन्तर बढ़ती हुई माग की पूर्ति करने का यही एक उपाय है।

जलवायु[1] : यह पौदा गरम और नमीदार जलवायु मे पनपता है। जिन स्थानों पर यह प्राकृतिक अवस्थाओं में उगता है वहां उपयुक्त स्थलों पर, इसकी खेती सफलता के साथ की जा सकती है। यह बिल्कुल खुले खेतों में और अंशतः छायादार स्थानों में उगाया जा सकता है। जिन स्थानों पर सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध नही है यह पौदा ऊंचे या मध्यमाकार वृक्षों की छाया मे सफलता के साथ उगाया जा सकता है। इसलिए आम आदि फलों के बगीचों में इसे उगा लेना चाहिए जिससे उन भूमियो से अधिक लाभ उठाया जा सके।

उत्तर भारत में हिमालय की तलहटी मे और दक्षिण मे नमीवाले गरम प्रदेशो में यह क्षुप अच्छा पनप सकता है।

द्रव्यप्रलोभनात् सर्वे भिषजो भेषज्यकारका।
सगृद्धा' ससम्भारा: स्युर्विकलीभूतमानसा: ॥5॥
अन्यच्चिन्त्य च बाह्याना सतत तस्य पूर्तये।
विफले सकृते यत्न तत्र प्रतिनिधिगवेषणा ॥6॥
भूत्वा दत्तावधानाश्च योगान्नीत्वा पुनर्हतः।
कार्यसिद्धि विधायात्र यास्यन्ति परमास्पदम् ॥7॥
व्यासात्सूत्रस्याच्च कृषिकर्मपुरा जना:।
दत्तचित्ताश्च कुर्युर्हि विवृद्धि त्वस्न पूर्णत: ॥8॥
एक एव उपायो हि मयका चात्र प्रदर्शितः।
सुधीभिस्तु विमृश्यो हि सर्वैश्च भिषजा वरै: ॥9॥

1. जलवायु
क्षुपोऽय सर्पगन्धाख्यो ह्युष्णार्द्रकितमडले।
जलवायौ निरेति, प्रकृतावस्थासु च पुन: ॥1॥
प्राप्यस्तलेषु कर्तव्य कृषिकार्य विशेषतः।
ह्यस्योत्पादश्च शक्यस्तु स्वल्पछायेषु वै पुनः ॥2॥
उन्मुक्तेषु च क्षेत्रेषु, कुल्यान्त: जलप्लवेषु हि।
त्वभावो यत्र दृश्येत चाम्भसां हि विशेषत: ॥3॥
उपन्ते किलोच्छ्रेषु मध्यमात्राधिछायिषु।
भूमिलाभाच्च चूतादेरुद्यानेष्वशेषतः ॥4॥
भारतस्योत्तरे भागे हिमवान यत्र लक्ष्यते।
आर्द्रोष्ण प्रदेशेषु यमभागस्य भूमिषु ॥5॥
क्षुपोऽय प्राप्य तारुण्य नित्यमेव वृधायते ॥6॥

भूमि कैसी हो ?[1] : जड़ों की अच्छी वृद्धि के लिए गहरी बालू संमृदा (deep sandy loom) या बालूमय चिक्कण-संमृदा (sandy clay loom soil) सबसे अधिक अनुकूल भूमि प्रतीत होती है। चिकनी भारी जमीनें अच्छी जडो की उत्पत्ति के लिए सहायक नहीं हैं।

बीजों का अंकुरण : देश के विभिन्न भागो मे सर्पगन्धा (राउलफिया सर्पेण्टिना) की खेती के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये जा रहे है, उनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सर्पगन्धा के बीजों की अंकुरणक्षमता, जिससे बोने के लिए बीजो की आवश्यक मात्रा निश्चित होती है, के विषय मे हमे काफी जानकारी प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में जम्मू की क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला में अध्ययन किए गए है। इस अध्ययन के लिए बीजो को तीन वर्ष पुराने पौदों से इकट्ठा किया गया था। उनको धो कर हवा मे सुखाया गया था। बीजों को पानी में तिरा कर भारी और हल्की किस्मों मे छांटा गया था। उन्हे उगने के लिए प्रयोग शाला मे पेट्री डिशों में और बाहर पौधशाला की क्यारियो में बोया गया था। क्यारियों को आवश्यकतानुसार तर रखा था। जो बीज पांच महीने के भीतर उग आये थे, उनको उगने योग्य समझा गया था। एक साल बाद जो बीज उगे उनका भी लेखा रखा गया था। ये बीज भारी किस्म के थे। उन अध्ययनों मे सितम्बर, अक्तूबर और दिसम्बर महीनों में इकट्ठे किए गए बीज अलग-अलग इस्तेमाल किये गये थे।

पेट्री डिशों में उगने वाले बीजों का प्रति शत खेत में उगने वाले बीजों की अपेक्षा अधिक है। इसका कारण यह हो सकता है कि क्यारियों में कुछ बीज मिट्टी मे रहने वाले सूक्ष्म जीवों द्वारा नष्ट कर दिये जाते हो। यह बात तीनो महीनों मे इकट्ठे किये गये बीजों पर लागू होती है। मिले-जुले बीजों की बड़ी संख्या को प्रयोगशाला और खेत मे बोने पर यह पाया गया कि उनमें क्रमशः 18.6 और 10.5 प्रति शत बीज अंकुरित हुए। इससे एक और महत्त्वपूर्ण बात यह सामने आती है कि खेत मे बोने के लिए बीजो की मात्रा का अनुमान लगाते समय उनको खेत में उगा कर देख लेना आवश्यक है।

कुछ भी हो, सर्पगंधा की खेती की वढत में अभी बहुत गुंजाइश है, क्योंकि इसका न केवल हमारे देश में, बल्कि बाहर भी व्यापक उपयोग होता है।

नींद लाने वाली दवा : सर्पगंधा एक उपयोगी पौदा है। पागलपन और रक्त-दबाव की दवा के रूप मे इस पौदे ने महत्त्व प्राप्त कर लिया है। आम लोगों का ख्याल है कि उन्माद या पागलपन के रोगो में यह 'रामबाण' है और वे इसे आमतौर पर इसके लिए इस्तेमाल करते हैं। मालूम होता है कि बिहार के लोगों को इस बात का पता था

---

1. **कीदृशी भूमि**

   मूलान् साधु विवर्धनाय वसुधा।
   भाव्या हि सैकतगुणैः परिवेष्टिता च ॥1॥
   एतादृशी व्यवस्था किल प्राप्य भूमि—
   सत्पादनस्य क्षमतां नितय तनोति ॥2॥

कि इस दवा के इस्तेमाल से नींद आती है। बालक को सुलाने के लिए इस दवा को देने का रिवाज अब भी उस प्रदेश के कई स्थानों पर है। अमेरिका में जहां रक्त का उच्च दबाव दुनिया के और देशों की तुलना में सबसे अधिक है, सर्पगंधा का बहुत ज्यादा इस्तेमाल रक्त दबाव के इलाज के लिए किया जाता है।

रक्त के उच्च दबाव का उपचार : दिमाग की बहुत ज्यादा खराबी होने पर और ऊंचे रक्त दबाव के रोगियों पर सेन और बोस ने इसकी परीक्षा की। जड़ के चूर्ण की बीस से तीस ग्रेन की मात्राएं दिन में दो बार देने से केवल शामक प्रभाव देखा गया, मानी रोगी की दशा शान्त और सुधरी नजर आने लगी। बल्कि रक्त दबाव भी घट गया था। एक सप्ताह में ही रोगी फिर पहले की तरह भला-चंगा होने लगा। हालांकि जिन रोगियों की हालत ज्यादा बिगड़ी हुई होती है, उनका इलाज लम्बे समय तक चलता है। उच्च दबाव के रोगियों में इस दवा को सेन और बोस ने बहुत संतोषजनक पाया।

दवा का स्थायी प्रभाव पूरे तौर पर छः सप्ताह से कम समय मे नही प्रकट होता। एक बात यह भी है कि इस दवा के सेवन से इसकी लत पड़ने का खतरा भी नहीं रहता। कहा जाता है कि दिमागी तनाव के लिए दी जाने वाली दवाओं के सहायक के रूप में भी इसे दे सकते हैं। पता चला है कि इसके सेवन काल में अन्य किसी प्रकार की कोई गम्भीर प्रतिक्रिया भी नहीं होती।

: उन्नीस :

वन काकड़

यह तीस से सौ सेंटीमीटर ऊंचा बहु वर्षजीवी पौदा है। तने में लाल झाई होती है। जड़ें भूमि की सतह से चार सेंटीमीटर नीचे, सफ़ेदी मायल भूरे रंग की, तीन मिली-मीटर मोटी, करीब बारह सेंटीमीटर लम्बी होती है। एक ही पौदे के नीचे बहुत-सी पतली जड़ें फैली होती है। विभिन्न आकार के पत्ते पच्चीस सेंटीमीटर चौड़े, पन्द्रह सेंटी-मीटर लम्बे, लाल झाईं वाले, कम उम्र के पौदो मे स्पष्ट रुप से तीन खडो में विभक्त, बड़ी उम्र के पौदों में अपूर्ण रुप से आठ या अधिक दन्तुर खंडों मे विभक्त; पत्रवृन्त बाईस सेंटीमीटर लम्बे होते है। फूल सफ़ेद, दो सेंटीमीटर चौड़े, मई मे खिलते हैं। जुलाई में विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अपरिपक्व फल लगे होते हैं। कच्चे फल हरे, पकने पर चमकीले लाल हो जाते है। ये दो सात सेंटीमीटर लम्बे और एक से चार सेंटी-मीटर होते हैं। फल के ऊपरले पतले छिलके के अन्दर लाल गूदे मे बहुत-से छोटे बीज न्याविष्ट होते हैं। फल का वृन्त दो सेंटीमीटर लम्बा होता है।

विविध नाम : इस का फल छोटे बालम खीरे के समान होता है। हिमालय पहाड़ों की जिन ऊँचाईयो पर यह उगता है वहा मनुष्य नही रहते। पके फलो को पक्षी और भालू खा जाते हैं। उन प्रदेशों में ढोर-डगरों के साथ जाने वाले चरवाहे, बकिपाल, बकरवाल और याक पाल फलों को खा लेते हैं और बीजो को फेंक देते हैं। इस से बीजों का प्रकृति में फैलाव हो जाता है जिन मे अनुकूल समय पर पौदे उग आते हैं।

हिमालय में कही भी ककड़ी नही बोई जाती, सभी जगह खीरा बोया जाता है। पहाड़ी लोग खीरे को ही ककड़ी कहते हैं। इस पौदे के फल क्योंकि खीरे से मिलते हैं और यह जंगलो में स्वयं पैदा होता है इस लिए इसे बन ककड़ी कहते हैं। गढ़वाल-हिमालय मे इसे वण काकड़, नेपाली मे मघु कानगी, जोग खा (भूटान की भाषा) मे इमा खिस अंग्रेजी में इंडियन मे एप्पल (Indian May apple) तथा डक्'स फुट (duck's foot) कहते हैं। लेटिन में इस का नाम पोडोफ़ील्लुम हेक्साण्ड्रुम रोयल *Podophyllum hexandrum* Royle) है। पुरानी पुस्तको मे इस का लेटिन नाम पोडाफिल्लुम एमोडि वाल्लिच (*Podophyllum emodi* Wallich) लिखा जाता था।

हिमालय वासियों द्वारा यद्यपि यह जाना-पहिचाना पौदा था, फिर भी, प्रतीत होता है कि सस्कृत साहित्य मे आयुर्वेद के सस्कृत ग्रन्थो मे और जड़ी-बूटियो के गुण-दोषों को प्रतिपादित करने वाले निघटु ग्रन्थों में इस का समावेश नही हुआ। पिछले कुछ दशकों में द्रव्य गुण पर लिखी पुस्तकों मे इस का संस्कृत नाम गिरि पर्पट और वन वृन्ताक लिखा जाने लगा है। गिरि पर्पट का अर्थ पहाड़ी पित्त पापड़ा है। इस पौदे का पित्त पापड़े से कोई साम्य नही है। इस लिए मुझे यह नाम भ्रामक प्रतीत होता है। जिस विद्वान ने इस का यह संस्कृत नाम घड़ा था उस का इरादा सम्भवतः गिरि कर्कट (पहाड़ी खीरा) नाम रखा था जो शायद प्रेस की भूल से बिगड़ कर गिरि पर्पट हो गया। मेरी राय मे इसे गिरि कर्कट या गिरि त्रपुस कहा जाना चाहिए। वन वृन्ताक भी इस पौदे के लिए उपयुक्त नाम नही है, क्योंकि इस नाम से जंगली बैंगन का ग्रहण होता है।

प्राप्ति स्थान . हिमालय की भीतरी पर्वत श्रेणियो मे 2,745 मीटर से 4,270 मीटर की ऊंचाइयों पर भूटान से हज़ारा तक यह पाया जाता है। कश्मीर में 1,830 मीटर की नीची सतह तक उतर आता है।

गढ़वाल-हिमालय में मैंने यमुनोत्तरी मे वन विश्राम ग्रह के समीप सात जुलाई 1964 को और पवाली मे बीस जुलाई 1964 को वन काकड़ू के पौदे देखे थे। गढ़वाल हिमालय मे मैंने यह 2,135 मीटर से 3,660 मीटर की ऊंचाई तक देखा है। यहां पर यह खरसु (*Quercus semecarpifolia* Sm.) के बनो में अधोरोह के रूप में उग आता है।

भूटान-हिमालय मे मैंने वन त्रपुस के पौदे फ़कसोना में दारु दरिद्रा की झाड़ियों के नीचे 3,050 मीटर पर छह जून 1971 को; काले ला से ज़रा नीचे दारु हरिद्रा के झुरमुट मे 4,040 मीटर पर सत्ताईस जून 1971 को; चिले ला मे जगल की परिसीमा में छोटे बुरास की झाड़ियो में 3,822 मीटर पर तीन जुलाई 1971 को; सोमाना मे खुले ढलानों पर 3,140 मीटर पर तेईस अगस्त 1971 को; चेखा मे खुले ढलानों पर 3,735 मीटर पर इक्कीस अगस्त 1971 को और तेईस सितम्बर 1971 को देखे थे। हिमालय मे जड़ी-बूटियो की खोज करते हुए मैंने सभी जगह बन काकड़ू को दुर्लभ पौदा पाया है। कहीं-कहीं इस के इक्के-दुक्के पौदे मिल जाते थे। खुले ढलानो पर ये ऋतु जीवी पौदो के साथ उग रहे थे।

हिमालय मे खोज करते समय मैंने जड़ी-बूटियों के लगभग आठ हज़ार नमूने (हर्बेरियम स्पेसिमेन) भूटान से सग्रह किये थे। संसार भर के वैज्ञानिक इन का अधिक विशद और गहन अध्ययन कर सकें, इस उद्देश्य से मैंने इन्हें रौयल हर्बेरियम, भूटान; क्यू हर्बेरियम, लडन; बोटनिकल सर्वे ओफ़ इडिया, कलकत्ता व शिलोंग; वन अनुसन्धान शाला एव महाविद्यालय, देहरादून; रीजनल ब्रूग्स लेबोरेटरी, जम्मू; और सेंट्रल कौन्सिल फौर रिसर्च इन इंडिजिनस मेडिसिन एंड होम्योपैथी, नई दिल्ली के हर्बेरियमों

में स्थायी रूप से रखने के लिए वितरित कर दिया था। जिन जिज्ञासु पाठकों को मेरे वन काकड़ के तथा हिमालय के अन्य पौदों के नमूने देखने की अभिलाषा हो वे इन हर्बेरियमों में देख सकते हैं।

खेती : वन काकड़ के जड़ों की भारत में और बाहर के देशों में प्रचुर मांग है। जड़ों को उखाड़ने से पौदा नष्ट हो जाता है। इस की प्राकृतिक उत्पत्ति इतनी कम है कि उस से औषध-उद्योग की मांग पूरी नहीं हो सकती। इसलिए खेती करके जड़े प्राप्त करना चाहिए।

प्रयोगात्मक खेती में 610 मीटर की ऊंचाई पर नर्सरी में उठी हुई क्यारियों में नवम्बर-दिसम्बर में बीज बोये गये थे। सोलह महीने बाद बीज उगे। जुलाई में बीजजात उठाकर साठ-साठ सेंटीमीटर की दूरी पर कतारों में लगा दिये गये। पंक्तियों की आपस में दूरी पिचहत्तर सेंटीमीटर रखी गई। इन पौदों में और दो हज़ार मीटर तक की ऊंचाई पर भी बोये गये पौदों में पांच साल तक फूल नहीं आये। दो हज़ार मीटर की ऊंचाई पर अगस्त में नर्सरी में मूलस्कन्ध (र्‌हाईज़ोम्स) बोये गये। ये उन्नीस महीने बाद अंकुरित होने लगे। विभिन्न ऊंचाइयों पर बोये गये पौदों की जड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पौदे जितनी नीची सतह पर बोये गये हैं उन में क्रियाशील रेज़िन उतना ही कम होता है।

रासायनिक संघटन - इसमें पोडोफील्लिन (podophyllin), पोडोफील्लोटोक्सिन (podophyllotoxin) पाये जाते हैं। अमरीकी जड़ के मुकाबले भारतीय जड़ में कहीं अधिक क्रियाशील तत्त्व रेज़िन होता है। भारतीय जड़ में दस से बारह प्रति शत और अमरीकी जड़ में केवल चार प्रति शत निकलता है।

उपयोग : वन काकड़ की जड़ जिगर की क्रिया को उद्दीप्त करती है, पित्तसारक है और विरेचक है। इसका चूर्ण पांच से दस ग्रेन की मात्रा में खिलाते हैं। इसके प्रयोग से आंतों में मरोड़ और ऐंठन होती है, इससे बचने के लिए इस में खुरासानी अजवायन का चूर्ण मिला कर देते हैं। इस से पीले रंग के दस्त होते हैं, पित्त का निस्सरण होता है, जिगर की सोज उतरती है और उसकी क्रिया में सुधार होता है। कहा जाता है कि यह आमाशय और आंतों के कैंसर के लिए लाभदायक है।

वनस्पतियों का सर्वेक्षण करने के लिए मैंने भूटान के दूर-दराज प्रदेशों का खूब दौरा किया है। वहां 3,960 और 4,575 मीटर की ऊंचाई पर खुले ढलानों पर याकपाल सैकड़ों याकों (चंवरी गाय) के साथ विचरते हैं। वे अपनी तथा याकों की बीमारियों का इलाज स्थानीय जड़ी-बूटियों के द्वारा कर लेते हैं। वहां के लामा (धर्मगुरु) भी उन्हें शारीरिक तथा मानसिक कष्टों के निवारण में मदद करते हैं। लामाओं का निवास जोंगों (किलों) के अन्दर स्थापित मठों (गोम्पाओं) में होता है। सर्वेक्षण करता हुआ मैं इकत्तीस अक्तूबर 1971 को 4,450 मीटर ऊंचे दर्रे वाले ला को पार कर के लिङ्‌शी जोंग पहुंचा। यह 4,118 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। दो दिन से लगातार बर्फ पड़ रही थी। चारों तरफ बर्फ

ही बर्फ थी। मैं कहीं घुटने तक ऊंची और कही कमर तक गहरी बर्फ में कभी पैदल और कभी याकों पर सफ़र कर रहा था।

अगले दिन जोंग के अध्यक्ष ने मुझे दावत पर बुलाया। जोंग की चारदीवारी पर कुछ कोठरियां बनी थी। एक कोठरी में धूनी की बाजू की दीवार पर एक माला टंगी थी। मध्यम रोशनी में मुझे उस में करीब चार-पांच सेंटीमीटर बड़े मनके दिखाई दिये। उत्सुकतावश मैं माला को उतार कर बाहर प्रकाश मे ले आया। मुझे देखकर हैरानी हुई कि ये मनके इमासिस (बन काकड़ू) के लाल फल थे। पहले तो मैंने समझा कि यह भी शायद लामा के मन्त्र-तन्त्र और जप-तप मे काम आने वाले पदार्थों मे से एक होगी। परन्तु लामा ने मुझे इस का पशु-चिकित्सा मे महत्त्व बताया। लिङ्शी के आसपास हजारो याक रहते हैं। डुप्पाओं (भूटियो) की सबसे मूल्यवान् सम्पदा याक होते हैं। उनकी देखरेख में कोई कसर नहीं छोड़ते। उनकी बीमारियों के इलाज उन्होने प्रकृति में तलाश कर लिये हैं। लामा ने बताया कि जब याक (चवरी गाय) के प्रसव में कुछ गड़बड़ हो जाय तो प्रसव को शीघ्र व सुखकर बनाने के लिए बन काकड़ू के फलो को पीस कर आटे मे गूंथ कर याक को खिला देते हैं। लिङ्शी के आसपास रहने वाले याकपालो से मैंने बन काकड़ू के इस उपयोग की सम्पुष्टि भी कर ली थी।

द्रव्यगुण के ग्रंथों में मैंने बन काकड़ू का इस रूप में प्रयोग नही देखा है। याकपालों में न जाने कब से पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस का व्यवहार किया जा रहा है। अन्वेषण कार्य में रत हमारे वैज्ञानिक इस पर अनुसंधान करें तो पता नही गर्भाशय को संकुचित करने वाली एक नई चमत्कारी दवा मानव जाति के कल्याण के लिए उनके हाथ में लग जाय।

हिमालय में बसे नगरों के बगीचों में बन काकड़ू को शोभा के लिए रोपा जा सकता है।

सन्दर्भ साहित्य

अंग्रेजी

1. फ़ोरेस्ट फ़्लोरा ऑफ़ नोर्थ वेस्ट एण्ड सेंट्रल इंडिया; डी ब्रैंडिस, 1874।
2. फ़्लोरा इंडिका; विलयम रोक्सबर्घ, 1874।
3. ए डिक्शनरी ऑफ दि इकोनोमिक प्रोडक्ट्स ऑफ़ इंडिया; जौर्ज वाट, 1892-93।
4. इंडिजिनस ड्रग्स ऑफ़ इंडिया; कनाई लाल दे, 1896।
5. ए मैनुअल ऑफ़ इंडियन ट्रीज; जे. एस. गैम्बल, 1902।
6. कमर्शियल प्रोडक्ट्स ऑफ़ इंडिया; जौर्ज वाट, 1904।
7. इंडियन ट्रीज; डी. ब्रैंडिस, 1906।

8. इंडियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स; के. आर. कीर्तिकर और बी. डी. वसु, दूसरा संस्करण।
9. सिल्विकल्चर ऑफ़ इंडियन ट्रीज़; आर. एस ट्रूप, 1921-26।
10. फ़्लोरा सिमलेन्सिस; कोलेट, 1921।
11. पौयजनस प्लांट्स ऑफ़ इंडिया; राम नाथ चोपड़ा, रतन लाल बधवार और सुधामयी घोष 1949।
12. इंडिजिनस ड्रग्स ऑफ़ इंडिया; राम नाथ चोपडा 1956।
13. ग्लौसरी ऑफ इंडियन मेडिसिनल प्लांट्स; आर. एन. चोपड़ा, एस. एल. नायर और आई. सी. चोपड़ा, 1956।
14. यूस्फुल प्लांट्स ऑफ़ इंडिया एण्ड पाकिस्तान; जे. एफ़. दस्तूर।
15. दि वेल्थ ऑफ़ इंडिया।
16. ए डिक्शनरी ऑफ़ दि इकोनोमिक प्रोडक्ट्स ऑफ दि मलय पेनिन्सुला; आई. एफ बर्किल, 1935।
17. मैटीरिया मेडिका एण्ड थेराप्युटिक्स; आर. घोष।
18. मैटीरिया मेडिका एंड नेचुरल हिस्ट्री ऑफ़ चाइना; फ़्रेडरिक पोर्टर स्मिथ।
19. फ़ौरेस्ट फ़्लोरा; डी. ब्रैंडिस, 1875।
20. फ़्लोरा ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया; हूकर, 1875-76।
21. मेडिसिनल प्लांट्स; रौबर्ट बेन्ट्ले एंड हेनरी ट्रीमेन।
22. दि बौम्बे फ़्लोरा; थियोडोर कुक, 1903।
23. हौब्सन जौब्सन; हेनरी यूल एंड बुर्नेल, 1903।
24. कर्माशियल गाईड टु दि फ़ौरेस्ट इकोनोमिक प्रोडक्ट्स ऑफ़ इंडिया; आर. एस. पियर्सन, 1918।
25. फ़्लोरा ऑफ़ दि मलय पेनिन्सुला; हेनरी एन. रीड्ली, 1922।
26. इंडियन मैटीरिया मेडिका; के. एम. नादकरणी, 1954।
27. ट्रीज ऑफ़ कलकत्ता एण्ड इट्स नेबरहुड; ए. पी. बेन्थौल।

संस्कृत, हिन्दी, अन्य भाषाएं :

1. सुश्रुत संहिता; मोती लाल बनारसी दास, 1950।
2. चरक संहिता; जयदेव विद्यालकार, 1960।
3. राज निघण्टु; आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1925।
4. धन्वन्तरि निघण्टु; आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1925।
5. भाव प्रकाश; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1961।
6. मदन पाल निघण्टु; वेंकटेश्वर प्रेस, 1939।
7. कैयदेव निघण्टु; मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1928।

8. द्रव्य गुण विज्ञान; यादव जी त्रीकम जी, 2007 विक्रमी।
9. योग रत्नाकर, मोतीलाल बनारसी दास, 1988 विक्रमी।
10. भैषज्य रत्नावली; जयदेव विद्यालंकार, 1932।
11. भारतीय वनौषधि (बंगला), कालीपद विश्वास और एककोरी घोष।
12. अष्टांग संग्रह।
13. चक्रदत्त; सदानन्द, सम्वत् 1988।
14. वंग सेन संहिता; नवल किशोर प्रेस, 1904।
15. अष्टांग हृदय; निर्णय सागर मुद्रणालय, 1939।
16. रसेन्द्र सार संग्रह; विद्याधर विद्यालंकार, 1936।
17. काश्यप संहिता; चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, 1953।

पारिभाषिक शब्दावली

अकुर (Sprout)
अडाकार (Ovate)
अंडाकृति (Oval)
अतर्निहित (Inherent)
अंतस्त्वक (Endoderm)
अंतःकाष्ठ (Heart Wood)
अक्ष (Axis)
अजीर्ण (Indigesion)
अतिसार (Diarrhea)
अधिमूल (Taproot)
अनावृत (Open Air)
अनियमित (Irregular)
अनुष्ठान (Ritual)
अनुपात (Proportion)
अनुसंधानशाला (Research Institute)
अपरिपक्व (Premature)
अभ्रक (Mica)
अमाशय (Gastric)
अम्ल (Acid)
अर्द्धकोणायित (Semi-Angular)
अर्द्धविभक्त (Semi-Split)
अर्द्धसम्मुख (Semi-Frontal)
अर्बुद (Tumour/Caner)
अलौकिक (Supernatural)
अवृंतक (Sessile)

आकृति (Figure)
आक्रात (Ingressed)
आर्द्र (Damp, Wet)
आसुत (Distilled)
औषधि (Drug)
औसत (Average)
औसत वार्षिक पैदावार (Average annual yield)

इन्द्रिय (Sense)
ईथर (Ether)

उत्तरायण (Solistice)
उदर (Abdomen)
उद्भूत (Relievo)
उद्यान (Garden)
उद्दीपक (Stimulant)
उपचार (Treatment)
उपस्कर (Equipment)
उपदंश (Syphilis Gonorrhoe)
उपयोगिता (Utility)
उभयलिंगी (Bisexual)

ऊर्ध्वतम (Uppermost)

कण (Granule)
काढ़ा (अर्क) (Infusion)
कीटनाशक (Insecticide)
कीटफल (Gall)
कुपथ्य (Indigestion)
कुष्ठरोग (Leprosy)
कृमि (Helminth)
क्वाथ (Decoction)

खनिज (Mineral)

गठिया (Rheumatism)
गर्भपात (Abortion)
गिरी (Kernel)
गुदा (Anus)
ग्रंथि (Gland)
ग्रंथिल (.Glandular)
ग्रेड बनाना (Gradind)
गोंद (Gum)

घुलनशील (Soluble)

चर्म (Skin)
चिकित्सक (Physician)
चूना (Lime)
चूर्ण (Powder)

जठराग्नि (Gastric Acid)
जननशक्ति (Reproduction power)
जलोदर (Ascitis)
जाति (Species)
ज्वर (Fever)

टीकाकार (Commentator)

टैनीन परिमाण (Tanin)

तंत्रियां (Nerves)
ताम्र (Copper)
तिर्यक (Oblique)
तिल्ली (Spleen)
त्रिदोष (Tridosh)
त्वक (Cutaneous)
त्वचा (Skin)

देशीय (Native/Indigenous)
द्वीपपुंज (Archipelago)

धात्विक लवण (Metallic Salt)

नाभि (Umbilicus)
निक्षेप (Deposit)
नियमन (Regulation)
नियति (Destiny)
निवारण (Prevention)
निस्यंदन (Filteration)
निस्सार (Extract)
नैसर्गिक (Natural)

पतनशील पत्तोंवाला (Deciduous)
पक्षाघात (Hemiphegia)
परिगणना (Enumeration)
परिधि (Periphery)
परिपक्वता (Maturation)
परिरक्षी (Preservative)
परीक्षण (Test)
पर्णक (Leaflet)
पर्णपाती (Deciduous)
पाण्डुता (Pallor)

पारदर्शक (Transparent)
पार्श्व (Flank)
पित्त (Bile)
पुसत्व (Masculinity/Virilism)
पुष्पदल (Flowerspray)
पुष्पक्रम (Inflore-sence)
पूर्णपक्व फल (Matured Fruit)
पेचिस (Dysentery)
पोषिता पादप (Host Plant)
पौराणिक (Mythological)
प्रक्रिया (Process)
प्रजनन (Reproduction)
प्रतिकारक (Antidote)
प्रथा (Custom)
प्रतिनिधि (Representative)
प्रतिपादन (Expositior)
प्रतिशतता (Percentage)
प्रयोगविधि (Instruction for use)
प्रलय (Annihilation)
प्रसाधन (Decoration)
प्रामाणिक (Authentic)
प्रायद्वीप (Peninsula)
प्लीहा (Spleen)

फलभित्ति (Pericarp)
फीलपाव (Elephantiasis)

बल्य (Tonic)
बांझ (Sterile)
बीजपत्र (Cotyledon)

भस्म (Ash)

मड (Starch)
मज्जा (Marrow)
मधु (Honey)
मधुमेह (Diabetes)
मध्यपसली (Central Rib)
मात्रा (Quantity)
मिलावट (Adulteration)
मिश्रण (Blending)
मुख्य वाह्य नाड़ियां (Main external Vessels)

यकृत (Liver)

रंजक (Dye)
रक्तवाहिनी (Blood Vessel)
रश्मि (Rays)
रासायनिक सघटन (Chemical composition)
रेचक (Purgative)
रोपण (Plantation)

लक्षण (Symptom)
लवण (Salt)
लोकविश्वास (Folk Belief)

वन सेवा (Forest Service)
वनस्पति शास्त्र (Botany)
वमन (Vomiting)
वलय (Ring)
वानस्पतिक (Botanic)
वार्षिक चक्र (Annual Cycle)
विचारधारा (Ideology)
विरेचन (Purgation/Catharsis)
विशुद्धता (Purity)
विश्लेषण (Analysis)

विसर्पण (Creeping)
विस्तीर्ण (Extensive)
वीर्यरोग (Spermatorrhoea)
वृक्क (Kidney)
व्रण (Boil)

शर्करा (Sugar)
शाखा (Branch)
शामक (Tranquiliser)
शुष्क प्रदेश (Dry Land)
शोथ (Inflammation)
श्लेष्मी (Mucus)
श्वाससहति (Asthma)

सक्षारी (Corrosive)
संग्रह (Storage)
संग्राही (Repertory)
संस्कृति (Culture)

संरक्षण (Conservation/ Protection)
सन्निपात (Coma)
सर्पदंश (Snake-bite)
सर्पी (Spiral)
सहवास (Co-habitation)
सामरिक (Strategic)
सोडियम हरित (Sodium Chlorophyll)
स्नेहन (Lubrication)
स्वरयन्त्र (Soundbox/ Larynx)
स्वेदन (Sweating)

श्रेणीकरण (Ranking)

क्षयरोग (Tuberculosis)

लगभग आधी शताब्दी से रामेश वेदी जड़ी-बूटियों पर खोजपूर्ण लेख लिखते रहे हैं। प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। जड़ी-बूटियों की खोज में उन्होंने दुर्भेद्य जंगलों का अवगाहन किया है। हिमालय की दुर्गम घाटियों और दुर्लंध्य पर्वतों पर अनेक यात्रायें की है। युनेस्को द्वारा आयोजित जड़ी-बूटियों की गोष्ठी मे अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ की हैसियत से भाग लिया है। भारत के हर्बल एक्सपीडीशन के लीडर के रूप में भूटान के अछूते जंगलों मे जड़ी-बूटियों का सर्वेक्षण किया है। उनके द्वारा संग्रहीत जड़ी-बूटियो के दुर्लभ और अनमोल नमूने भारत के विभिन्न हर्बेरियमों तथा लण्डन के क्यू हर्बेरियम मे रखे गये है जिनकी संख्या लगभग आठ हजार है। भारत सरकार के स्वास्थ्य-मन्त्रालय में श्री वेदी 1960 से 1973 तक जड़ी-बूटियों के अध्ययन और खोज से सम्बद्ध रहे हैं।